

समिकत का बीज

श्रीमद् राजचंद्र पत्रांक 333, 334, 335, 416, 466, 467, 504, 522, 674, 679, 756 पर पूज्य भाईश्री शशिभाई के प्रवचन

प्रवचन-01, पत्रांक-504

(श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-५०४), पत्र का विषय है कि सर्वज्ञदेव को भी सम्यग्दृष्टि रूप से पहचानना पड़ता है। इसका अर्थ क्या होता है? क्योंकि सर्वज्ञ है वह वीतराग है, वीतराग को कोई राग की चेष्टा वाली प्रवृत्ति नहीं होती। संपूर्ण वीतराग है, कोई राग की क्रिया उनके मन-वचन-काया में नहीं है। आत्मा में राग नहीं है वैसे ही मन-वचन-काया की कोई क्रिया भी राग के निमित्त से हो ऐसी कोई क्रिया उनकी नहीं है। तेरहवें गुणस्थान में, शुक्लध्यान में-उत्कृष्ट शुक्लध्यान की स्थिति में बिराजते है। ऐसी स्थिति होने के बावजूद भी जीव को पहचान नहीं होती है, उसका क्या कारण है?

सम्यग्दृष्टि और मुनि को राग का अंश है। तीन सजीवनमूर्ति हैं-एक वीतराग सर्वज्ञदेव, एक निर्ग्रंथ मुनिराज आचार्य, उपाध्याय, साधु कोई भी और एक ज्ञानीपुरुष गृहस्थ हो, कोई भी दशा में हो, क्या? गृहस्थ भी हो सकते हैं और त्यागी भी हो सकते हैं तो भी वे चतुर्थ गुणस्थान में है। नीचे के दोनों मोक्षमार्गी धर्मात्माओं को राग का अंश होने से राग निमित्तिक बाह्य क्रियाएँ मन-वचन-काया के योग में स्पष्ट रूप से दिखने में आती है। इस कारण से तो जीव शंका करता है कि पूर्ण वीतरागता का जो उपदेश देते हैं, उनको भी अभी राग क्यों होता है? अर्थात् वे राग क्यों करते हैं? ऐसा लेते हैं। शंका करने वाला क्या विचारता है? स्वयं कर्ता होकर राग करता है न? तो वे राग क्यों करते हैं? होता है ऐसा नहीं लेता है, अपनी दृष्टि से उन्हें नापता है इसीलिये पहचान होती नहीं है।

ज्ञानी हो या मुनिराज हो, उनको राग के निमित्त से मन-वचन-काया की बाह्य क्रिया होती है और वह संसारी जीव को जानने मिलती है। उसे पहचान नहीं होने का कारण यह है कि अपने नाप से नापता है, अपनी दृष्टि से नापता है कि मैं राग करता हूँ वैसे वे भी राग करते हैं। मुझे भूख लगती है तब मैं खाना माँगता हूँ और खाता हूँ। वैसे उनको भी भूख लगती है तब वे भी खाने के लिये प्रवृत्ति करते हैं। मैं प्रवृत्ति करता

हूँ, वैसे वे भी प्रवृत्ति करते हैं। वीतराग को तो कुछ नहीं है। वीतराग को आहार-पानी नहीं है, निद्रा नहीं है, प्यास नहीं है-तृषा नहीं है, रोग नहीं है, कोई दवा नहीं है, कुछ नहीं है, क्या? संपूर्ण रूप से निरंतर शुक्लध्यान में बिराजते हैं। इसीलिये उनको राग क्यों होता है ऐसी शंका करने का वहाँ कोई अवकाश नहीं है। फिर भी यह जीव समवसरण में अनंत बार जाने के बाद भी उनको पहचान नहीं सका है। पहचाने तो प्रथम समिकत हो जाता है, तो उसका क्या कारण है? अथवा पहचान कहाँ से होती है और कैसे होती है? और नहीं होती है उसका कारण क्या? यह तो अपना ही भूतकाल है कि हम अनंतबार समवसरण में गये हैं और भगवान को हमने पहचाना नहीं है, तो क्यों पहचाना नहीं? इस सम्बन्धित थोड़ा सूक्ष्म विषय इस पत्र में प्रतिपादित किया है। मुझे लगता है हमने एक बार भी स्वाध्याय में नहीं पढ़ा है, प्रथम बार लेते हैं न? थोड़ा समझने जैसा विषय है। नये-नये पत्र इसीलिये लेते हैं कि कृपालुदेव ने बहुत विषय अपने पत्रों में समाविष्ट किये हैं, बहुत-बहुत बातें समाविष्ट की है, क्या? जो मुमुक्षु को उपयोगी हो ऐसी। यह थोड़ा पत्र के विषय के अनुसंधान में (लिया है)।

'मन का, वचन का तथा काया का व्यवसाय...' व्यवसाय यानि व्यापार, परिणाम। 'जितना चाहते हैं, उसकी अपेक्षा इस समय विशेष रहा करता है।' यह अपने विषय में कृपालुदेव लिखते हैं, २७वाँ वर्ष है। मुंबई में व्यापार-धंधे के बीच बैठे हुये दिखाई देते हैं। अब अपने परिणामों की बात करते हैं, हमारे मन का, वचन का और काया के परिणामों को हम चाहते हैं उसकी अपेक्षा व्यापार विशेष वर्तता है यानि बहुत हो रहा है। 'और इसी कारण से आपको पत्रादि लिखना नहीं हो सकता है।' और फुर्सत मिलती नहीं है और काम का बोझ बहुत उठाते हैं। एक काम करते हो तो और दूसरे तीन काम आ जाये, वह पूरा करे उतने में दूसरे काम आ जाये। किसी के साथ बातचीत करना, पत्र व्यवहार करने का समय मिलता नहीं है।

'व्यवसाय के विस्तार की इच्छा नहीं की जाती है,..' हम नहीं चाहते हैं कि हमारा व्यापार बढ़े, धंधा बढ़े ऐसा हम नहीं चाहते। क्योंकि फुर्सत तो मिलती नहीं है, इतना है, व्यापार भी बहुत बढ़ गया है, क्या? इसीलिये चाहते नहीं है। 'फिर भी वह प्राप्त हुआ करता है।' फिर भी लोग सामने से व्यापार-धंधा करने के लिये आते हैं।

कमीशन के काम बहुत थे, आता ही रहे। और एक बार व्यापार में अच्छी आबरू हो, प्रमाणिकता की आबरू हो तो लोग काम करना चाहते हैं। यह बहुत स्वाभाविक है, विश्वास से काम करते हैं।

'और ऐसा लगता है कि और व्यवसाय अनेक प्रकार से वेदन करने योग्य है, कि जिसके वेदन से पुनः उसका उत्पत्ति योग दूर होगा, निवृत्ति होगा।' और स्वयं के ज्ञान में ऐसा आता है कि ये जो पूर्वकर्म का उदय है, वह लाने से आते नहीं, दुकान लगाकर बैठे हो और ग्राहक आये तो बुलाने पर आते हैं ऐसा तो नहीं है, बुलाने पर नहीं आये और नहीं बुलाने पर भी भीड़ आती है। बाजार में हम लोग देखते हैं कि आजू-बाजू में दो दुकान एक ही लाईन की हो। एक के यहाँ भीड़ हो और दूसरा हवा खाता हो, (ग्राहक को) बुलाये तो भी न आये। उसका भी पूर्वकर्म है और इसका भी पूर्वकर्म है। एक भी दाम में नंबरी चीज दोनों बेचते हो, उसमें तो कहीं ठगने की बात नहीं है। फिर भी एक यहाँ भीड हो और भीड में खड़े रहकर भी लोग लेते है और दूसरा खाली बैठा हो तो भी न ले। पूर्वकर्म का उदय होता है। इस प्रकार (यहाँ कृपालुदेव को) ख्याल आता है कि ये जो काम की भीड है वह पूर्वकर्म का उदय है। पूर्व में हमने ही ऐसे कोई विचार किये हैं, ऐसे विकल्प किये हैं कि इस तरह व्यापार बढ़े तो अच्छा, भले ही अज्ञान दशा में किये हो, क्या?

उनके कुटुम्ब का इतिहास ऐसा है कि पिताश्री रवजीभाई पंचाण और उनके चार-पाँच भाई थे। और उनके पिताश्री यानि कृपालुदेव के grandfather कुछ अच्छी स्थिति में थे। उन दिनों में यहाँ नहीं रहते थे, ववाणिया में नहीं रहते थे, मोरबी रहते थे और चार-पाँच भाईओं के बीच जो कुछ साझे का बँटवारा करना था वह कर दिया। उस वक्त स्थिति कुछ अच्छी थी। कुछ कम-ज़्यादा मिले ना? भाईयों के बीच बँटवारा हो उसमें सब को समान मिले ऐसा कुछ नहीं है, उसमें भी पूर्वकर्म अनुसार किसी को कम मिलता है और किसी को ज्यादा मिल जाता है। इनको कुछ injustice (अन्याय) भी हुआ होगा, वह बनने योग्य है, क्या? कुछ भी हो लेकिन उन्होंने ऐसा विचार किया कि ववाणिया बंदर है, उस वक्त समुद्र ववाणिया तक था, कच्छ का जो समुद्र है, कच्छ की खाड़ी, वह ववाणिया तक था। और जो बड़ा बारीश का तुफान हुआ, उस

वक्त भी ववाणिया तक पानी आ गया था, क्या? अभी समुद्र थोड़ा दूर है लेकिन उस वक्त वह बंदर था, ववाणिया बंदर कहलाता था। यानि बंदर का व्यापार अच्छा चलता है और समीप है तो हम ववाणिया चले जाते हैं। अतः रवजीभाई और उनका जो कुटुम्ब है वह ववाणिया चले आये। बंदर बंद हो गया और व्यापार धारणा अनुसार नहीं चला। लेकिन ऐसा ही कोई पूर्वकर्म का उदय होगा इसीलिये सँकरी आर्थिक परिस्थित में उनका कुटुम्ब आ गया था। दो भाई और तीन बहनें, इस तरह रवजीभाई का अपना परिवार भी सात-आठ सदस्यों का था। अतः उन दिनों में कृपालुदेव को बचपन में ऐसे विचार भी आये हो कि शिक्षा खत्म करके व्यापार-धंधे में अच्छी कमाई करेंगे। चाहे जैसे, ऐसा विकल्प आया होगा। बचपन से आत्म कल्याण संबंधी अन्य विचार बहुत अच्छे थे। फिर भी उदय के हिसाब से ऐसे विचार भी आये होंगे। इन लोगों को तुरन्त फलीभूत होते हैं। इसीलिये ज्ञानदशा में वह सब स्थिति संक्रमित हो जाती है। उदय आने लगता है। इसीलिये उनका व्यापार बहुत बढ़ गया होगा। नहीं चाहते हुये भी बहुत व्यापार बढ़ गया होगा।

अब ज्ञानदशा है इसीलिये क्या विचार करते हैं? कि ठीक है। कभी हमने ही ऐसे विकल्प किये है, तो उस व्यवसाय को, इस उदय को सम्यक् प्रकार से वेदन करने में आये, 'वह व्यवसाय अनेक प्रकार से वेदन करने योग्य है,..' अनेक प्रकार से यानि क्या? सम्यक् प्रकार से समझकर, आगे-पीछे की समझ रखकर कि जिसके वेदन से अर्थात् जिसके अनुभव से 'उसका उत्पत्ति योग दूर होगा,..' फिर से वह बँधेगा नहीं। इस तरह यदि उस उदय में से गुजर जाये, अब तो बहुत ज्ञानदशा है तो वह 'निवृत्त होगा।' यानि पुनः उस प्रकार का उदय नहीं आयेगा। अतः जो एक कर्ज किया था वह चूकता हो जायेगा।

मुमुक्षु:- निर्जरा?

पूज्य भाईश्री:- निर्जरा हो जायेगी, चूकता हो जायेगा। इस प्रकार स्वयं विचारते हैं।

'कदाचित् बलवान रूप से उसका निरोध किया जाये तो भी उस निरोध रूप क्लेश के कारण आत्मा आत्म रूप से विस्नसा परिणाम की तरह परिणमन नहीं कर सकता, ऐसा लगता है।' अब स्वयं क्या कहते हैं? कि कोई-कोई जीव बलवान रूप से उसका निरोध करते हैं यानि अटकाते हैं। अब क्या है कि या तो उदय को आप सम्यक् प्रकार से वेदन करो या तो बलवान रूप से उसको अटकाओ, हठ करके कि ये धंधा छोड़ दिया, हम तो भागे, आप का जो होना होगा, सो होगा।

मुमुक्षु:- वह भी कर्म के उदयाधीन तो होता ही है, फिर कैसे समझना?

पूज्य भाईश्री:- कर्म के उदय के आधीन होता है परन्तु विकल्प दो तरह के आते हैं। एक समपरिणाम से वेदन करने का, और एक वह प्रवृत्ति छोड़ने का। अर्थात् प्रवृत्ति करते-करते सम परिणाम रखने का और वह प्रवृत्ति छोड़ देने का विकल्प आये। जब प्रवृत्ति छोड़नी हो तब बल चाहिये। आपको धंधा छोड़ना हो या घर छोड़ना हो तब आप के अन्दर बल हो तो हो सके, उसके लिये बलवान परिणाम चाहिये। क्यों? कि आपको प्रतिकूल संयोगों का सामना करने की बारी आयेगी। बराबर है?

यदि बलवान रूप से 'उसका निरोध किया जाये तो भी उस निरोध रूप क्लेश के कारण...' अब उसमें क्या होता है कि थोड़ा द्वेषभाव होता है। जब आये हुये उदय का कोई हठ से त्याग करता है, तब उसमें थोड़ा द्वेष मिला हुआ होता है। नापसंदगी, उदय प्रति की नापसंदगी। समपरिणाम में राग भी नहीं है और द्वेष भी नहीं है। अतः समपरिणाम रखना वह उसका उत्कृष्ट उपाय है। अब जब त्याग करता है तब द्वेषपूर्वक जो त्याग होता है वह द्वेष है वह जीव का क्लेश है, आकुलता है।

'उस निरोध रूप क्लेश के कारण आत्मा...' स्वयं का आत्मा 'आत्मरूप से...' यानि आत्मभाव से 'विस्नसापरिणामी...' अर्थात् स्वाभाविक परिणाम, (ऐसे) परिणाम रूप 'परिणमन नहीं कर सकता,..' इसीलिये क्या होता है कि जब उस तरह हठ से त्याग किया हो तब परिणाम थोड़े बिगड़ते हैं, खिँचाते हैं। क्यों? कि वीतरागभाव से-समपपरिणाम से वेदन करने की शक्ति नहीं थी इसीलिये त्याग करके वेदन करे, थोड़ी

नापसंदगी से द्वेष हुआ है इसीलिये जो स्वाभाविक परिणाम, समपरिणाम रहने चाहिये वह त्याग के बाद नहीं रहते। ऐसा बन जाता है।

मुमुक्षु:- बलवानपना है उसे द्वेष की पर्याय कहेंगे?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, उसमें क्या है कि वीर्यगुण की पर्याय है, उसके अन्दर जोर है परन्तु सम्यक् प्रकार नहीं है, स्वाभाविक प्रकार नहीं है। स्वाभाविक प्रकार में हठ नहीं होती, कृत्रिमता नहीं होती।

मुमुक्षु:- ज्ञानी होने के बावजूद?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, ज्ञानी होते हैं वे हठ करते ही नहीं, ज्ञानी हठ नहीं करते। परन्तु स्वयं क्यों स्पष्टता करते हैं? कि सामने जो मनुष्य पत्र पढ़ने वाला है उसे ऐसा लगेगा कि तो फिर छोड़ क्यों नहीं देते? जब आप बारंबार ऐसा विचार करते हो कि यह व्यवसाय इच्छनीय नहीं है, यह प्रवृत्ति करने योग्य नहीं है। तो फिर त्याग क्यों नहीं करते? छोड़ दो न भाई, आपको कौन रोकता है? ऐसा। यह प्रश्न सामान्यतः सब को उत्पन्न होता है कि ये छोड़ क्यों नहीं देते? क्यों त्याग नहीं करते? संसार में रहते ही क्यों है? व्यापार में, घर में क्यों रहते हैं? अब जब ज्ञान हो गया है तो फिर त्याग करने में दिक्कत क्या है? चाहे जो परिस्थिति उत्पन्न हो। तब उसमें भी ज्ञानी अपनी शक्ति देखकर कदम रखते हैं, त्याग करे तो भी, ताकि उनके परिणाम बिगड़े नहीं, हठ से नहीं करते। और यदि हठ से और द्वेष से, नापसंदगी से किया हो तो परिणाम बिगड़े बिना नहीं रहते। और यह स्वयं को ज्ञात है और ज्ञान होता भी है। क्या?

ये तो आचरण के अन्दर विवेक कैसे होता है उसकी सूक्ष्मता है, क्या? बाकी तो जगत में त्याग बहुत लोग करते हैं, इसीलिये उसमें थोड़े ही निर्जरा हो जाती है। त्याग करने से निर्जरा नहीं होती, परिणाम से बन्ध है और परिणाम से निर्जरा है। क्या?

इसीलिये 'आत्मा आत्मरूप से विस्नसापरिणाम की...' विस्नसापरिणाम यानि स्वाभाविक परिणाम की 'तरह परिणमन नहीं कर सकता, ऐसा लगता है।' ऐसा स्वयं समझते हैं। 'इसीलिये उस व्यवसाय की अनिच्छा रूप से जो प्राप्ति हो, उसे वेदन

करना,..' इच्छा नहीं है फिर भी व्यवसाय आ पड़े तो उसे वेदन करना, सम्यक् प्रकार से अनुभव करना। 'यह किसी प्रकार से विशेष सम्यक् लगता है।' क्या कहा? यह प्रकार हमें विशेष सम्यक् लगता है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, मुमुक्षु को यह बात लागू होती है?

पूज्य भाईश्री:- मुमुक्षु के पास सम्यक् नहीं है। परन्तु जिसको सम्यक् है उसे सम्यक् वीर्य है, सम्यक् पुरुषार्थ है। उसके पास सम्यक् पुरुषार्थ है लेकिन वह पर्याप्त पुरुषार्थ नहीं है इसीलिये वे स्वयं ग्रहण-त्याग में ऐसा विवेक करते हैं।

मुमुक्षु की भूमिका में भावना का बल है और सत्संग का बल है, दो बल है। प्राप्त सत्संग, यथार्थ प्राप्त सत्संग हो तो उसका बल होता है उसके परिणाम में और एक स्वयं की यथार्थ भावना का बल होता है। और उस बल में भी वह इसी प्रकार से विवेक करता है, जिस प्रकार ज्ञानी विवेक करते हैं उसी प्रकार से। ना ही अणगमा से, द्वेष से, हठ से त्याग करता है, ना ही उदय आये उसके अन्दर रस ले ले।

मुमुक्षु:- विशेष सम्यक् लगता है यानि क्या?

पूज्य भाईश्री:- यानि अधिक ठीक लगता है। हम ऐसा कहते हैं न कि comparatively यह ज्यादा ठीक लगता है। इसीलिये ज्ञानी त्याग करे तो भी सम्यक् है और त्याग न करे तो भी सम्यक् है। अब, हमारी स्थिति में हमें, दो में से यह अधिक सम्यक् लगता है, Comparative बात है। इतनी बात उन्होंने अपने परिणमन की कही है। अब जो विषय है, इस पत्र का जो विषय है और हमने जो पहले विचार किया कि क्यों वीतराग की पहचान नहीं हुयी, वह बात लेते हैं।

'किसी प्रगट कारण का अवलम्बन लेकर, विचारकर परोक्ष चले आते हुये सर्वज्ञपुरुष को मात्र सम्यक्दृष्टि रूप से भी पहिचान लिया जाये तो उसका महान फल है, और यदि वैसे न हो तो सर्वज्ञ को सर्वज्ञ कहने का कोई आत्मा संबंधी फल नहीं है, ऐसा अनुभव में आता है।' अब क्या है कि अभी सर्वज्ञ परमात्मा प्रत्यक्ष बिराजमान नहीं है। २५०० वर्ष हो गये वीतराग का जमाना पूरा हो गया। वह period ही पूरा

खत्म हो गया, अब कोई केवली होते नहीं। बराबर? परन्तु उनको पहचानने का कोई निमित्त, प्रगट निमित्त अभी दो होते हैं-एक जिन प्रतिमा, वह सर्वज्ञ को पिहचानने का प्रगट निमित्त है। क्योंकि 'जिन प्रतिमा जिन सारखी'। जैसे जिनेन्द्र हैं वैसी ही जिन प्रतिमा है। क्या? अथवा उस संबंधी जो वर्णन श्रुत में होता है यानि शास्त्र में होता है वह भी उसका कारण है। सर्वज्ञ का स्वरूप पहचानने में वह कारण है, दो कारण है। एक जिनप्रतिमा और एक उनकी वाणी जो है वह। फिर ज्ञानी की वाणी हो, मुनि की आचार्य की वाणी हो, अथवा कोई भी हो, उसमें जिनेन्द्र भगवान का वर्णन आता है कि जिनेन्द्र तो ऐसे होते हैं, जिनेन्द्र वीतराग तो ऐसे होते हैं। वीतराग तो १८ दोष रहित (होते हैं)। सत्देव कैसे होते हैं? वीतरागदेव कैसे होते हैं? कि १८ दोष रहित। नियमसार में है। अपने नियमसार में वह विषय चल गया कि १८ दोष रहित सर्वज्ञ कैसे होते हैं। क्या? तो वह प्रगट कारण है। प्रगट यानि हमारे सामने कारण प्रगट है। प्रतिमाजी भी प्रगट है और शास्त्र भी प्रगट है।

उसका अवलम्बन लेकर यानि उसके द्वारा, उनके अवलम्बन द्वारा उनका विचार करके-सर्वज्ञ के स्वरूप का विचार करके 'परोक्ष चले आते हुये सर्वज्ञपुरुष को...' परोक्ष यानि भूतकाल में हो गये हो कि वीतराग ऐसे हो गये। अभी तक अनंत वीतराग हुये वे सब ऐसे हुये। वे वीतराग परोक्ष रूप से चले आते हैं। वर्तमान में महाविदेह में है और भविष्य में भी ऐसे ही वीतराग होते रहेंगे। ऐसे 'चले आते हुये सर्वज्ञपुरुष को मात्र सम्यग्दृष्टि रूप से भी पहिचान लिया जाये तो उसका महान फल है,...' अब यहाँ थोड़ा विचारणीय विषय क्या है? कि उन वीतराग को हम वीतराग रूप से पहचान नहीं पाये। क्यों? रागरहित उनकी क्रिया है तो भी हम पहचान नहीं सके। प्रतिमा में राग होने की क्या क्रिया है? कोई नहीं है। वह तो, जैसे भगवान ध्यानस्थ हैं वैसे प्रतिमा भी ध्यानस्थ है। इसीलिये दोनों मानो कि 'जिनप्रतिमा जिन सारखी' जैसे जिन हैं वैसी ही जिन प्रतिमा है, बराबर? तो भी हम पहचान न सके।

बाह्यदृष्टि में तो राग की क्रिया निमित्तक जो कुछ मन-वचन-काया की (क्रिया हो) वह शंका का कारण होती है। यहाँ तो वह है नहीं। इसीलिये पहचानने में वह काम में नहीं आता है ऐसा कहते हैं। क्योंकि उसमें बाह्य दृष्टि apply होती है। उसमें क्या

होता है? बाह्य दृष्टि apply होती है। कि इनको तो कोई राग की क्रिया नहीं है इसीलिये वीतराग है। ऐसा नहीं है, क्या?

पहचानने के लिये पहचान सम्यक्त्व से होती है ऐसा कृपालुदेव को ध्यान खींचना है। क्या ध्यान खींचना है? कि पहचानने के लिये, पहचान की जो क्रिया है वह सम्यक्त्व से होती है, अन्य प्रकार से नहीं होती। जो मुख्य बात करनी है वह यह करनी है। क्या? चाहे सम्यग्दृष्टि को पहचानो, चाहे मुनिराज को पहचानो, चाहे आप वीतरागदेव को पहचानो। पहचान सम्यक्त्व से होती है। अतः सम्यग्दर्शन क्या है यह समझना चाहिये। यदि आप सम्यग्दर्शन को समझ नहीं सकते तो आप साधक धर्मात्मा ऐसे सम्यग्दृष्टि और साधक धर्मात्मा ऐसे मुनिराज को तो आप पहचान ही नहीं पाओगे, लेकिन वीतराग को भी नहीं पहचान पाओगे। क्यों? क्योंकि सम्यक्त्व को पहचानने के लिये अंतरदृष्टि चाहिये।

मुमुक्षु:- यदि बाह्यदृष्टि से पहचान होती हो तो सब लोग ने पहचान लिया होता।

पूज्य भाईश्री:- तो समवसरण में जितने जीव गये उन सबने वीतराग परमात्मा सर्वज्ञदेव को पहचान लिया होता। क्योंकि उसमें तो शंका करने का कोई अवकाश ही नहीं है। उनकी जो स्थिति है-अंतरबाह्य स्थिति है, उसमें कोई scope ही नहीं है, ऊँगली रखने की जगह ही नहीं है कि ऐसा क्यों? Pointout करने की कोई जगह नहीं है कि ऐसा क्यों? ऐसे पहचान नहीं होती। और हम लोग अनंतबार समवसरण में जाकर आये हैं और पहचाना नहीं है।

अतः कृपालुदेव ने मुद्दा उठाया है कि सर्वज्ञ को भी मात्र सम्यग्दृष्टि रूप से पहचाने तो उसका बहुत महान फल है अर्थात् आपको प्रथम समिकत होता है। 'और यदि वैसे न हो...' और वैसा न हो तो 'सर्वज्ञ को सर्वज्ञ कहने का...' अथवा सर्वज्ञ को सर्वज्ञ रूप से भजने का 'आत्मा संबंधी कोई फल नहीं है,..' हमें 'ऐसा अनुभव में आता है।' यह अपने अनुभव की बात करते हैं। स्वयं को जातिस्मरण था। स्वयं को भी ख़याल है कि परिभ्रमण में अनंतबार समवसरण में जाकर आये हैं। कोई द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव पंच परावर्तन में बाकी नहीं रखे हैं। अनंतबार सब हो चुका है, उसमें

समवसरण भी अनंतबार आ गया कि नहीं आया? आ गया। एक तो वह बात हुयी वर्तमान परिस्थिति की, परोक्ष सर्वज्ञ भगवान की बात हुयी।

अब 'प्रत्यक्ष सर्वज्ञपुरुष को भी...' अब समवसरण में भगवान सामने बिराजते हो, सजीवनमूर्ति। 'किसी कारण से, विचार से, अवलंबन से,..' कोई भी कारण लो, कोई भी विचार लो और किसी भी प्रकार का आप आधार लो, अवलम्बन यानि क्या? आधार लो उनको पहचानने के लिये तो भी 'सम्यग्दृष्टि रूप से भी न जाना हो तो उसका आत्मप्रत्ययी फल नहीं है।' आत्मा को हित हो ऐसा कोई फल नहीं है।

'परमार्थ से...' परमार्थ से यानि आत्मकल्याण के दृष्टिकोण से 'उसकी सेवा...' आप करो। सर्वज्ञ भगवान सामने बिराजमान हो और आप उनकी सेवा करो यानि हम पूजा ले, बराबर? सेवा करो या न करो, सेव-असेवा, 'सेवा-असेवा से, जीव को कोई जाति-()-भेद नहीं होता।' यानि जीव के परिणाम में जो पूर्वानुपूर्व जो मिथ्याजाति चली आ रही है वह वैसी ही रहती है। कोई सम्यक्जाति नहीं होती, कोई जातिभेद होता नहीं। 'इसीलिये उसे कुछ सफल कारण रूप से ज्ञनीपुरुष ने स्वीकार नहीं किया है,..' अर्थात् ऐसी सेवा-पूजा को ज्ञानी ने उसकी सफलता का कोई स्वीकार नहीं किया है 'ऐसा मालूम होता है।' क्या कहा? ऐसा हमें मालूम होता है।

अर्थात् प्रत्यक्ष सर्वज्ञ हो या परोक्ष उनकी जिनप्रतिमा हो या शास्त्र में उनका, जिनेन्द्रदेव का वर्णन हो तो भी पहचान होने के लिये सम्यक्त्व ही चाहिये। सम्यक्त्व से ही पहचान होती है। (अर्थात्) उनका सम्यक्पना क्या है? सम्यक्त्व यानि सम्यक्पना-सम्यक्ता। अपने कहते हैं न, आत्मता, सम्यक्ता, सम्यक्पना, सम्यक्त्व। वह 'ता, त्व और पना' तीनों एकार्थ है। पीछे जो प्रत्यय लगते हैं वह तीनों एकार्थ में है। ममत्व कहें, ममता कहें और मेरापना कहें। इसी प्रकार सम्यक्त्व कहें, सम्यक्पना कहें अथवा सम्यक्ता कहें एक ही बात है। इस सम्यक्त्व की पहचान होनी चाहिये।

अब यह बात सैद्धांतिक रूप से कृपालुदेव क्यों कह सकते हैं? शास्त्र में ढूँढने जाओ तो ऐसा मुद्दा आप को नहीं मिलेगा। कृपालुदेव क्यों कह सकते हैं? कि सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानवर्ती-अविरति सत्पुरुष ज्ञानीपुरुष गृहस्थ हो उनमें

वीतरागता तो नहीं है। क्या? 'नहीं व्रत, नहीं पच्चखाण नहीं, नहीं त्याग वस्तु कोईनो।' कुछ नहीं है। उनको पहचाने तो प्रथम समिकत हो, मुनिराज को पहचाने तो प्रथम समिकत हो, वहाँ वीतरागता वर्धमान हुयी है इसीलिये सर्वसंगपिरत्याग करके नग्न दिगंबर दशा में वर्तते हैं और सर्वज्ञ वीतराग में तो कहने की कोई जगह ही नहीं है।

अब सिर्फ सर्वज्ञ को ही पहचानने से यदि प्रथम समिकत होता हो तो दूसरे दो को पहचानने से नहीं होता। मुनिराज को और सर्वज्ञ को पहचानने से यदि प्रथम समिकत होता हो तो ज्ञानी को पहचानने से प्रथम समिकत नहीं होता। तब पहचानने के लिये तीनों में common factor होना चाहिये न? वह common factor एक सम्यक्तव ही है। आपको बात समझ में आती है? कृपालुदेव क्या कहना चाहते हैं?

ये तीन सजीवनमूर्ति है। इन सजीवनमूर्ति को पहचानने से प्रथम समिकत होता है ऐसा उन्होंने ७५१ पत्र में प्रतिपादन किया, आत्मिसिद्ध के रहस्यार्थ के रूप में कि आत्मिसिद्ध में रहस्य इस बात का है। तब सम्यक्दृष्टि को पहचानने से यदि प्रथम समिकत होता हो तो वही समिकत मुनिराज में भी है और वही समिकत वीतराग सर्वज्ञ में भी है। लेकिन वीतरागता सम्यग्दृष्टि में नहीं है।

...परमेश्वरबुद्धि होती है, जो वीतरागदेव में होती है वह। वीतरागदेव में सम्यग्दृष्टि रूप से पहचान होती है तब परमेश्वरबुद्धि होती है। निर्प्रंथ गुरुराज में भी यदि उनकी पहचान हो तो भी परमेश्वरबुद्धि होती है और सत्पुरुष की पहचान हो तो भी परमेश्वरबुद्धि होती है। पहचान कहाँ से होती है? सम्यक्त्व से। क्योंिक वह एक ही common factor है। कृपालुदेव का कहने का आशय यह है कि वीतरागता से सजीवनमूर्ति की पहचान नहीं होती है। यदि वीतरागता से सजीवनमूर्ति की पहचान होती हो तो सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा के समवसरण में यह जीव स्वयं अनंतबार जाकर आया है। पहचाना क्यों नहीं? पहचान नहीं होने का कारण आप बताईये। हमारे पास कोई argument नहीं है। कोई दलील है उसमें?

हम पुनः विचार करते है कि सर्वज्ञ परमात्मा साक्षात् समवसरण में बिराजते हैं। हम एक चित्र बनाते हैं, मानो अभी हम महाविदेह में है और सीमंधरस्वामी आदि

वहाँ बिराजते हैं। हम लोग समवसरण में है, अनंतबार वह प्रसंग बन गया है, एक बार भी हमे पहचान हो तो प्रथम समिकत हो न, ७५१ पत्र के अनुसार। क्यों नहीं हुआ? यदि कृपालुदेव ने यह बात नहीं समझायी होती तो हमारे पास क्या दलील है? बताइये। हमारी समझ के बाद कोई दलील है? नहीं। कृपालुदेव यह बात pointout करते हैं।

कि सर्वज्ञ को भी सम्यग्दृष्टि रूप से पहचानने से उसका महान फल है और वह सम्यग्दृष्टि रूप से पहचान होती है। चाहे फिर आप सर्वज्ञ को पहचानो, मुनिराज को पहचानो या सत्पुरुष को पहचानो, तीनों का फल एक ही है। वरना क्या होना चाहिये? कि ज्ञानीपुरुष की पहचान का फल दूसरा आना चाहिये, सर्वज्ञ को पहचानने का फल दूसरा होना चाहिये। तो कहते हैं नहीं, पहचानने का point है वह भी common factor है, और पहचान का फल भी एक जैसा है कि जिसको प्रथम समकित कहने में आता है। फिर वह परोक्ष हो या प्रत्यक्ष हो।

सम्यग्दृष्टि रूप से पहचानने से, दूसरा एक मुद्दा विचारणीय है कि नीचे का (नीचे के गुणस्थान का) परिणमन स्थूल होता है। जैसे-जैसे भूमिका ऊपर-ऊपर की होती है वैसे परिणाम सूक्ष्मता धारण करते हैं। क्यों? कि फिर वह स्वाभाविक परिणमन है और स्वाभाविक परिणमन है वह स्वभाव सूक्ष्म होने से उसका परिणमन भी सूक्ष्म होता है। जैसे कि मुमुक्षु का परिणमन स्थूल है, परन्तु ज्ञानी का परिणमन उतना स्थूल नहीं है। योग्य मुमुक्षु-यथार्थ मुमुक्षु हो तो उसकी मुमुक्षुता को आप समझ सकते हो, ज्ञानदशा को समझना आसान नहीं है। मुमुक्षुता को समझना जितना आसान है, उतना ज्ञानदशा को समझना आसान नहीं है। और इसीलिये मुमुक्षु को उत्कृष्ट मुमुक्षु का संग करने की कृपालुदेव ने ४०३ पत्र में आज्ञा की है। भावनगर स्वाध्याय में ४०३ पत्र हमने पढ़ा। क्योंकि वह स्थूल परिणमन है। उसका जो संवेग है, उसकी जो काम करने की, त्वरा से काम करने की जो वृत्ति है अथवा किसी भी कीमत पर स्वयं का आत्मकल्याण कर लेने की जो भावना है उसकी उछलकूद उसमें दिखती है। ज्ञानी स्थिर हो गये है और उनका परिणमन सूक्ष्म है। वह स्थूल है इसीलिये समझ में आता है, यह समझना कठिन पड़ता है। मुनिराज का परिणमन उससे भी सूक्ष्म है, क्योंकि वे तो ऊपर के गुणस्थान में है। अब स्वभाव तो सूक्ष्म है और स्वभावमय परिणमन होता जाता है।

स्वभाव तो सूक्ष्मातिसूक्ष्म है और परिणमन स्वभावमय होता जाता है और वीतरागदेव का शुक्लध्यान का परिणमन तो धर्मध्यान से भी सूक्ष्म है। धर्मध्यान से शुक्लध्यान है वह अधिक सूक्ष्म है। वीतरादेव सर्वज्ञ परमात्मा तो शुक्लध्यान में बिराजते हैं और वह भी उत्कृष्ट अंतिम चरण में। शुक्लध्यान के जो चार भेद है उसमें ऊपर के भेद में (बिराजते हैं)। कोई पहचान न सके। कोई संसारी जीव सर्वज्ञ को पहचान ही न सके।

यद्यपि सम्यक्त्व सूक्ष्म है। यद्यपि सम्यक्त्व है वह भी स्वभाव रूप है और वह सूक्ष्म है। परन्तु तीनों सजीवनमूर्ति में वह एक ही common factor है। इसीलिये नीचे चतुर्थ गुणस्थान में भी वह होता है कि जिसे पहचानने से प्रथम समिकत प्राप्त होता है। ५०४ पत्र में यह मुद्दा समझाना है कि पहचानने का आधार क्या? किस आधार से सजीवनमूर्ति की पहचान हो? सजीवनमूर्ति के तीन प्रकार है, क्योंकि सीजवनमूर्ति की पहचान बिना किसी को प्रथम समिकत नहीं है।

२१३ (पत्र में) कहा कि सत्पुरुष को पहचाने बिना हे परमात्मा! आप को पहचान नहीं पाये, अतः हम सत्पुरुष को आपसे भी अधिक प्रेम से भजे तो आप बुरा मत मानना। २१३ पत्र में भगवान को उद्देश करके कहा। और आपसे थोड़े अधिक सरल लगे। सरल क्यों लगे? आप तो वीतराग हो इसीलिये वाणी कुदरती ॐकार ध्विन की जब खिरे तब ही खिरे और ध्यानस्थ हो इसीलिये हमारे सामने भी नहीं देखते। जबिक सत्पुरुष तो सामने देखकर आँख से आँख मिलाकर ऐसा कहते हैं कि देखो, ऐसा होता है, परिणमन ऐसे होता है, ऐसे होता है। ज्यादा पहचान होती है, वहाँ से भाव पकड़ में आता है। आपका भाव पकड़ में नहीं आता है। क्या? वीतरागभाव अंतर्मुखी भाव ऐसा होता है, ऐसे सीधे प्रश्न का उत्तर आधी रात को भी (सत्पुरुष) देते हैं। आपको तो वीतरागता है, वाणी तो जब खिरे तब खिरे, उसमें हमारी कोई विनती काम आये ऐसा है नहीं। तो आपसे वे अधिक सरल है। ऐसा कहकर सत्पुरुष की महिमा की है। लेकिन वह मुमुक्षु के हित के लिये महिमा की है।

यहाँ एक दूसरे angle से-दूसरे view point से इस बात को समझाते हैं। कि सर्वज्ञ वीतराग परमात्मा जिसमें शंका करने का कोई अवकाश नहीं है तो भी यह जीव उनको पहचान नहीं सका। ज्ञानी में तो इस जीव ने शंका की है, मुनिराज में भी शंका

की है, क्योंकि उनको मन-वचन-काया की रागांश निमित्तक क्रिया होती है। राग के अंश के निमित्त से होती कुछ न कुछ क्रिया होती है, खाना-पीना इत्यादि। मुनि को दूसरी तो नहीं है परन्तु खाना-पीना तो है। खाना-पीना है, शयन है, चलना-फिरना है, बोलना है, बोलने में भी राग निमित्तक है, उपदेश देते हैं, शास्त्र रचते हैं, बाह्य क्रिया तो राग के अंश के निमित्त से ही होती है। पूर्ण वीतराग होने पर सब बंद हो जाता है। वंद्य-वंदक भाव है, अपने गुरु को वंदन करते हैं। वीतराग में कुछ नहीं है। फिर भी पहचान नहीं होती है। तो कहते हैं, सम्यग्दृष्टि रूप से पहचाने तो ही पहचान होती है, दूसरे प्रकार से पहचान नहीं होती। आपने वीतराग जानकर तो पूजा की, अनंतबार भित्त करी समवसरण में, मणिरत्न के दीपक से और कल्पवृक्ष के फूल से पूजा-भित्त की, आपने आरती की। (फिर भी) संसार ज्यों का त्यों खड़ा है। उससे संसार का अभाव नहीं हुआ, क्योंकि वह एकांत राग था।

पहचानने में ज्ञान काम करता है, राग काम नहीं करता। इसीलिये पहचानने की क्रिया है वह ज्ञानक्रिया है, और यह भक्ति जो बिना पहचान के होती है वह राग की क्रिया है, अकेली राग की क्रिया है, एकांत राग की क्रिया है। अतः भक्ति दो प्रकार की है। एक पहचानपूर्वक बहुमान आये वह ज्ञानक्रिया रूप भक्ति है और उस अनुसार चारित्रगुण में राग उत्पन्न हो वह रागक्रिया रूप भक्ति है। भक्ति के परिणाम में दो गुण काम करते हैं। मुख्यरूप से बाहर में जो दिखता है वह तो राग की क्रिया दिखती है। तो वह राग की क्रिया एकांत राग रूप भी हो सकती है और ज्ञानसहित भी हो सकती है। और ज्ञानी को भी भक्ति होती है। मुमुक्षु को भी, जिसको पहचान हुयी है ऐसे मुमुक्षु को भी भक्ति होती है। परन्तु वह भक्ति है वह ज्ञानक्रिया है। और जहाँ ज्ञानसहित की भक्ति हो तब उस भक्ति को ज्ञान का परिणाम कहते हैं, ज्ञान की क्रिया गिनना चाहिये, उसे ज्ञान का स्वरूप गिनना।

मुमुक्षु:- भाईश्री, ज्ञानसहित की भक्ति का थोड़ा और स्पष्टीकरण कीजिये।

पूज्य भाईश्री:- ज्ञान क्या करता है? मूल्यांकन करता है, कीमत करता है। जैसे, यह हीरा एक करोड़ का, यह हीरा एक अरब का। ज्ञान क्या करता है? कीमत आँकता है न? ऐसे ही, ज्ञान में जो पहचान हुयी, सम्यक्त्व की पहचान हुयी, किसकी पहचान

हुयी? सम्यक्त्व की पहचान हुयी यानि सम्यक्त्व रूपी हीरे की पहचान हुयी। अतः उसका मूल्य हुआ। क्या मूल्य हुआ? कि यह एक गुण ऐसा है कि जो जीव के अनंत गुण के परिणमन को सम्यक् करता है। 'सर्वगुणांश सो सम्यक्त्व'। इसीलिये उसके मूल्य में क्या हुआ? कि आप को निर्प्रंथ मुनिराज की भी पहचान हुयी। सम्यग्दर्शन हुआ तब निर्प्रंथ मुनिराज की पहचान हुयी वह संवर और निर्जरातत्त्व की पहचान हुयी। फिर आपको भगवान की भी पहचान हो गयी। सम्यग्दर्शन हुआ तब नव तत्त्व की पहचान हुयी न? वह मोक्षतत्त्व है। सर्वज्ञ है वह मोक्षतत्त्व है, मुनिराज है वह संवर, निर्जरातत्त्व है। क्योंकि उनको विपुल मात्रा में संवर, निर्जरा चालू है।

सम्यग्दर्शन होने पर नव तत्त्व की पहचान हुयी उसमें देव-गुरु और शास्त्र की पहचान हुयी और उनकी वाणी की पहचान हुयी। वाणी के निमित्त से सम्यग्दर्शन होता है, उसके सिवाय-ज्ञानी की वाणी के सिवाय किसी को सम्यग्दर्शन होता नहीं। अतः सम्यग्दर्शन होने पर देव-गुरु-शास्त्र की पहचान आपो आप हो गयी। हुयी की नहीं हुयी? तो वह पहचान ज्ञान में हुयी न? ज्ञान में उसका मूल्य हुआ न? बहुमान हुआ न? तो वह मूल्य अथवा बहुमान को भक्ति कहने में आता है, जो ज्ञान की क्रिया है। किसकी है वह? वह ज्ञान की क्रिया है। तब साथ-साथ चारित्रगुण में मुमुक्षु को भी और ज्ञानी को भी तत्संबंधी यानि ज्ञान का अनुसरण करता, ऐसे ज्ञान का अनुसरण करता राग उत्पन्न होता है। जिसे हम भक्ति का राग कहते हैं।

अब जो पद ज्ञानी गाये, ज्ञानी बोले वही पद अज्ञानी भी बोलता है। परन्तु जिसको ज्ञान नहीं है, पहचान नहीं है, ज्ञान नहीं है यानि पहचान नहीं है यहाँ, उसे एकांत भिक्त का राग है। और जिसे पहचान है और भिक्त का राग है, उसकी भिक्त को राग रूप भिक्त नहीं कहना। क्योंकि राग वहाँ गौण है और ज्ञान मुख्य है। इसीलिये वह भिक्त ज्ञान की क्रिया है।

मुमुक्षु:- उसे परिणमन दृष्टि भी कह सकते हैं?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, फिर तो परिणमन आयेगा ही, वह उसका फल है। परिणमन आयेगा तो निर्मलता आयेगी। निर्मलता आदि जो गुण प्रगट होंगे वह उसका फल है।

५०४ पत्र का जो मुख्य मुद्दा है वह यह है-सजीवनमूर्ति को सम्यक्त्व रूप से पहचानना वह। चाहे वह ज्ञानीपुरुष हो, चाहे वह निर्प्रंथ मुनिराज हो-अंतरबाह्य निर्प्रंथ हो, चाहे वह सर्वज्ञ परमात्मा हो। सम्यक्त्व के सिवाय पहचान होती नहीं। इसीलिये मुमुक्षु को सम्यक्त्व क्या है उसे समझने का, पहचानने का प्रयत्न करना चाहिये। तात्पर्य क्या निकला? तो ही प्रथम समिकत प्राप्त हो, तो दूसरा हो और तो तीसरा हो, तो मोक्षमार्ग का प्रारंभ होगा अथवा प्रवेश होगा। अन्यथा सब कुछ पूर्वानुपूर्व है। आप शास्त्र पढ़ो या आप कोई भी धार्मिक साधन करो। 'वह साधन बार अनंत कियो' यह होगा।

मुमुक्षु:- बाह्यदृष्टि की तो कोई कीमत ही नहीं न?

पूज्य भाईश्री:- बिल्कुल नहीं। वह तो कहा, वह तो कृपालुदेव ने कहा कि उनकी सेवा-असेवा से आत्मप्रत्ययी कोई फल नहीं है और उसका सफल कारण ज्ञानीपुरुष ने अल्प भी स्वीकृत नहीं किया है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, जब तक अंतरदृष्टि नहीं हो तब तक तो बाह्यदृष्टि का ही उपयोग करना पड़े, वह करना ही नहीं?

पूज्य भाईश्री:- अब देखिये, एक मुमुक्षु की भूमिका ऐसी है कि वह बीच वाली भूमिका है। अकेली बाह्यदृष्टि नहीं है, और अकेली अंतरदृष्टि नहीं है। यथार्थ मुमुक्षु होता है, उस मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचान लेते हैं। २५४ पत्र के मुमुक्षुता आरोहण क्रम में कृपालुदेव ने वह बात कही और उसी पत्र में नीचे लिखा कि मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचान लेते हैं। महात्मा में तीनों सजीवनमूर्ति लेना। कोई भी उसे प्रत्यक्ष हो उसे (पहचान ले)। और उसमें उन्होंने मुद्दा लिखा कि परम विनय की न्यूनता हो तब तक सत्पुरुष में परमेश्वरबुद्धि आती नहीं और वंचनाबुद्धि से वह भिक्त करता है। क्योंकि विरोध भी नहीं करता है, अभिक्त भी नहीं करता है, भिक्तरहित भी नहीं है, परन्तु भिक्त करता है, फिर भी परम विनय यानि परम भिक्त नहीं है। क्योंकि पहचान नहीं है तो उसको प्रथम समिकत नहीं है, तो पदार्थ निर्णय रूप जो दूसरा समिकत होना चाहिये वह भी उसे होता नहीं। अतः परम विनय की न्यूनता रूप दोष, उस दोष

का अभाव करके जब परमेश्वरबुद्धि आये तब उसे, पदार्थ निर्णय जो आखिर में लिया, वह होने की योग्यता प्राप्त होती है। इसीलिये मुमुक्षुता आरोहण क्रम में वह बात इस तरह व्यवस्थित रूप से ली है। देखिये, किस दृष्टिकोण से इस बात को उभारी है।

फिर पत्र में विषय बदला है कि 'कई प्रत्यक्ष वर्तमानों से...' क्या कहना है? यानि वर्तमानकाल संबंधी, जो दुषमकाल है, विषमकाल है उसकी बात करते हैं। 'कई प्रत्यक्ष वर्तमानों से ऐसा प्रगट ज्ञात होता है कि यह काल विषम या दुषम या कलियुग है।' सादी भाषा में, लोक भाषा में इसे कलियुग कहने में आता है, शास्त्रभाषा में उसे दुषमकाल या विषमकाल (कहने में आता है)। 'कालचक्र के परावर्तन में...' जो पंच परावर्तन है न (उसमें) 'दुषमकाल पूर्वकाल में अनंत बार आ चुका है, तथापि ऐसा दुषमकाल किसी समय ही आता है।' यह हुंडावसर्पिणी है। दुषमकाल तो है लेकिन कैसा है? हुंडावसर्पिणी। हुंड शब्द है यानि बेडौल-कुरूप। क्या? हुंडकसंस्थान नहीं कहते? संस्थानों में-आकार में एक हुंडकस्थान आता है। अत्यंत कुरूप इन्सान हो उसे हुंडकसंस्थान कहते हैं। हुंडक यानि बहुत ख़राब, ऐसा यह हुंडावसर्पिणी काल है।

दौलतरामजी ने एक पद लिखा है। हुंडावसर्पिणी काल के ऊपर एक पद में एक पंक्ति लिखी है। पद तो अलग है, परन्तु उसमें एक पंक्ति आयी है, 'जैनी जैनग्रंथ के निंदक हुंडावसर्पिणी जोरा। ज्ञानी जानी चुप रहिये जग में जीना थोरा।' क्या कहते हैं कि इस काल में विपरीत लोगों का बल अधिक होगा। यानि हुंडावसर्पिणी काल का वह जोर है। उसमें क्या होगा? जैनी होगा वह जैनग्रंथ का निंदक होगा। यानि सत्शास्त्रों का विरोध करने वाले निकलेंगे।

ऐसे-ऐसे पत्र आते हैं, विद्वान होकर ऐसा लिखते है कि अमृतचंद्राचार्य ने समयसार में यहाँ भूल की ही। आते हैं न पत्र? वह आगम की निंदा है, आचार्य की निंदा वह, आगम में लिखी हुयी भूल वह आगम की निंदा है, क्या? और बहुत दिगंबर लोगों ने समयसार आदि शास्त्र बहा दिये, पानी में बहा दिये। सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ है इसीलिये इस समयसार को यहाँ से निकालो। कितने ही हिन्दुस्तान के दिगंबर मंदिरों में बोर्ड लगाया है, सोनगढ़ का साहित्य इधर रखने की मना है, पढ़ने की मना है, लाने की मना है। और हो तो उसे वह पानी में बहा देते हैं। वह सब जैन है और

जैनाचार्य कुन्दकुन्दाचार्य जैसे आचार्य के लिखे हुये उसके अन्दर श्लोक हैं, गाथाएँ हैं, अमृतचंद्राचार्य की टीका है, जयसेनाचार्य की टीका है। प्रकाशन सोनगढ़ की संस्था ने किया इसीलिये वस्तु कहीं बदल नहीं जाती। ये तो अभी बना है, लेकिन दौलतरामजी ने उनके जमाने में लिखा है। कितने वर्ष पहले हुये दौलतरामजी? २००-३०० वर्ष हो गये। क्या? 'जैनी जैनधर्म के निंदक, हुंडावसर्पिणी जोरा, जानी ज्ञानी चुप रहिये जग में जीना थोरा।' ये जानने में आये तो कुछ बोलने जैसा नहीं है, व्यर्थ ही लोग आपका विरोध करेंगे। क्योंकि उनकी संख्या बड़ी है। विरोध करने वालों की संख्या बड़ी है, समझदार की संख्या एक प्रतिशत भी नहीं है, विरोध करने वाले ९९ प्रतिशत के ऊपर है, क्या? अतः (ऐसा कहते हैं कि) हमको जीना कितना? थोड़ा। तो जितना थोड़ा जीना है उसमें अपनी साधना कर लो। इन लोगों के सामने देखना नहीं है।

फिर इसके ऊपर से दूसरा पद बनाने में आया कि 'जैनी जैन प्रतिमा के निंदक हुंडावसर्पिणी जोरा'। वीतराग प्रतिमा का भी विरोध होता है, कोई न कोई बहाने। सोनगढ़ में ४५ साल पहले १९९४ में जिन मंदिर हुआ। सर्वप्रथम सोनगढ़ का जिन मंदिर १९९४ साल में हुआ। ५५ का वर्ष चल रहा है न? ५५ और ६, ६१ वर्ष हुये। ६०-६१ साल पहले जो मंदिर हुआ, तब सीमंधर भगवान की मूल नायक स्वरूप में स्थापना करी। गुरुदेव महाविदेह से आये थे न, इसीलिये बहिनश्री को वह भाव आया इसीलिये सीमंधर भगवान (की स्थापना हुयी)। इसीलिये दिगंबर संप्रदाय में से विरोध हुआ। विरोध क्या हुआ? कि जो तीर्थंकर हुये हो उसकी स्थापना की जाती है। वर्तमान जो सजीवन-जीवंतमूर्ति हो उसकी स्थापना नहीं कर सकते। चौबीस तीर्थंकरो की स्थापना कर सकते हैं, परन्तु विहरमान भगवान की स्थापना नहीं कर सकते। बयाना में ४०० साल पहले की सीमंधर भगवान की स्थापना की मूर्ति मिली। गुरुदेव यात्रा करते थे न हिन्द्स्तान की, तब बयाना गये थे। यहाँ बयाना है न? राजस्थान है कि यु.पी. में है? भरतपुर के पास, यु.पी.में है, भरतपुर के पास बयाना है। राजस्थान? हम लोग गये हैं, जाकर आये हैं। उसमें प्रतिमाजी के नीचे लेख लिखा है, 'जीवंतस्वामी श्रीसीमंधर भगवान की यह प्रतिमा है'। ४०० वर्ष पहले की साल लिखी थी। किसी को मालूम नहीं है, दिगंबरों को मालूम नहीं है कि हमारे घर में क्या है और क्या नहीं

है। सोनगढ़ से हो तो विरोध करो, शास्त्र हो या प्रतिमा हो। ये लोग नया निकालते हैं। वहाँ तो आत्मा में से उत्पन्न हुआ है, नया कहो या पुराना कहो, उनको तो आत्मा में से उत्पन्न हुआ है।

यह हुंडावसर्पिणी काल का जोर है। कृपालुदेव ऐसा कहते हैं कि ऐसा हुंडावसर्पिणी काल कवित् ही आता है। हुंडावसर्पिणी काल तो आता ही रहता है, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी, परन्तु हुंडावसर्पिणी कवित् ही आता है। उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आते ही रहते हैं। 'तथापि ऐसा दुषमकाल किसी समय ही आता है। श्वेताम्बर संप्रदाय में ऐसी परंपरागत बात चली आती है कि 'असंयतिपूजा' नाम से आश्चर्ययुक्त 'हुंड'…' देखिये, 'हुंड' शब्द प्रयोग कृपालुदेव ने किया है। इस पत्र में ही वह बात ली है। क्या? 'असंयतिपूजा' नाम से आश्चर्ययुक्त 'हुंड'-ढ़ीठ ऐसे इस पंचमकाल को…' हुंड का अर्थ किया है ढ़ीठ ऐसा यह पंचमकाल 'तीर्थंकर आदि ने अनंतकाल में आश्चर्य स्वरूप माना है,..' भगवान ने भी इस काल को बहुत ख़राब कहा है।

'यह बात हमें बहुत करके अनुभव में आती है, मानों साक्षात् ऐसी प्रतीत होती है।' यह बात हमें प्रत्यक्ष भासित होती है। साक्षात् यानि प्रत्यक्ष भासित होती है और उसका हमें अनुभव भी हो रहा है। उसका कारण क्या है? कि कृपालुदेव भले ही व्यपार आदि में, गृहस्थादि में पूर्व कर्म के अनुसार थे, फिर भी कोई भी उनके परिचय में जाये तो एक बार तो खड़ा रह जाये। छोटी उम्र, ये सब पत्र लिखे वह तो चढ़ती युवावस्था में ये सब पत्र लिखे गये हैं। ३३ वर्ष की आयु यानि अभी युवावस्था गिनी जाती है। और ये तो अभी २७वें वर्ष का पत्र है। छोटी उम्र, फिर भी उनकी जो सौम्यता, उनकी मध्यस्थता, उनकी धीरता और गंभीरता, क्या? और उनकी जो समझाने की, समझने की यानि विचारों को व्यक्त करने की अभिव्यक्ति जिसे कहें, वह भी असाधारण! सामान्य बुद्धि वाले को न हो, extra intelligent person हो ऐसी उनकी बौद्धिक कौशल्यता, जगत में तो क्या है कि बुद्धिमान को सब मानते हैं। जगत में तो बुद्धिमान की बात तो सब को माननी ही पड़े। क्योंकि बुद्धिमान दूसरे की भूल निकाले न, वह स्वयं भूल न करे, सामने वाले की भूल निकाल सके। अतः बुद्धिमान

को तो सब मानते हैं, खड़ा रह जाये। और उनके पास इतनी super intelligency थी! Extra नहीं बिल्क super intelligency कही जाये। कोई भी मनुष्य कोई बौद्धिक बात करे तो वह एक बार तो खड़ा रह जाये। यह बात हमने सोची नहीं थी, उसे ऐसा हो जाये। क्या हो? अपने में चाहे जितनी बुद्धि हो, लेकिन इस बात को हम सोच नहीं सके, वह बात instant अभी विचार करके हमें कहते हैं। बिना कोई पूर्व planning। फिर भी ऐसी एक असाधारण प्रतिभा, असाधारण व्यक्तित्व, असाधारण कर्तृत्व! क्या? ऐसा होने पर भी, आश्चर्यजनक होने पर भी संप्रदाय के लोगों ने विरोध किया है।

संप्रदाय के लोगों का विरोध करने का कारण यह है कि कृपालुदेव ने ऐसा स्थापित किया कि संप्रदाय में ये जो चल रहा है वह मार्ग नहीं है, ज्ञानी का मार्ग कोई अलग है। संप्रदाय में जो मार्ग चलता है वह चारित्रमोह को मंद करने संबंधी संयम, त्याग, व्रत, पच्चखाण, नियम, यह-वह, और ज्यादा से ज्यादा पूजा, भिक्त और पाठ कंठस्थ करना आदि विभिन्न प्रकार से चलता है। जिसकी जैसी रूढ़ि हो उस अनुसार, प्रत्येक संप्रदाय की, क्या? जबिक ज्ञानी का मार्ग है वह दर्शनमोह को मंद करके उसका एक बार अभाव करके मोक्षमार्ग में प्रवेश करा देता है। और जो ज्ञानी का मार्ग है, कृपालुदेव के शब्दों में, वही तीर्थंकर का मार्ग है। रूढ़िगत रूप से चलता है वह सब विकृति होकर, मूलमार्ग की विकृति होकर सब रूढ़ि चलती है और उसमें यह भूल होती है। कौन-सी भूल होती है? कि दर्शनमोह को कोई समझते नहीं है, उसका अभाव करने की विधि और रीति कोई समझता नहीं है और चारित्रमोह को मंद करने का उपदेश चलता है और इस तरह सब चलता रहता है।

अतः इस प्रकार जब उन्होंने मार्ग का प्रतिपादन शुरू किया, इसीलिये संप्रदाय के जो मुख्य साधु, पंडित इत्यादि होते हैं उनको ऐसा लगता है, नहीं, यह झूठ है, हमारा ही सत्य है। इसीलिये friction हुये बिना रहता नहीं। क्योंकि सुनने वाले common होते हैं। उपाश्रय में भी जाये और कृपालुदेव के पास भी आये। कृपालुदेव के पास जाते हो वह उपाश्रय में भी जाते हो। उपाश्रय में कुछ और सुनने मिले, यहाँ कुछ और सुनने मिले। फिर चर्चा करे कि साहब, ऐसा हो तो? ऐसा हो तो? वैसा हो

तो? ऐसा! ये २५-२७ साल का लड़का और हमसे भी होशियार, हमारी भूल निकालता है? उन्हें insulting tone लगता है। कृपालुदेव का कोई insulting tone कभी नहीं होता। परन्तु उन्होंने किसी साधु को साधु के रूप में स्वीकृत नहीं किया है। अन्य गृहस्थ महाराज को वंदन के लिये आये, परन्तु कृपालुदेव कहीं जाते नहीं थे। दिगंबर संप्रदाय के कोई दिगंबर साधु को वंदन नहीं किये हैं। हर जगह नामी-अनामी आचार्य तो थे ही, बड़े-बड़े tittle वाले। बड़ी आबरू वाले, धार्मिक आबरू। किसी को उन्होंने अपने जीवन में गुरु के रूप में स्वीकार नहीं किया है। क्यों? उनका जो साधुपना था वह 'अपूर्व अवसर' में गाया ऐसा था। उनको जो साधुपना, उनके ज्ञान में था वह तो उन्होंने 'अपूर्व अवसर' में प्रतिपादित किया है और ऐसा साधुपना उन्होंने कहीं देखा नहीं था, इसीलिये स्वीकार नहीं किया। अतः उसको ऐसा लगे, ऐसा! ये हमारे पैर नहीं छूता? पैर छूने नहीं आता। क्या? कृपालुदेव की उम्र के बाप-दादा जैसे हो, और दादाजी जैसे हो वे पैर छूने जाने जाते हो। बड़ी उम्र वाले दो पीढ़ी, ४० वर्ष उम्र में बड़े हो। ६५-७०-७५ वर्ष की उम्र वाले पैर छूते हो और ये २५ साल वाला ऐसा कहे कि नहीं, ऐसा नहीं होता। तो insult लगता है। विरोध हुये बिना रहे ही नहीं।

कृपालुदेव देखते हैं कि इसमें विरोध करने जैसा है क्या? हम जो कहते हैं वह तो परमसत्य है, शास्त्र में उसकी साक्षी है। शास्त्र लेकर बैठे तो कृपालुदेव के पास एक मिनिट भी साधु खड़ा नहीं रह सके, डेढ़ मिनिट में उसको हार स्वीकारनी पड़े। इतना उनका शास्त्रज्ञान है और इतनी उनकी solid बात होती है। To the point एक ही बात करे उतने में fail हो जाये। तो भी विरोध करे।

मुमुक्षु:- पूर्वाग्रह ही कारण है न?

पूज्य भाईश्री:- पूर्वाग्रह नहीं, इसमें क्या है कि संप्रदाय में दुकानदारी चलती होती है, आशय में फर्क है। आत्मकल्याण का आशय हो तो ऐसा होता ही नहीं। क्योंकि वीतरागी शास्त्र मौजूद है। देव-गुरु-शास्त्र का स्वरूप प्रगट है। आत्मार्थी हो और आत्मकल्याण के लिये निकला हो, वह संप्रदाय में रह ही न सके। वह समझता है कि इसमें फर्क है, आशय का फर्क है यहाँ। उपदेश हो उसका आशय तुरन्त पकड़

सकता है। मुमुक्षु भी पकड़ सकता है। आशय में फर्क उसे दिखता है। बात finish हो गयी। ये तो दुकान चलती है। (पत्र समाप्त हुआ है)।



प्रवचन-02, पत्रांक-333 (1)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-३३३। स्वयं ने एक प्रश्न पूछा है ३२७ पत्र में और उसका उत्तर माँगा है। उस प्रश्न को यहाँ उन्होंने अवतरण चिह्न के अन्दर फिर से दोहराया है। माघ वदी-१४ के दिन प्रश्न पूछा है। फागुन सुदी-४, पाँच दिन के बाद (जवाब लिखा है)। उन दिनों में डाक तुरन्त मिलती थी ऐसा इसका अर्थ हुआ। फिर से पत्र लिखते हैं उसमें वही बात, विषय फिर से चला है।

'जीव को सत्पुरुष की पहचान नहीं होती, और उनके प्रति अपने समान व्यावहारिक कल्पना रहती है, यह जीव की कल्पना किस उपाय से दूर हो?' यह प्रश्न स्वयं ने ३२७ पत्र में पूछा है। उत्तर माँगा है। 'इस प्रश्न का यथार्थ उत्तर लिखा है।' देखो, सोभागभाई की सूझ। इस प्रश्न का उत्तर यथार्थ लिखा है। 'ऐसा उत्तर...' यह उत्तर 'ज्ञानी अथवा ज्ञानी का आश्रित...' या तो ज्ञानी अथवा ज्ञानी के आश्रय से जिसने निर्मलता प्राप्त की है ऐसा मुमुक्षु, 'मात्र जान सकता है, कह सकता है, अथवा लिख सकता है।' ऐसा उत्तर आपने दिया है।

'मार्ग कैसा हो इसका जिन्हें बोध नहीं है,..' आत्मिहत का उपाय जो जानता नहीं है, ज्ञानी होकर या मुमुक्षु होकर 'ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष...' पुरुष यानि जीव लेना। शास्त्र का अभ्यास चाहे जितना भी किया हो 'उसका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते,..' ऐसा जवाब वह नहीं लिख सकता। भले ही उसे शास्त्र का अभ्यास कितना भी हो। क्या? 'यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते, यह भी यथार्थ ही है।' क्या? 'ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते, यह भी यथार्थ ही है। 'शुद्धता विचारे ध्यावे,' इस पद के विषय में अब फिर लिखेंगे।' यह बनारसीदासजी का पद है, उस विषय में मैं बाद में स्पष्टता करूँगा।

अब, यहाँ क्या कहते हैं? कि केवल शास्त्राभ्यास करने वाले हैं, फिर भी जिसका दर्शनमोह मंद नहीं हुआ है और अपने परिणाम में हित-अहित की सूझ जिसे नहीं आयी है कि मुझे मेरा हित कैसे करना? और कहाँ-कहाँ मेरा अहित कैसे-कैसे

हो रहा है, वह जीव इस प्रश्न का उत्तर नहीं लिख सकता, ऐसा कहते हैं। सोभागभाई ने क्या उत्तर दिया है, यह फूटनोट में संकलनकर्ता ने दिया है, यह उन्होंने बहुत अच्छा काम किया है। सोभागभाई के पत्र तो छपने चाहिये थे और कुछ छपे भी है, वह भी अच्छा काम हुआ है, परन्तु बाद में छपे हैं।

'श्री सोभागभाई द्वारा दिया गया उत्तर-यह पत्र इसमें नहीं होगा, पत्र के पुस्तक में नहीं होगा। कोई बात नहीं, मूल पुस्तक में तो है, यह तो जानने की बात है। 'निष्पक्ष होकर सत्संग करे तो सत् मालूम होता है, और फिर सत्पुरुष का योग मिले तो उसे पहचानता है और पहचाने तो व्यावहारिक कल्पना दूर होती है। इसीलिये पक्षरिहत होकर सत्संग करना चाहिये। इस उपाय के सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है। बाकी भगवत्कृपा की बात और है।' इतने शब्द लिखे हैं। क्या? ऊपर-ऊपर से सादी बात लगे, सादे वाक्य लगे, परन्तु सोभागभाई की सूझ और समझ की गहराई बहुत है यह इसमें से निकलता है।

निष्पक्ष होकर सत्संग करे...' निष्पक्ष यानि क्या? पूर्वाग्रह छोड़कर। सत्संग को बाध करने वाले मुख्य कारणों में पूर्वाग्रह मुख्य है। पूर्वाग्रह में पूर्व में बाँधा हुआ, निश्चित किया हुआ कोई भी अभिप्राय। हम उसे अंग्रेजी में prejudice कह सकते हैं। निष्पक्ष यानि without prejudice, कोई राग भी नहीं और कोई द्वेष भी नहीं, उसका नाम निष्पक्ष है। सत्संग करे तब, कोई जीव ज्ञानीपुरुष का सत्संग करता है। अब हम लेते हैं कि कोई जीव ज्ञानीपुरुष का सत्संग करता है। तो या तो वह स्वयं पूर्वाग्रह बाँध लेता है कि यह ज्ञानी है अथवा ज्ञानी नहीं है। दो में से एक नक्की करके आता है। जब तक पहचान नहीं होती तब तक उसे मध्यस्थ रहना चाहिये। निष्पक्ष रहने का अर्थ क्या? मध्यस्थ। मध्यस्थ शब्द का सोभागभाई ने प्रयोग नहीं किया है। कोई विद्वान होता तो मध्यस्थ शब्द प्रयोग किया होता। उन्होंने अपनी भाषा में उत्तर दिया है-निष्पक्ष होकर सत्संग करे...' यानि मध्यस्थ होकर सत्संग करे।

मध्यस्थ कोई पक्ष में नहीं है, मध्यस्थ है वह कोई पक्ष में नहीं है। क्यों? कि आपने ज्ञानी के रूप में माना तो पहचाने बिना कैसे माना? आपकी मान्यता प्रमाणिक नहीं है। नहीं माना, नहीं मानने के लिये भी आपकी पहचानने की शक्ति ही नहीं है तो

आपका नहीं मानने का भी क्या कारण है? अतः आपका मानना भी झूठा है और आपका नहीं मानना भी झूठा है। क्योंकि पहचान करने की आपकी क्षमता ही नहीं है, आपकी योग्यता ही नहीं है, क्या? तो फिर आप किस प्रकार मानते हो या नहीं मानते हो, वह बात कैसे रही? जब तक पहचान करने की क्षमता, योग्यता प्राप्त न हो, तब तक मध्यस्थ रहना ही योग्य है। ओघसंज्ञा को मजबूत करने से कोई फायदा नहीं है। हम तो भिक्त कर-कर के मानते हैं, मान-मानकर भिक्त करते हैं लेकिन तुम ओघसंज्ञा को मजबूत करते हो। वह भिक्त कब उड़ जायेगी कह नहीं सकते। आज भिक्त करते हो, कल आप ही विरोध करोगे, कोई ठिकाना नहीं रहेगा। इसीलिये निष्पक्ष होकर सत्संग करो तो सत् क्या है, यह आपको ज्ञात होगा। ज्ञानीपुरुष के प्रत्यक्ष योग में मध्यस्थ होकर सत्संग करो तो आपको सत् मालूम होगा, क्या?

मुमुक्षु:- कोई भी जीव सुनता हो तब तो कुछ पूर्वाग्रह लेकर ही बैठा होता है। यदि 'यह ज्ञानीपुरुष है' ऐसा पूर्वाग्रह रखकर नहीं बैठा हो तो 'कोई विद्वान है' ऐसे पूर्वाग्रह रखकर बैठता है। एक यह परिस्थिति है उसमें और दूसरी परिस्थिति कि अच्छा है कि एक ज्ञानीपुरुष दूसरे ज्ञानीपुरुष के प्रति अंगुल निर्देश करके गये हैं, जिससे सामने वाला बैठे तब 'यह ज्ञानीपुरुष है' ऐसा एक पूर्वाग्रह रखकर बैठता है अथवा भक्ति से बैठता है। इस प्रकार दोनों के बीच कैसे मेल करना?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, वहाँ अब दूसरा प्रसंग है कि समकालीन दो ज्ञानी हो और एक प्रसिद्ध हो और एक अप्रसिद्ध हो। तो प्रसिद्ध ज्ञानी उतना उपकार करते है कि ये भी ज्ञानी हैं और आप उनकी शरण में रहना, तो बच जाओगे। मैं स्पष्टरूप से कहूँ तो गुरुदेव और बहिनश्री के अनुलक्ष में यह बात थी। क्या? सामाजिक परिस्थिति की अव्यवस्था देखकर गुरुदेव के पास जो समाज आता था, उस समाज में उन्होंने अव्यवस्था देखी कि गड़बड़ी बहुत है। बहिनश्री समाज के contact में बहुत नही रहे थे, स्वयं व्यक्तिगत रूप से कोई सामाजिक platform पर वे नहीं रहे थे। वे एकांत में अपनी साधना करने में ही रहे हैं। क्या? गुरुदेव को करुणा आयी कि कोई जीव को बचना हो तो इनकी शरण में रहेंगे तो बच जायेंगे। इसीलिये उन्होंने...अब क्या है कि 'पुरुष प्रमाण वो वचन प्रमाण', 'पुरुष प्रमाण वो वचन प्रमाण'।

(अब) इसमें सोभागभाई ने जो सिद्धांत लिखा है वह तो वहाँ भी लागू पड़ता है कि जो ज्ञानीपुरुष कहकर गये, उस ज्ञानीपुरुष को भी पहचानना तो पड़ेगा ना। तो उनका वचन प्रमाण आपको बराबर हटेगा नहीं, अन्यथा आज आप मानते हो, कल उसी बात को नहीं मानोगे। (पहचानना) पड़े या न पड़े? इसीलिये यह बात तो वहाँ भी लागू होती है। यह बात टूटती नहीं है, क्या? क्यों? कि आज गुरुदेव की अधूरी बात मानने वाले बहुत लोग हैं। सब बात संमत नहीं करते हैं, स्वयं को ठीक लगती है उतनी बात संमत करते हैं, बाकी? तो कहते हैं, बराबर नहीं है। तुरन्त कह देंगे, वह बराबर नहीं है, क्या? गुरुदेव को इस तरह मानने वाले बहुभाग निकलेंगे, बड़ा समूह। स्वयं को जितना अनुकूल है वह सब तो बराबर है। उनकी मान्यता के विरुद्ध हम बतायेंगे कि आपकी मान्यता से विरुद्ध गुरुदेव कहते हैं उसका क्या? उस बात में वह गुरुदेव के साथ संमत नहीं होते। तो गुरुदेव को माना है वह बात कहाँ रही? वह तो पूर्वाग्रह से मानते हैं। उन्हें सत्पुरुष की पहचान कभी नहीं होती। ऐसा सोभागभाई कहना चाहते हैं कि उन्हें सत्पुरुष की पहचान कभी नहीं होती।

निष्पक्ष होकर सत्संग करे तब उसे वास्तव में वह सत्य क्या कहते हैं, सत् अर्थात् आत्मा और उस संबंधी जो कुछ कथन है वह सत्य, वह क्या कहते हैं यह समझ में आये, मालूम पड़े। वह समझ में आने के बाद सत्पुरुष का योग रहे, मिले तो वह पहचाने, तो पहचानने की क्षमता आये, अन्यथा नहीं आती। ऐसी बात है। नहीं तो पहचान नहीं सकता। निष्पक्ष रहना, यह एक परीक्षाबुद्धि का विषय हो गया। परीक्षा करे, परीक्षा करने की योग्यता चाहिये। परीक्षा करने वाले को परीक्षा करने की योग्यता चाहिये, ऐसे ही परीक्षा नहीं होती।

मुमुक्षु की भूमिका में पहचानने की तीव्र जिज्ञासा हो तो ही पहचान होती है। इसके सिवाय पहचान होने की कोई पूर्वभूमिका नहीं है। और ऐसी तीव्र जिज्ञासा कब होती है? कि जब उसकी समझ में, उसके अभिप्राय में एक बात ऐसी हो कि यदि कोई सत्पुरुष मिले और मुझे उनकी पहचान हो अथवा सत्पुरुष मिले उसका अर्थ ही यह है कि मुझे उनकी पहचान हो तो मेरा बेड़ा पार हो जाये, मैं तिर जाऊँगा, मुझे मार्ग मिल जायेगा, मुझे निश्चित ही मार्ग मिल जायेगा। तो ही वह तीव्र जिज्ञासा में आयेगा।

अतः ऐसी जिज्ञासा में रहकर, मध्यस्थ रहे तो सत्य समझ में आये, उनके कथन से, उनके वचन से उसे सत् समझ में आये। और स्वयं के असत् अभिप्राय है वह सब उसे ख्याल में आते है कि यह कहते हैं उसमें मेरी यहाँ विपरीतता है, ऐसा कहते हैं उसमें मेरी यहाँ विपरीतता पकड़ में आती है, इस बात में मेरी यहाँ विपरीतता है। अपने विपरीत अभिप्राय पकड़ में आने लगते है।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु की भूमिका में कोई निष्काम भक्ति करता है उसे पहचान होने का chance तो रहता है। जैसे कोई ओघसंज्ञा में भक्ति करता है उसे पहचान करने का एक अभिप्राय अथवा जिज्ञासा हो तो, तो ठीक है।

पूज्य भाईश्री:- उसमें क्या है, (उसमें) process क्या बनता है कि निष्कामता यानि क्या हुआ? कि मुझे संसार परिभ्रमण से छूटना है, मुझे संसार परिभ्रमण नहीं करना है। संसार परिभ्रमण से छूटने की बात यहाँ आती है तो उनको वह बात समझ में आती है, निष्कामता वाले को समझ में आती है। उसका नाम 'सत् समझ में आता है'।

आपके प्रश्न के उत्तर के लिये ज्यादा स्पष्ट हो इसीलिये एक दूसरा दृष्टांत देते है कि कृपालुदेव वर्तमान में स्वर्ग में बिराजते हैं। उनके वचनामृत, हजारों वचन हमें ग्रंथाकार स्वरूप में प्राप्त हुये। परिभ्रमण से छुड़ाने की बात करते हैं यह बात तो कोई भी बुद्धिमान को समझ में आये ऐसा है। बराबर है? अब, वह निष्काम होकर भक्ति करे, निष्काम भक्ति की बात थी, निष्काम होकर कृपालुदेव की भक्ति करे तो उनके वचन में जो सत्य है वह उसे समझ में आये। समझ में आता जाये, जितनी निर्मलता हो उतना समझ में आये। जितनी निर्मलता हो। निष्कामता निर्मलता को लाती है, क्योंकि सकामता मलिनता लाती है इसीलिये।

सकामता और निष्कामता प्रतिपक्ष में है। सकामता मिलनता को लाती है और निष्कामता है वह निर्मलता लाती है। जितने प्रमाण में निर्मलता आती है उतने प्रमाण में उसे उनके कथन में सत् समझ में आता है, सत्य समझ में आये। फिर कोई सत्पुरुष का उसे योग हो, तो वह पहचानने की क्षमता में आता है। कब? निष्पक्ष होकर सत्संग

किया हो तो। अथवा उस भक्तिवान ने निष्पक्ष होकर सत्संग किया हो तो। क्यों? कि सत्संग में अनेक पहलूओं की चर्चा होती है।

निष्पक्ष होकर सत्संग करना उसमें तो थोड़ी विशालता भी है। केवल व्यक्तिगत रूप से निष्पक्ष रहना ऐसा भी नहीं है। स्वयं के अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह से मुक्त होकर सत्संग करना उसका नाम भी निष्पक्षता अथवा मध्यस्थता है। और यह बात थोड़ी कठिन लगे ऐसी है। क्योंकि पूर्वाग्रह छोड़ना यह आसान बात नहीं है। misconcept है, यानि क्या है कि वह कौन छोड़ सकता है, इसका अब हम विचार करते हैं।

कौन सा जीव निष्पक्ष हो सकता है? कि जो केवल आत्मकल्याण से सत्संग के क्षेत्र में प्रवेश करता हो उसका एक ऐसा नया concept बनता है, न बना हो तो बनना जरूरी है, बना हुआ होना चाहिये कि मेरे में अनेक विपरीत अभिप्राय है जिसके कारण मेरे परिणमन में अनेक प्रकार के दोषों की उत्पत्ति होती है और वह मुझे नहीं चाहिये। ये सब दोष मुझे नहीं चाहिये। एक नया concept उसे उत्पन्न होता है कि वह सब मिथ्या अभिप्राय, मेरे जितने अभिप्राय है वह misconcept है और उस misconcept को सुधारने के लिये मेरी जिज्ञासा में आकर मैं सुधारना चाहता हूँ। ऐसा जो नया concept उसने खड़ा किया कि मेरे में अनेक misconcept होने योग्य हैं कि जिसमें से कुछ मैं समझता हूँ और कितने ही नहीं समझता हूँ ऐसे भी होने योग्य हैं। और वह सत्संग के योग में मेरे अभिप्राय मुझे बदलना जरूरी है। ऐसा एक concept खड़ा करे और निष्पक्ष होकर सत्संग करे तो पूर्वाग्रह ढीले पड़ते हैं कि मेरा पूर्वाग्रह तो गलत ही हो सकता है। सच्चा होता तो मुझे कहाँ कोई दिक्कत थी? मेरे में बहुत दोष होते हैं इसका कारण कि मेरे बहुत अभिप्राय झूठे थे। इसीलिये उसे पूर्वाग्रह की पकड़ नहीं रहेगी क्योंकि वह तो पूर्वाग्रह को छोड़ने ही आया है। और पूर्वाग्रह छोड़ने के एक अभिप्राय से वह सत्संग में बैठा है। इसीलिये वह निष्पक्ष होकर सत्संग करेगा, अपने पूर्वाग्रह को पकड़कर सत्संग नहीं करेगा। और तभी उसे सत् समझ में आता है, सत्य समझ में आता है फिर कोई सत्पुरुष का योग हो तो उसे पहचानने की योग्यता आयेगी।

मुमुक्षु:- एकदम तैयार होकर आना चाहिये।

पूज्य भाईश्री:- इतनी तैयारी न हो तो सत्संग में आने का कोई अर्थ भी नहीं है। यदि आप ऐसा नहीं समझते हो कि मेरे बहुत विपरीत अभिप्राय है और सब फेरफार करने के लिये मैं आना चाहता हूँ। तो आपके अभिप्राय आप कैसे छोड़ पाओगे? आप तो पूर्वाग्रह लेकर ही बैठने वाले हो। तो सत्य बात आपको समझ में ही नहीं आयेगी। तो फिर सत्संग कोई अन्य हेतु से ही होता है, इसके सिवाय का अन्य हेतु वह सब अन्य ही है, अन्यथा ही है, प्रकार ही अलग है।

सोभागभाई ने बहुत अनुभवगर्भित बात की है। बहुत अनुभवगर्भित गहरी बात करी है, बहुत गहरी बात कही है। एक वाक्य में समझ में न आये ऐसी बात कही है कि निर्पक्ष होकर सत्संग करना यानि क्या? सब misconcept छोड़ने को तैयार हुआ है ऐसे जीव की बात है। वह सत्संग करे तो उसे बराबर समझ में आयेगा, सत् समझ में आयेगा।

सत् यानि क्या? विपरीत अभिप्राय विरुद्ध जिसका स्वरूप है वह सत्। सत् यानि क्या? यह एक दूसरे प्रकार से उसकी व्याख्या हो रही है। विपरीत अभिप्राय से विरुद्ध जिसका स्वरूप है, उसका नाम सत् है नास्ति से सत् की परिभाषा लेते हैं। अस्ति से ले तो सत् समझ में आया यानि केवल सब misconcept छूट गये हो, सब विपरीत अभिप्राय, समस्त विपर्यास मिटे हो तब सत् समझ में आयेगा। इस प्रकार से सत्संग हुआ हो तो सत्पुरुष को पहचान सकते है। क्या? और सत्पुरुष को पहचाने तो व्यावहारिक कल्पना मिटे। फिर न तो उनकी उम्र को देखे, ना ही उसकी जाति को देखे पुरुषजाति है कि स्त्रीजाति है यह न देखे, न उसकी उम्र देखे, न उनका दिखाव देखे, न ही उनकी कोई भी व्यावहारिक प्रवृत्ति के न देखे। वह व्यापार करते हैं कि नौकरी करते हैं कि मजदूरी करते हैं कि घर का काम करते हैं कि निवृत्त है कि प्रवृत्त है, शास्त्र पढ़ते हैं या शास्त्र नहीं पढ़ते हैं, शास्त्र का ज्ञान है या ज्ञान नहीं है, त्याग है या त्याग नहीं है। कुछ नहीं देखता। बाह्य दृष्टि छूट जाती है। पहचाने तो बाह्य दृष्टि छूट जाती है, क्यों? कि पहचान होने में उनकी अंतर परिणित देखी है। अंतर परिणित बिना ज्ञानी की पहचान नहीं होती।

दूसरी बार 'तारदेव' में प्रवचन करने गया तब मुझे प्रश्न किया था कि सत्पुरुष का बाह्य लक्षण क्या? (मैंने कहा) कोई बाह्य लक्षण नहीं है। कोई बाह्य लक्षण है ही नहीं। सिर्फ इतना पूछा, 'प्रयोजन सिद्धि' दर्शनमोह पर जो article है वह पढ़ा है? तो कहा, नहीं पढ़ा है, पढ़ लेना। क्यों? कि दर्शनमोह संबंधी हमारा कोई ध्यान न हो, उस संबंधित कोई विचारणा न हो तो दर्शनमोह मंद होने में और दर्शनमोह का अभाव होने में कौन-कौन से factors काम करते हैं, यह कुछ मालूम नहीं होता। फिर सत्पुरुष की पहचान कहाँ से होगी?

सत्पुरुष तो वह है कि जिन्होंने दर्शनमोह का अभाव किया है। मुमुक्षु वह कि जिसने दर्शनमोह को मंद किया है। सत्संग में बैठता है इसीलिये मुमुक्षु है, मंदिर में आता है इसीलिये मुमुक्षु है, मुमुक्षु मंडल की fees भरता है, सदस्य है इसीलिये मुमुक्षु है वह बात यहाँ नहीं है, बिल्कुल वह बात नहीं है। मुमुक्षुता दर्शनमोह की मंदता से शुरू होती है और जैसे-जैसे दर्शनमोह घटता जाता है वैसे-वैसे मुमुक्षुता वर्धमान होती जाती है। अभाव होता है तब ज्ञानदशा प्राप्त होती है। मंद हुये बिना कभी अभाव नहीं होता। यह अभाव होने का पूर्व क्रम है। यह क्रम तो गुरुदेव ने, गुरुदेवश्री के वचनामृत में ३०० नंबर के वचनामृत में लिया है। दर्शनमोह मंद हुये बिना भावभासन होता नहीं और अभाव हुये बिना सम्यग्दर्शन होता नहीं। दो बात इस प्रकार ली है, क्या?

(मुमुक्षु को) जब सत् समझ में आता है तब उसे कितने ही विपरीत अभिप्राय मंद हुये हैं, कितने का नाश किया है, फिर उसे पहचान होने की योग्यता होती है उसको सत् समझ में आया ऐसा कहने में आता है। इस भूमिका का सत् समझ में आया। यहाँ सत् यानि आत्मस्वरूप समझ में आया ऐसा नहीं है, यहाँ वह बात नहीं है। इसीलिये जो सत् है वह 'निष्पक्ष होकर सत्संग करे तो सत् मालूम होता है,..' सत् में इतनी बात है। आत्मा मालूम होता है, यह बात नहीं है यहाँ। क्योंकि अभी तो सत्पुरुष की पहचान होने में प्रथम समिकत है। और वह सत् ज्ञात हो तब तो तीसरा समिकत होता है, आत्मा ज्ञात हो तब तो। इसीलिये वह बात तो यहाँ नहीं है। यहाँ तो जिस भूमिका की बात चलती हो उस अनुसार उसका अर्थ होता है। क्या?

मुमुक्षु:- भाईश्री, एक शंका होती है कि कोई सत्पुरुष को मैं सत्पुरुष मानता हूँ, मानकर भक्ति करता हूँ, भले ही ओघसंज्ञा से करता हूँ। मुझे भान है कि अभी पहचान नहीं हुयी है, तो इस प्रकार से जो व्यवहार होता है तो क्या यह पूर्वाग्रह से होता है?

पूज्य भाईश्री:- पूर्वाग्रह तो है ही और साथ-साथ पहचान करने की हमारी तीव्र जिज्ञासा भी होनी जरूरी है। यह बात भी हमारे लक्ष में होनी चाहिये, एक बात। दूसरी बात वह है कि ओघसंज्ञा में लंबा काल रहने से फायदा नहीं है, नुकसान होने की संभावना है। लंबा काल सत्संग का योग मिले और हमारी ओघसंज्ञा नहीं जाती है इसका मतलब क्या हुआ? हमें कोई दरकार नहीं है अथवा हम परलक्ष से सत्संग करते हैं या हमारा कोई अन्यथा हेतु है। निष्कामता नहीं रही वहाँ, कोई न कोई सकामता है जिसका हमको पता नहीं भी हो सकता है।

बहुत सूक्ष्म सकामता कैसे रहती है, उसका एक दृष्टांत बता दें आपको। कैसी सूक्ष्म सकामता रहती है। स्थूल रूप से आपको पैसा भी नहीं चाहिये और मान भी नहीं चाहिये। और सकामता तो दो ही विषय में रहती है। एक कुछ पदार्थ चाहिये या स्थान चाहिये, मान में स्थान चाहिये। अब स्थान तो आप कोई designation लेकर तो बैठे नहीं हो। फिर भी सूक्ष्मता क्या है? कि किसी न किसी प्रकार की हमारी गिनती हम कर ही लेते हैं। किसी न किसी प्रकार का हमारा कोई न कोई स्थान हमने निश्चय कर ही लिया है कि इस group में हमारा यही स्थान है। आपकी कल्पना से कोई बात आप के विरुद्ध आयी, सत्संग में। दृष्टांत ले तो, आपको कोई ऐसा स्पष्ट कह दे कि आप zero में हो। आप भले ही अपने आपको कुछ भी मानते हो, आप zero में हो। और आपको द्वेष हो उसका अर्थ क्या? कि आप सकाम रूप से सत्संग का सेवन करते हो। आप सकामता से सत्संग का सेवन करते हो। क्योंकि कोई न कोई स्थान से आप च्युत हुये ऐसा आपको (लगा)। सामने वाला आपको च्युत करता है ऐसा आपको अनुभव होता है। आपको उसका अणगमा होता है। यदि इस प्रकार का मान का सेवन किया न हो तो अणगमा नहीं होता है। मान-सेवन किया हो तो ही अणगमा होता है। यह तो आपको कुछ नहीं कहा है, निंदा करे तो-तो आपको क्या होगा? ये

तो एक योग्यता में ही zero बताया, परन्तु निंदा करे तो? तो-तो बहुत ही द्वेष होगा आपको। यह तो पूरी line ही अलग है।

उस वक्त ऐसी अयथार्थता न हो और यथार्थता हो उसको क्या होता है अब यह विषय विचारणीय है। क्योंकि दोनों पहलू तो अपने पास स्पष्ट होने चाहिये न। कोई ऐसा कहे कि आप zero में है, बराबर? तब तुरन्त ही स्वयं का अंतर अवलोकन शुरू हो जायेगा। उसने जिस मुद्दे पर (यह बात) कही, कोई बात पर pointout करके zero कहा न? कि आपका ऐसा भाव हुआ इसीलिये आप zero है। परिणाम की चर्च होती है न? आपके कोई परिणाम देखकर ही zero बताया न? तुरन्तु उसकी खोज शुरू हो जायेगी। कहने वाला बराबर हो तो उसको उपकारी मानेगा, अणगमा नहीं करेगा, उसे अच्छा लगेगा, उसको उपकारी मानेगा। क्या? और यदि बराबर न हो तो गंभीरता से उस बात को हजम कर लेगा। हो सकता है उसको कोई समझ में फर्क हुआ हो, ऐसा बन सकता है, अपने को तो ऐसा कुछ है नहीं। परन्तु द्वेष नहीं होगा उसको। क्यों? कि मैं किसी के certificate पर चलता नहीं। उसके zero कहने से मैं zero नहीं हो जाता। मैं क्या हूँ यह मुझे बराबर ख्याल में है, मैंने जाँच कर ली। उसको समझने में कोई फर्क हुआ लगता है, कोई बात नहीं।

कई बार कोई बताने वाला ऐसा भी कहे कि देखिये, मैं आपको कहता हूँ, आपको बुरा तो नहीं लगेगा न? अरे भाई, सवाल ही नहीं है बुरा लगने का। वह प्रश्न ही अस्थान में है। आप गलत हो तो भी बुरा लगने का सवाल नहीं है, सच्चे हो फिर तो आप उपकारी ही हो। उसका दूसरा कोई विकल्प नहीं है, उपकारी लगने के सिवाय। इस प्रकार सकामता का किस तरह सेवन होता है, यह निकालना बहुत मुश्किल है। उसमें भी संस्था में कोई designation हो, अथवा न हो और कोई काम-सेवा करता हो और फिर उसमें सामने कोई बात आये उस वक्त तो बहुत ध्यान रखना। आप कोई काम सँभालते हो। काम सँभालने में तो क्या है कि आपको दूसरे मुमुक्षुओं के साथ कभी तकरार भी हो जाये, कोई भूल बताये, आपकी धारणा अनुसार न हो, कुछ न कुछ, कोई न कोई प्रकार चलता हो। यहाँ कोई स्थान निश्चित हुआ हो तो गड़बड़ हुये बिना रहेगी नहीं। और वह सकामता है। सकामता मिलनता को लाती है। इसीलिये

ओघसंज्ञा में यदि लंबा समय जीव व्यतीत करे तो एक नयी विटंबना खड़ी होती है, नयी विटंबना में आता है। क्योंकि उसने उतने लंबे समय अनजाने में भी सकामता को दृढ़ कर लिया। उसको निष्कामता में आना, अथवा निष्पक्ष होकर सत्संग करना यह बात अधिक मुश्किल, कठिन, दुर्लभ हो जाती है। कितनी गहराई है, सोभागभाई की बात में कितनी गहराई है।

मुमुक्षु:- सबसे अधम से अधम मैं स्वयं हूँ, ऐसा स्वयं को निर्धार न हो तब तक यह सकामता रहती है?

पूज्य भाईश्री:- दृष्टांत रूप में, आप कई बार ऐसा कहते हो कि मेरे में बहुत दोष भरे हैं। लेकिन कभी कोई दोष बताता है तो बुरा क्यों लगता है? होता है कि नहीं? अभी एक प्रसंग बन गया, उस पर से चर्चा करता हूँ। बहुत निखालसता से बात है कि चर्चा दरम्यान तो आप स्वीकार करते हो कि मेरे में बहुत दोष भरे हैं। इतने लंबे समय से आप निवृत्त हो, कुटुम्ब-परिवार का ममत्व होने का कोई उदय नहीं है, उदयभाव तो है, आपको उदय नहीं है। उदयभाव तो है यह तो आप कबूल कर सकते हो। परन्तु उदय हो उसको ज्यादा दूढ़ होता है कि यह लड़का मेरा है। रोज नजर के सामने, मेरा लड़का, मेरा लड़का खाता है, पीता है, स्वस्थ है, बीमार है हुआ ही करता है। उसे तो दृढ़ होता ही रहता है, क्या? उदय न हो उसे कभी-कभी उदयभाव आ जाता है। क्योंकि वह सब तो पड़ा ही है, इसीलिये अन्दर से आ ही जाता है, क्या? फिर भी कोई दोष बताये तब अणगमा क्यों हो जाता है? पहले वाली बात कहाँ गयी? जो बात आपने कही कि मेरे में दोष बहुत है, वह बात उस वक्त कहाँ चली गयी? उस बात की absence क्यों हो गयी? अतः पहले जो बात कही है कि मेरे में बहुत दोष है, वह बात यथार्थ प्रकार से नहीं की है। यदि यथार्थ प्रकार से की हो तो दोष बताने वाले का तत्काल उपकार भाव आ जाये। अच्छा हुआ मुझे दिखाया, मेरे लाभ का कारण किया, मेरा लाभ कराने वाला है, यह मुझे लाभ कराने वाला है, यह मुझे लाभ कराने वाला है। उसके प्रति बहुत ही बहुमान आता है, उपकार आता है और बहुमान आता है। नहीं तो द्वेष हुये बिना रहेगा नहीं। ऐसा है। द्वेष ही है न, दूसरा क्या है? अणगमा का भाव द्वेष ही है। राग थोड़े ही है, वह तो द्वेष ही है, स्पष्ट द्वेष है वह तो।

वीतराग मार्ग में प्रवेश कैसे होता है यह बहुत बड़ी बात है। अनंतकाल में नहीं किया ऐसा अपूर्व अब करना है और मैं अपूर्व करने के लिये यहाँ आया हूँ, पूर्वानुपूर्व करने के लिये मैं नहीं आया हूँ। अनंतबार सत्पुरुष मिले, अनंतबार निर्ग्रंथ मुनि मिले, अनंतबार समवसरण में गया, ये सब सत्संग अनंतबार मिल गये हैं। निष्फल होने के कारणों का इस जीव ने सेवन किया है, उसका मुख्य कारण पूर्वाग्रह है। ६०९ पत्र में चार कारण लिये न? उसमें कृपाल्देव ने 'पूर्वाग्रह' शब्द पहले लिया है। मिथ्याग्रह लिया है। मिथ्याआग्रह कहो या पूर्वाग्रह कहो, दोनों एक ही बात है। आग्रह और ग्रह। पूर्वाग्रह यानि पूर्व में मिथ्या ग्रहण किया है वह और उसकी पकड़ हुयी इसीलिये आग्रह हुआ। न छूटे उसका नाम पकड़ है, न छूटे उसका नाम पकड़ है। मिथ्याआग्रह लिया है यानि पकड़ है। वह पकड़ ढ़ीली कब हो? कि स्वयं ऐसा समझकर बैठे कि मेरे पूर्वाग्रह, मिथ्याआग्रह छोड़ने के लिये मैं यहाँ आया हूँ। ऐसा अभिप्राय लेकर बैठे तो वह सब अन्दर ही अन्दर ढ़ीले पड़ गये। उदय आने के पूर्व ही ढ़ीले पड़ गये। फिर जो-जो अपने पूर्वाग्रह, मिथ्याआग्रह के सामने बात आये वह तोड़ता जाये, छोड़ता जाये, वह तोड़ता जाये, उसे सुधारता जाये। तब उसे निष्पक्ष होकर, सत्संग करके सत् समझा ऐसा कहने में आता है। सत् समझे उसे सत्पुरुष की पहचान होती है, तब सत्पुरुष की पहचान होती है।

अब यह बात थोड़ी सोभागभाई के वचनों से उसकी गंभीरता समझ आना, उसकी गंभीरता समझना अथवा उसकी विशेषता समझ में आना इतना आसान नहीं है, कठिन पड़ता है। क्योंकि उस विषय में उतनी विचारणा नहीं चली है। कृपालुदेव ने ६७४ पत्र में line clear कर दी कि यदि तू निष्पक्ष होकर सत्पुरुष के सत्संग में आये तो उनकी बातों से बौद्धिक स्तर पर यदि तुझे विश्वास आयेगा तो तुझे वह सत्संग चालू रखने का एक प्रकार खड़ा होगा। कि बराबर है, जहाँ-जहाँ मेरी भूल होती है उस भूल में से निकालने की बात जरूर आती है। जिस-जिस प्रकार से मेरी भूल होती है, उस-उस प्रकार से मेरी भूल छुड़ाते हैं। ऐसी कोई बात नहीं रहती कि मेरी भूल छुड़ाने की कोई बात नहीं आती हो। ऐसा ज्ञानी के बिना नहीं हो सकता। क्यों? कि उलझन में आये हुये मनुष्यों के प्रश्न आने वाले हैं। जो प्रश्न आयेंगे वह तो उलझन में आये हुये मनुष्यों के अने वाले हैं, अथवा tension वाले का आने वाला है। यथार्थ प्रकार से

उसकी उलझन मिटे और उसका tension छूटे, कम हो, tension मंद पड़ जाये अथवा छूट जाये, दो में से एक बने, ऐसा अनुभव उस जीव को हो तो ही विश्वास आये। यह अनुभव से आया हुआ विश्वास है। तब विश्वास ऐसा आता है कि दूसरे सब इन्हें ज्ञानी मानते हो, परन्तु होने तो चाहिये। मेरी उलझन का समाधान तो करते हैं, जहाँ-जहाँ मेरी उलझन है उसका समाधान तो करते हैं। ऐसा हर जगह नहीं बनता। जिसके पास उसका समाधान नहीं होता, वह गोल-गोल, गोल-गोल करके विषयांतर करके जवाब दे देगा। सामने वाला इतनी गहरी समझ वाला नहीं हो, इसीलिये समाधान नहीं हो तो भी उसे मौन रह जाना पड़ता है। दूसरा तो कोई उपाय है नहीं, अपने से कुछ ज्यादा समझदार है, हम समझ नहीं सकते हैं ऐसा करके मिथ्या समाधान कर लेता है। परन्तु clear cut, जिस प्रकार की उलझन हो उस उलझन में से बाहर निकाल सके ऐसा ज्ञानी ही कर सकते हैं। क्योंकि ज्ञानी, उसका मिथ्या अभिप्राय, उसका दर्शनमोह, उसकी योग्यता बराबर समझते हैं, नापते हैं और उसका समाधान कर देते हैं। अतः उसकी उलझन मिटे या tension मिटे या घटे, तब उसे अनुभव से विश्वास आता है कि (ज्ञानी) हो सकते हैं। तो वह (उनके) अधिक समीप जाता है। फिर (परिभ्रमण की) वेदना में आकर, यथार्थ प्रकार से उदासीनता के क्रम में प्रवेश करके, और पूर्णता का लक्ष्य बाँधे, दृढ़ मुमुक्षुता में आये तो मोहासक्ति के परिणाम में अकुलाकर आकुलता देखना शुरु करे-ये एक point है।

स्वयं को लागू हो ऐसा उपदेश सत्संग में आये और उसके अमलीकरण में तत्पर होकर, तत्काल अमलीकरण के प्रयत्न में आता है। और अंतर्मुख होने की अंतरात्मवृत्ति उसकी उत्पन्न होती है कि मैं अंतर्मुख कैसे होऊँ? और उसकी खोज में, ऐसी जिज्ञासा में आकर सत्पुरुष की अंतर्मुख हुयी है ऐसी अंतरात्मवृत्ति को वह देख सकता है। तब उसे वास्तविक पहचान होती है। इसके पहले विश्वास आया है। (जिसने ऐसी अंतर्मुखवृत्ति को पहचाना उसे) कृपालुदेव ने register किया कि जिसके गर्भ में दूसरा समिकत आ गया है। वह जीव अवश्य अपने स्वरूप की पहचान करेगा, वह जीव अवश्य स्वरूप की पहचान और भावभासनपूर्वक स्वानुभव करेगा और वह जीव अवश्य स्वानुभवपूर्वक निर्वाणपद को प्राप्त करेगा।

इसीलिये कृपालुदेव ने एक जगह कहा कि अनंतकाल में सत्पुरुष की पहचान हुयी नहीं, एक बार पहचान हो तो वह निर्वाणपद का अधिकारी है। एक पत्र मे यह बात ली है। यहाँ तक हम रखते हैं।



प्रवचन-03, पत्रांक-333 (2)

प्रवचन-03, पत्रांक-333 (2)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत) ३३३वाँ पत्र चल रहा है, पृष्ठ-३१८ है। फूटनोट में सोभागभाई ने जो उत्तर दिया है उस पर अपनी चर्चा चल रही है। 'निष्पक्ष होकर सत्संग करे तो सत् मालूम होता है,..' सत्संग करना, स्वाध्याय करना, इस विषय में अनेक प्रकार से ज्ञानियों ने मार्गदर्शन दिया है। अनेक पहलूओं से उसमें मार्गदर्शन दिया है, उसके बहुत पहलू है, उसमें से यह एक महत्त्वपूर्ण पहलू यहाँ सोभागभाई ने स्वयं की अंतर सूझ से खोला है। इसमें से ऐसा भी फलित होता है अथवा सिद्ध होता है कि यदि जीव यथार्थ प्रकार से सत्संग करे तो उसे सत्पुरुष की पहचान होने का प्रसंग होगा। सत्पुरुष की पहचान नहीं होती है, जीव सत्संग भी करता है और सत्पुरुष की पहचान भी नहीं होती है, ऐसा जो चलता है, बहुभाग ऐसा चलता है, यह ऐसा सूचित करता है कि जीव यथार्थ प्रकार से सत्संग करता नहीं है।

उस यथार्थ प्रकार में यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि पूर्व के आग्रह हैं वह जीव को कोई न कोई पक्ष में रखता है। जैसा जिस विषय का आग्रह होता है उसका पक्ष अपने आप आ जाता है। ऐसे तो उसके अनेक प्रकार हैं और व्यक्तिगत रूप से उसमें थोड़ा-थोड़ा फर्क है। मुख्यरूप से कितने ही common है और कुछ गौणरूप से जो होते हैं उसमें फर्क भी होता है। अतः वह विषय थोड़ा विशाल हो जाता है। परन्तु उसका उपाय संक्षेप में है और वह बहुत सुन्दर है कि निष्पक्ष होना हो तो क्या करना? कि केवल आत्म कल्याण के लक्ष से ही स्वाध्याय करना, सत्संग करना। (इससे) बहुत फर्क पड़ेगा। कितना फर्क पड़ेगा? बहुत फर्क पड़ेगा।

ज्ञानीपुरुषों की अथवा शास्त्रवचनों की जो-जो बातें हैं उसमें आत्मकल्याण का आशय रहता है और वह आशय उसमे ग्रहण होता है, यदि अपना लक्ष केवल आत्मकल्याण का हो तो। अन्यथा वह आशय ग्रहण नहीं होता है यानि सत् समझ में नहीं आता है। अतः पूर्वाग्रह छोड़ने की एक ही दवा है, समस्त प्रकार के पूर्वाग्रहों को

प्रवचन-03,

छोड़ने के लिये अथवा ढीले करने के लिये एक ही दवा है कि मैं यहाँ मेरा आत्मकल्याण करने के लिये बैठा हूँ और इससे अतिरिक्त मेरा कोई उद्देश नहीं है। उसमें निष्कामता भी आती है। नहीं तो पूर्वाग्रह, मिथ्याआग्रह, सकामता ये सब factor सत्संग को खा जायेंगे। (इतनी पूर्व तैयारी होने के बाद) सत्पुरुष का प्रत्यक्ष योग हो तो पहचाने, क्योंकि योग्यता आयी है। आत्मकल्याण के लक्ष के कारण योग्यता आती है और इस योग्यता की चर्चा हमने कल के स्वाध्याय में ६७४ पत्र अनुसार की। दृढ़ मुमुक्षुता प्राप्त होने पर, प्राप्त उपदेश को अवधारण करके और अंतरात्मवृत्ति जाग्रत होने पर (ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है)।

'पहचाने तो व्यवहारिक कल्पना दूर होती है।' अर्थात् उनके व्यवहार संबंधित जो कल्पना होती थी वह नष्ट होती है। अथवा अपने समान जो कल्पना होती थी वह भी नष्ट होती है, अंतर दिखाई देता है कि मेरे में और उनमें बहुत फर्क है। यानि अपने तरीके से जो कल्पना करता था वह छूट जाती है। उनका अंतर स्वरूप जानने से बाह्य व्यवहार से जो व्यावहारिक कल्पना करता था वह भी नष्ट होती है। 'इसीलिये पक्षरहित होकर सत्संग करना चाहिये।' पूर्वाग्रह छोड़कर, मिथ्याआग्रह छोड़कर, परलक्ष छोड़कर, केवल आत्मकल्याण के लक्ष से सत्संग करना। इसके सिवाय 'इस उपायके सिवाय दूसरा कोई उपाय नहीं है।' उपाय का विचार करे तो यह एक ही उपाय है।

बाकी कोई जीव के लिये 'भगवत्कृपा...' यानि वह ऐसी ही योग्यता में हो तो 'बात और है।' उसमें क्या है कि कोई पूर्वसंस्कार का कारण हो। पूर्व में कोई सत्संग की आराधना की हो अथवा कोई ऐसी ही योग्यता हो कि ज्ञानी पुरुष का योग होने पर उनकी एक-एक बात उसकी आत्मा में चोंटती जाये, तो वह उनकी भगवत्कृपा हो गयी। उस जीव का होनहार ही इतना अच्छा है कि सीधा-सीधा उसे सब सुल्टा होने लगता है। (उतना) होनहार अच्छा है। वह भगवत्कृपा हो गयी। ऐसे भी कोई जीव होते हैं कि सीधा लाईन पर चढ़ जाते है और मार्ग में आ जाते है।

कितने ही जीवों को अपने ही उपादान के कारण सत्य उपदेश प्राप्त होने पर भी उस उपदेश को परिणमित करने में बहुत विटंबनाओं का सामना करना पड़ता है। कोई प्रवचन-03,

जीव को सहजमात्र में भी काम होता हुआ देखा जाता है। वह सहजमात्र में काम होता हुआ दिखाई देता है उसे यहाँ सोभागभाई ने भगवत्कृपा कह दिया है। दोनों बात लिखी। उपाय स्पष्ट लिखा। किसी को ऐसा कोई सूझपूर्वक का उपाय न हो तो भी सहज-सहज ही उसे सब सीधा ग्रहण हो ऐसा ही प्रकार होता है, उसे भगवत्कृपा कहना चाहिये। अथवा उसे भाग्यशाली गिनना चाहिये। दोनों प्रकार का उत्तर लिखा है, निसर्गात (और) अधिगमात्व उसके जैसी बात है। वहाँ भी पूर्वसंस्कार की बात है।

'ऐसा उत्तर…' ऐसा उत्तर ज्ञानी लिख सकता है अथवा कह सकता है अथवा जान सकता है। 'अथवा ज्ञानी का आश्रित मात्र…' (अर्थात्) जिसने ज्ञानी की आज्ञाकारिता स्वीकृत की हो, वह जान सकता है। आज्ञाकारिता, निर्मलता बहुत लाती है। आज्ञाकारिता में हो उसे ज्ञानी का आश्रित कहने में आता है और वह निर्मलता बहुत लाती है। इसीलिये उसे ऐसे उत्तर की सूझ आती है। या तो ज्ञानी को ऐसी सूझ होती है अथवा ज्ञानी का आश्रित हो उसे ऐसी सूझ होती है, ऐसा कहना है।

ज्ञानी का प्रत्यक्ष योग हो और लंबे समय तक प्रत्यक्ष योग हो तो भी यिद आज्ञांकितपने सत्संग की उपासना न की हो, तो चाहे जैसी परमार्थ की स्पष्ट बात कहते हो या लिखकर देते हो, इसमें तो पत्र लिखते थे, प्रत्यक्ष हो तो कहे और परोक्ष हो तो पत्र लिखे (परंतु आज्ञांकित नहीं होता इसीलिये) ऊपर से जाता है। (वह बात) जीव को समझने में नहीं आती अथवा उस परमार्थ की बात पर जीव का लक्ष नहीं जाता यानि ऊपर से जाता है। अतः आज्ञाकारिता का factor भी बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

मुमुक्षु:- आज्ञाकारिता और आत्महित की भावना दोनों एक है न?

पूज्य भाईश्री:- दोनों एक ही coordination वाले आनुसंगिक परिणाम है। जिसे वास्तव में आत्मकल्याण की भावना हो वह आज्ञाकारिता में आ ही जाता है। क्योंकि दोनों साथ में रहते हैं, अविनाभावी है।

'मार्ग कैसा हो इसका जिन्हें ज्ञान नहीं है...' मार्ग यानि आत्मकल्याण का उपाय 'कैसा हो इसका जिन्हें ज्ञान नहीं है..' यानि ऐसा बोध जिसे परिणमित भी नहीं हुआ प्रवचन-03,

है 'ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते,..' क्यों? कि शास्त्र अभ्यास में theory का अभ्यास हुआ होता है, practical side बाकी रहता है। वह इसका उत्तर नहीं दे सकते। क्योंकि सत्पुरुष को पहचानने के लिये उसे कितने ही प्रयोग में आना पड़ता है। उसे अनुभव ज्ञान होता है तब पहचान होती है। क्योंकि सामने भी अनुभव को पहचानना है, सामने भी यदि अनुभव को पहचानना है तो, यहाँ अनुभव हो तो पहचान होती है। स्पष्ट बात यह है कि अनुभव के विषय में अनुभव हो उसकी चोंच डूबती है, नहीं तो चोंच नहीं डूबती। यह स्पष्ट बात है, क्या?

'ऐसे शास्त्राभ्यासी पुरुष उसका यथार्थ उत्तर नहीं दे सकते, यह भी यथार्थ ही है।' ऐसा सोभागभाई ने लिखा है। वह भी आपने लिखा यह यथार्थ ही है। क्या? 'शुद्धता विचारे ध्यावे' इस पद के विषय में अब फिर लिखेंगे।' यानि सोभागभाई ने पत्र में लिखा होगा कि आपने जो लिखा है कि 'शुद्धता विचारे ध्यावे, शुद्धता में केलि करे, शुद्धता में स्थिर रहे, अमृतधारा बरसे।' बनारसीदासजी का जो पद आगे के पत्र में आ गया, उस पर आप कुछ विशेष लिखिये, समझाईये ऐसी विनती की होगी, तो कहते हैं, इस विषय में अब फिर लिखेंगे। क्यों? कि वह ज्ञानदशा का विषय है। इसीलिये अभी और परिपक्व होने दो, अभी और आगे बढ़ो, और आगे बढ़ो, इस विषय के लिये अभी और आगे बढ़ो। (१३: मिनिट तक)



प्रवचन-04,

प्रवचन-04, पत्रांक-335 (1)

(श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-३३५)। शीर्षक ही ऐसा लिखा है 'उदास-परिणाम आत्मा को भजा करता है।' अत्यंत उदासीनता! एक ओर व्यापार के काम का दबाव बढ़ा है। इस २५वें और २६वें वर्ष में काम का दबाव बहुत रहा है उनको और दूसरी ओर उनकी उदासीनता उतनी ही बढ़ी है। ऐसा नहीं है कि काम बढ़ गया इसीलिये उसके घरावे में आ गये हैं। 'उदास-परिणाम आत्मा को भजा करता है।' और पत्र में तो पुनः दो बार लिखा है, शीर्षक में एक बार लिखा और पत्र में दो बार लिखा है कि उदास-परिणाम आत्मा को भजा करते है।

'पूज्य श्री सोभागभाई, समझने के लिये जो विवरण लिखा है, वह सत्य है। जब तक ये बातें जीव की समझ में नहीं आती, तब तक यथार्थ उदासीन परिणित का होना भी कठिन लगता है।' उन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार में कोई (बात चली होगी)। (श्री सोभागभाई के) इस समय के पत्र अभी हमें इसमें नहीं मिले हैं। ३७८ (पत्र से) करीब मिलेंगे ऐसा है। परंतु कोई बात उन्होंने लिखी है कि ऐसी समझ होनी चाहिये, ऐसी समझ होनी चाहिये। वह समझने के विषय में जो बात आपने लिखी है वह सत्य है, यथार्थ है। इसीलिये ऐसा लगता है कि उनकी बात को वे यथार्थ कहते थे और सत्य है ऐसा कहते थे। तो उनकी अंतर सूझ और निर्मलता तो थी ही, परंतु वह अंतर-सूझ और निर्मलता में भी कोई एक प्रकार का उनका मुमुक्षु की भूमिका का अनुभव भी काम करता होगा। अन्यथा ऐसी (सूझ) आती नहीं।

एक तो उनको अत्यंत भक्ति और कृपालुदेव के प्रति परम प्रेम था, वह भी दर्शनमोह के गलने से उत्पन्न होने वाली निर्मलता का कारण बनता है। और दूसरा, वे भी अपने उदय में कुछ न कुछ प्रयोग में चढ़ते होंगे, करते होंगे, ऐसा लगता है।

मुमुक्षु:- सोभागभाई के पत्रों की कमी लगती है।

प्रवचन-04,

पूज्य भाईश्री:- हाँ, सत्य बात है। कृपालुदेव को पत्र मिले लेकिन वह सब व्यवस्थित कौन रखे? उनका कोई assistant (सहायक) उस समय नहीं था। अन्यथा क्या है कि कोई व्यवस्था कर दे तो रह जाये। स्वयं का उपयोग तो उतना चलता नहीं था। अतः कहीं भी पड़े रहे और कहीं भी पत्र नष्ट हो जाये।

'जब तक ये बातें जीव की समझ में नहीं आती, तब तक यथार्थ उदासीन परिणित का होना भी बहुत कठिन लगता है।' अर्थात् यह सब परिणमन की बातें हैं। परिणमन के स्तर पर अम्लीकरण के विषय में भी सोभागभाई होने चाहिये ऐसा लगता है। क्योंकि उदासीनता की बात आयी वह परिणमन की आयी। मात्र कोई तत्त्व-चर्चा का विषय समझने में नहीं है। उदासीनता को उन्होंने जोड़ा है। अर्थात् वे स्वयं उस अनुभव में से गुजरे हो, ऐसे उसका जवाब दे सके ऐसी बात है।

ऐसा है कि प्रश्न तो कोई भी आये, अनुभव के बिना सच्चा जवाब नहीं निकलता। क्योंकि अनुभव, experience is the great teacher (अनुभव महान शिक्षक है)। अंग्रेजी में कहावत यह है, experience is the great teacher. और हमारे यहाँ अपने आगमों में तो बहुत स्पष्ट उल्लेख है कि आत्मा ही परमगुरु है, आत्मा ही परमगुरु है। क्योंकि अनुभव ही उसे सब समझाता है और सिखाता है। उसका अनुभव ही उसे सब समझाता है और सिखाता है। इसीलिये आत्मा का गुरु है उतना ही नहीं, आत्मा ही आत्मा का परमगुरु है, बाकी सब अपरमगुरु में जाते हैं। क्योंकि अन्य है इसीलिये अपरम में जाते हैं और यह परम में आता है।

मुमुक्षु:- ऊँचे से ऊँचा प्रमाण अनुभवप्रमाण है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, आगम में पाँच प्रमाण हैं-आगमप्रमाण, युक्तिप्रमाण, अनुमानप्रमाण और न्यायप्रमाण और पाँचवां है अनुभवप्रमाण। इन पाँचों में अनुभवप्रमाण बलवान है। प्रमाण तो सभी प्रमाण ही हैं, परंतु अनुभवप्रमाण बलवान है। क्योंकि बाकी के सभी thinking level (सोच के स्तर) के हैं और यह वेदन-गोचर feeling level (अनुभव स्तर) के है इसीलिये, यह प्रमाण feeling level में

प्रवचन-04,

आता है। बाकी के चारों प्रमाण thinking level में जाते हैं। दोनों का level ही अलग है।

'सत्पुरुष पहचानने में क्यों नहीं आते?' इत्यादि प्रश्न उत्तर सहित लिख भेजने का विचार तो होता है'। स्वयं ने तो लिखा है, परंतु आप तो लिखिये ऐसा कहते हैं। हमने तो आपने पूछा इसीलिये जवाब लिखा, लेकिन उस विषय में आप तो लिखिये, ऐसा कहते हैं कि क्यों पहचानने में नहीं आते? 'सत्पुरुष पहचानने में क्यों नहीं आते?' इत्यादि प्रश्न उत्तर सहित लिख भेजने का विचार तो होता है;..' प्रश्न भी लिखिये और उसका उत्तर भी दीजिये, ऐसा कहते हैं। 'परंतु लिखने में चित्त जैसा चाहिये वैसा नहीं रहता।' उपयोग नहीं रहता है, उपयोग बदल जाता है, ऐसा कहते हैं। क्या? अन्दर का परिणित का current (धारा) ऐसा चलता है कि उपयोग उस ओर खिंचता है। उपयोग नहीं चलता। उसमें क्या है कि कितने ही काम में अमुक हद तक रस लें तो ही वह काम होता है। इसीलिये जो लिखने का विकल्प है उसमें भी अमुक हद तक रस हो तो लिखा जाता है, बोलने का जो विकल्प है उसमें अमुक हद तक रस हो तो बोला जाता है। रस की degree (मात्रा) होती है। वह degree हमारे पास नहीं है, ऐसा कहते हैं। इसीलिये लिखा नहीं जाता।

'परंतु लिखने में चित्त जैसा चाहिये वैसा नहीं रहता और वह भी अल्प काल रहता है, इसीलिये निर्धारित किया हुआ लिखा नहीं जाता।' चित्त अल्प काल रहता है, परंतु निर्धारित किया हुआ लिखा नहीं जाता। 'उदास-परिणाम आत्मा को अत्यंत भजा करते है।' 'अत्यंत' शब्द यहाँ डाला। 'उदास-परिणाम आत्मा को अत्यंत भजा करते है।' उदास...उदास...उदास...उदास...उदास...चित्त कहीं चोंटे नहीं। काम करना पड़े वह बोझ, बोझ, बोझ, बोझ, बोझ लगे। उदासीनता में रहते-रहते जबरदस्ती, जैसे कोई बैल को अरई मारकर चलाये उस प्रकार उपयोग चलता है। ऐसी २५वें वर्ष में उनकी दशा थी।

पत्र का शेष अंश है वह कल के स्वाध्याय में लेंगे।



प्रवचन-05, पत्रांक-335 (2)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-३३५ चलता है। थोड़ा-बहुत चल गया है। इन दिनों में बहुत उदासीनता के परिणाम चल रहे है, वह पत्र में लिखा है। आगे लिखते हैं, 'किसी अर्धजिज्ञासु वृत्ति वाले पुरुष को आठ दिन पूर्व एक पत्र भेजने के लिये लिख रखा था। पीछे से अमुक कारण से चित्त रुक जाने से वह पत्र वैसे ही पड़ा रहने दिया था, जिसे पढ़ने के लिये आपको भेज दिया है।' इसमें से उतनी बात निकलती है कि उदासीनता इतनी थी कि लिखते-लिखते उपयोग नहीं चलता है तो लिखना छोड़ देते थे, पत्र अधूरा छोड़ देते थे। इतनी उदासीनता हुआ करती थी।

अब लिखते हैं कि 'जो वस्तुतः ज्ञानी को पहचानता है वह ध्यान आदि की इच्छा नहीं करता, ऐसा हमारा अंतरंग अभिप्राय रहता है।' ध्यान के विषय में एक और बात कही है। कई मुमुक्षु लोग ज्ञानी की पहचान के विषय में तो इसका क्या बड़ा लाभ है वह तो समझते नहीं। शास्त्र पढ़ते हैं और ध्यान करने लग जाते हैं। क्योंकि शास्त्रज्ञान से पता चला कि ध्यान करने से स्वरूप में एकाग्रता हो जाती है, हो सकती है, ऐसा। तो उसके पूर्वक्रम का कोई process हुये बिना सीधा कोई ध्यान लगाकर अंतर एकाग्रता को चाहते हैं वह अक्रम से यानि गलत पद्धित से अपना काम करना चाहता है, जो कभी होने वाला है नहीं।

पहले ज्ञानी को तो पहचानो, फिर अपने स्वरूप को पहचानो, फिर ध्यान की बारी है। जो ज्ञानी को पहचानते हैं या पहचानने के विषय में लगे हुये हैं वे ध्यान में नहीं चढ़ जाते। ध्यान तो हो ही नहीं सकता, किसी न किसी प्रकार के विकल्प में चढ़ जाते हैं। चाहे वह विकल्प आत्मस्वरूप के सम्बन्धित हो तो उस विकल्प में चढ़ जाते हैं। कि जैसे मैं ध्रुव हूँ, ध्रुव हूँ, ध्रुव हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, मैं ज्ञायक हूँ, ऐसे विकल्प में चढ़ जाते हैं।

जो ज्ञानी को पहचानते हैं उसको पहले तो ज्ञानी का ध्यान होता है, स्वरूप का ध्यान होने का उसको नहीं है। वह स्वरूप-ध्यान में नहीं चढ़ जाता। उसका ध्यान तो वहीं रहता है, जैसे सोभागभाई का हुआ। स्वरूप-ध्यान में आने का सवाल नहीं रहता। क्योंिक वह अच्छी तरह जानता है कि जिस स्वरूप को मैं पहचानता नहीं उसका ध्यान मैं कहाँ से करूँगा। इसीिलये वह ध्यान का विकल्प नहीं करेगा। 'ऐसा हमारा अंतरंग अभिप्राय रहता है।' यह हमारा अंतर अभिप्राय का विषय है। कुछ बातें ऐसी होती हैं जो अंतर की होती है। ऐसे अभिप्राय के विषय में भी है, तो यह हमारा अंतरंग अभिप्राय है ऐसा कहते हैं। यह अंतर की चीज है। ध्यान करना, ज्ञानी को पहचानना यह अंतर अभिप्राय का विषय है। अंतरंग बाते हैं, उस विषय में अंतरंग अभिप्राय ऐसा है कि ऐसा नहीं होना चाहिये। बहुभाग धर्म के क्षेत्र में आजकल सामुहिक ध्यान कराने की पद्धित हो गयी है। वह बात सभी के लिये है ही नहीं, सर्व सामान्य मुमुक्षु के लिये है ही नहीं।

मुमुक्षु:- उत्तम मुमुक्षु, अमुक योग्यता वाले को सदगुरु के चरण कमल का ध्यान होता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, वही ध्यान बराबर है। वह ध्यान करना पड़ता नहीं, वह तो खाते-पीते, चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते वह ध्यान रहता है। इसीलिये उसे ध्यान में बैठने का विकल्प नहीं आता है, क्योंकि उसका ध्यान एक जगह है ही। उसका ध्यान चालू ही है, और दूसरा ध्यान करने की इच्छा ही नहीं है। वह इच्छता ही नहीं, ऐसा कहते हैं, ना कहते हैं। 'वस्तुतः ज्ञानी को पहचानता है वह ध्यान आदि की इच्छा नहीं करता,..' ऐसा कहते हैं। वह बात यथार्थ है और वह स्वयं का अंतरंग अभिप्राय है यह बताया।

'जो मात्र ज्ञानी को चाहता है,..' मात्र ज्ञानी को चाहते है यानि ज्ञानी को भी चाहते है और अनुकूलता को भी चाहते है, ज्ञानी को भी चाहते है और कुटुंब-परिवार को भी चाहते है, ज्ञानी को भी चाहते है और मान भी चाहते है, वह मात्र ज्ञानी को नहीं चाहता। दो घोड़े की सवारी इसमें नहीं चलती। जो मात्र ज्ञानी को चाहता है उसको दूसरे के प्रति, चाहे कुटुंब-परिवार हो, चाहे कुछ अनुकूलता हो, उसके प्रति

प्रेम नहीं होता। हमको तो ज्ञानी से भी प्रेम है और हमको हमारे परिवार वाले के प्रति भी प्रेम है, नहीं हो सकता।

मुमुक्षु:- परिवार वाले मुमुक्षु हो तो?

पूज्य भाईश्री:- मुमुक्षु हो तो भी, मुमुक्षु हो तो एक वात्सल्य होना अलग बात है। एक मार्ग पर चलने वाले हैं तो वह तो दूसरे भी होते हैं। उसमें परिवार वाला, बिना परिवार वाले का भेद क्यों छांटना? वह भेद क्यों इसमें? वह तो सब मुमुक्षु सरीखे हैं। मुमुक्षु के दृष्टिकोण से देखें तो सभी मुमुक्षु सरीखे ही होते हैं। उसमें ये परिवार वाले हैं इसीलिये कुछ अधिक प्रेम हो, तो वह बात तो गड़बड़ वाली हो ही गयी। यह कोई कुटुंब में झगड़ा कराने की बात नहीं है, होता है क्या उसकी बात है कि सहज ऐसा ही होता है।

एक के प्रति अधिक झुकाव होने से ओर जगह से जीव सहज हट जाता है। एक ओर अधिक झुकाव होने से, तीव्र झुकाव होने से दूसरी हर जगह से हट जाता है। क्यों? कि एक ओर अधिक झुक गया तो फिर दूसरी जगह झुकने का कैसे हुआ? कैसे हुआ? हो ही नहीं सकता, practically possible ही नहीं है। इसीलिये कहते हैं कि 'जो मात्र ज्ञानी को चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है, और वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।' अगर कोई ऐसा मुमुक्षु है कि जो मात्र ज्ञानी को ही इच्छता है और उनको पहचानता भी है और उसकी परिणित उनको ही भजती है, अगर कोई ऐसा है तो वह उत्तम मुमुक्षु है ऐसा जानना चाहिये। फिर इनके दूसरे-दूसरे कोई दोष दिखे तो उसकी मुख्यता नहीं होनी चाहिये। क्योंकि मुमुक्षु की भूमिका में कोई सर्वगुण संपन्न होता है ऐसी बात हो ही नहीं सकती। और प्रकृति के परिणाम तो ज्ञानी में भी दिखने में आयेगा। लेकिन ज्ञानी हुआ वही सबसे बड़ा गुण है। ऐसे इस तरह से जिसके परिणाम, जिसकी परिणित ज्ञानी को भजती है वह बहुत बड़ा गुण है। इसीलिये दूसरी सब बातें गौण होनी चाहिये और उसे उत्तम मुमुक्षु कहना चाहिये, जानना चाहिये। सिर्फ कहना चाहिये नहीं, जानना चाहिये।

मुमुक्षु:- उसे परम विवेक प्रगट हुआ है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, क्यों? कि दर्शनमोह का अनुभाग तोड़ने में, दर्शनमोह की ताकत तोड़ने में बहुत बड़ा काम हो गया उसका तो, एक बहुत अच्छा साधन हो गया इसके परिणाम में। तो वह काम दर्शनमोह को मारने के लिये इतना बड़ा काम किया तो उसको इस तरह से consider करना चाहिये। उसकी गिनती उसी तरह से होनी चाहिये कि दर्शनमोह को मारता है, उसने दर्शनमोह को मारा है। यह बात मुख्य होनी चाहिये।

मुमुक्षु:- ये तीनों बातें जो ली कि चाहता है, पहचानता है और भजता है, ये तीनों एक साथ होती है?

पूज्य भाईश्री:- एक साथ होती है और जो एकमात्र ज्ञानी को चाहता है वहीं पहचान सकता है और जो पहचानता है उसको ही उसकी परिणति भजती है। कारण-कार्य भी है और कारण-कार्य होने से एक साथ होते हैं।

मुमुक्षु:- पहचान होने के पूर्व एकमात्र ज्ञानी को चाहता है वह किस आधार से?

पूज्य भाईश्री:- समझ के आधार से। समझ के आधार से कि हमको ऐसा होना है। हमको हमारे परिभ्रमण को खत्म करना है, हमको दर्शनमोह को खत्म करना है।

मुमुक्षु:- स्वयं को परिभ्रमण से बचाने वाले हैं ऐसा जानता है इसीलिये?

पूज्य भाईश्री:- पूरा संसार तिर जायेंगे। वह तो मूल्यांकन होने की बात हो गयी। बात हो गयी मूल्यांकन की। समझ में मूल्यांकन आया, समझ यथार्थ हुयी, यथार्थ समझ हुयी तो उसका परिणमन आया, वह दूसरे को चाहता नहीं है। एक को ही चाहता है तो उसको पहचान सकता है। पहचान सकता है तो पहचानने से उसकी परिणति हो जाती है।

'वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।' कैसी उत्तम मुमुक्षु की परिभाषा आयी इधर! उत्तम मुमुक्षु की definition क्या? क्या परिभाषा है? यह परिभाषा है? बहुत शास्त्र पढ़ता है, आठ-आठ घंटा पढ़ता है इसीलिये उत्तम मुमुक्षु है वो बात नहीं है। ध्यान में तीन घंटा बैठ सकता है इसीलिये वह उत्तम मुमुक्षु है वो बात नहीं है। बहुत मंदिरजी

में जाकर पूजा-भक्ति करता है इसीलिये उत्तम मुमुक्षु है वो बात भी नहीं है और व्रतादि धारण कर सकता है इसीलिये उत्तम मुमुक्षु है वह बात नहीं ली। दान ज्यादा देता है इसीलिये उत्तम मुमुक्षु है वह बात भी नहीं ली। ऐसी बात हो गयी।

फिर तीसरी बार लिख दिया, 'उदास-परिणाम आत्मा को भजा करता है।' सहज रूप से हमारे परिणाम उदास हो गये हैं, कहीं भी हमारा चित्त लगता नहीं है। क्योंकि कहीं रस नहीं आता, रस आये ऐसी कोई चीज दिखती नहीं ज्ञान में, इसीलिये सहज उदासीनता है। 'चित्त की स्थिति में यदि विशेष रूप से लिखा जायेगा तो लिखूँगा।' क्या कहते हैं? कि हमारा चित्तस्थिति में लिखने का प्रकार होगा तो लिखा जायेगा, वरना हम विशेष रूप से नहीं लिखेंगे। हमारे चित्त पर हम कोई बलात्कार करके नहीं लिखेंगे। सहज लिखने का विकल्प चला, लिख देंगे, वरना नहीं लिखेंगे। इतनी उदासीनता छा गयी है, कहने का वह अभिप्राय है।

मुमुक्षु:- लिखने की वृत्ति में भी बोझ लगता होगा?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, आकुलता, बोलने में भी आकुलता है और लिखने में भी आकुलता है। विकल्प मात्र में आकुलता है। वह तो अवलोकन चले तो ही समझ में आये ऐसा है। आकुलता दिखना यह अनुभव की यथार्थता है क्योंकि आकुलता है। और फिर भी दिखती नहीं है तो अनुभव की यथार्थता कहाँ रही? क्योंकि यह तो अनुभव का विषय है। परिणाम में आकुलता है, निर्विवाद बात है, फिर भी दिखती नहीं तो अनुभव अयथार्थ हुआ कि नहीं हुआ? कि अयथार्थ हो ही गया।

सही अनुभव यथार्थता को उत्पन्न करता है। सही अनुभव यथार्थता को उत्पन्न करता है। वैसे यथार्थता है वही सम्यक्त्व का pre-stage है। और उस pre-stage को मुख्य रूप से कोई उत्पन्न करने वाला है तो सही अनुभव है। इसीलिये यथार्थता के साथ सही अनुभवज्ञान जुड़ा हुआ है। ऐसे यथार्थता को उत्पन्न करने वाले बहुत से factor है, उसमें यह प्रधान factor है। बाकी जो-जो कारण से जीव के दर्शनमोह के परिणाम मंद होते हैं, जो-जो कारण से जीव के दर्शनमोह का अनुभाग घटने का यथार्थ रूप से होता है, वह ज्ञान में निर्मलता ले आता है और ज्ञान में निर्मलता आने

से यथार्थता आती है। यथार्थता कब आती है ज्ञान में? कि निर्मलता आने से आती है। और निर्मलता कब आती है? कि इसका सिद्धांतिक सम्बन्ध जो है वह दर्शनमोह का अनुभाग कम होने से होता है। इसीलिये जो आत्मकल्याण की अंतर की भावना में आता है, वह परिभ्रमण की चिंतना और वेदना में आता है, तो अनुभाग वहाँ भी घटता है। वेदना वाले को यथार्थता आती है, उसके पैमाने में।

इस तरह से जो मात्र ज्ञानी को चाहता है, पहचानता है और भजता है वहाँ भी दर्शनमोह का अनुभाग टूटता है और ज्ञान की निर्मलता आती है तो यथार्थता आ जाती है। तो अपने परिणमन के प्रयोग में जो अपने विकल्प मात्र में आकुलता दिखती है तो वहाँ भी यथार्थता आती है। क्योंकि दर्शनमोह का अनुभाग घटता है। ये तीन factor अलग-अलग भूमिका के प्रधान है, मुख्य है और भी कुछ बातें हैं वह तो गौण रूप से होती है, जो दर्शनमोह को तोड़ने में सहायक होती है। वह मुमुक्षुता के आनुसंगिक परिणाम हैं। इसीलिये अवलोकन के प्रयोग का महत्त्व बहुत है क्योंकि वह अनुभव को देखता है। अवलोकन है वह अनुभव को देखता है, इसीलिये वहाँ दर्शनमोह का अनुभाग अधिक पैमाने में टूटता है।

ये ३३५ पत्र समाप्त हुआ।



प्रवचन-06, पत्रांक-466 (1)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-४६६)

'१. जिससे धर्म माँगे, उसने धर्म प्राप्त किया है या नहीं उसकी पूर्ण चौकसी करे, इस वाक्य का स्थिर चित्त से विचार करे।' क्या कहते हैं? कि स्थिर चित्त से विचार करने योग्य एक खास बात है कि मुझे धर्म चाहिये। और धर्म की प्राप्ति के लिये हम किसी का भी अनुसरण करे। इसीलिये अनुसरण करे कि वो हमको धर्म की प्राप्ति में सहायता करे। ऐसे प्रसंग में जहाँ से भी धर्म की चाहना, जिसके पास से भी धर्म की चाहना रहती है, वह स्वयं धर्म प्राप्त हुआ है या नहीं हुआ है, इस विषय में चौकसी, चौकसी यानि क्या है? कि परीक्षा करके निश्चय करना, ऐसे ही नहीं मान लेना। किसी के कहने से नहीं मानना, सुनने से नहीं मानना। स्वयं को इस विषय में परिश्रम लेकर निश्चय करना चाहिये कि वह धर्म प्राप्त है या नहीं है। अगर ऐसा नहीं किया जाये तो जिसे धर्म प्राप्ति नहीं है वह कुछ न कुछ कल्पना करके बात बतायेगा।

धर्म तो अनुभव प्रधान विषय है, स्वानुभूति प्रधान है। जिसको स्वानुभव नहीं हो वह धर्म के विषय में कुछ न कुछ अनुमान करेगा, कल्पना करेगा और जो बात बतायेगा वह बात कल्पित होगी। क्या होगा? वह बात कल्पित होगी। कहने वाले को ऐसा क्यों बनता है? कि उसने भी जो सुना है, पढ़ा है, समझा है उसमें सुनी-पढ़ी बात में अनुभव तक पहुँचने की प्रक्रिया स्वयं में नहीं हुयी। अनुभव की दिशा में वह आगे नहीं बढ़ा तो समझ की, अनुभव की भूल रह जाती है। अनुभव की भूल रहने से अनुभव के विषय में वह कल्पना करके बात करेगा। तो कल्पित बातों का अनुसरण करने से, अनुसरण करने वाला भी कल्पना में चढ़ जायेगा। जबिक धर्म एक वास्तविकता के आधार पर होने वाली पर्याय है। कल्पना के आधार पर होने वाली वह चीज नहीं है। ठोस वस्तु के स्वरूप के आधार से उत्पन्न होने वाला धर्म यही सत्य धर्म है।

मुमुक्षु:- अनुसरण करने वाला गलत रास्ते पर कैसे चढ़ेगा?

पूज्य भाईश्री:- वह उसकी कल्पना का अनुसरण करेगा। जिसको कल्पना हुयी है उसकी कल्पना का अनुसरण करेगा। कल्पना वाला गलत रास्ते पर है तो अनुसरण करने वाला सही रास्ते पर कहाँ से आयेगा? वह भी गलत रास्ते पर चढ़ जायेगा। इसीलिये स्थिर चित्त से विचार करने योग्य यह बात है कि जिससे भी धर्म की चाहना रखना है, धर्म हम माँगते हैं कि हमको आप धर्म प्राप्त कराईये, वह धर्म को प्राप्त हुआ है कि नहीं हुआ है उसकी पूर्ण रूप से खात्री-प्रतीति, परीक्षा करके चौकसी करना। चौकसी का क्या लिखा है? वही लिखते हैं? चौकसी ही लिखा है? हिन्दी में चौकसी है? परीक्षा। ठीक है, परीक्षा। ठीक है।

'जिससे धर्म माँगे, वैसे पूर्ण ज्ञानी...' यानि बराबर। पूर्ण ज्ञानी यानि केवलज्ञानी नहीं, ऐसे यथार्थ ज्ञानी। उसकी 'पहचान जीव को हुयी हो, तो वैसे ज्ञानियों का सत्संग करें और सत्संग हो, उसे पूर्ण पुण्योदय समझे।' अगर हमें पहचान हुयी कि ये यथार्थ ज्ञानी है तो उसका सत्संग करना और ऐसा सत्संग हो तो सत्संग की जो प्राप्ति है, वह पूर्ण पुण्योदय समझना। उसमें सत्संग नहीं मिले इतना पुण्योदय में कमी समझना।

पुण्य अनेक प्रकार के होते हैं। लोग समझते हैं कि अनुकूलता की प्राप्ति हो, इच्छित पदार्थ मिले वही पुण्ययोग है। संसार में यह बात प्रचलित है। जबिक सत्पुरुष के-ज्ञानीपुरुष के संग की प्राप्ति हो वही सत्पुण्य है, वह जीव को मोक्षमार्ग तक ले जायेगा। यही पूर्ण पुण्योदय समझना। उसको इस प्रकार का पुण्योदय में पाप नहीं होता। अन्य प्रकार के पुण्योदय में पाप होता है। जो जीव पुण्य के संयोग को भोगता है, उनको पापभाव हो जाता है। जबिक सत्संग में ऐसा नहीं होता। हमारे शास्त्र में इसको कहते हैं पुण्यानुबंधी पुण्य। और जो भोग-उपोभग वाला पुण्य है वह पापानुबंधी पुण्य है। जिस पुण्य के उदय में पाप का अनुबंध हो वह पापानुबंधी पुण्य है और जिस पुण्य के उदय में अधिक पुण्य हो जाये, पिवत्रता आ जाये उसको कहते हैं, पुण्यानुबंधी पुण्य। पुण्य भी अधिक होगा और साथ-साथ पिवत्रता की भी प्राप्ति होगी। निर्दोषता आयेगी, दोष चला जायेगा। ऐसे सत्संग को पूर्ण पुण्योदय समझना।

मुमुक्षु:- ज्ञानीपुरुष की पहचान करने में मुमुक्षु को कौन-कौन से मुद्दे को ध्यान में रखना चाहिये?

पूज्य भाईश्री:- ज्ञानी की पहचान करने में एक मुख्य पहलू है वह ख्याल में रखना कि उनके कहने का आशय क्या है? बात कितनी भी लंबी-चौड़ी हो घूम-फिर कर कहाँ आती है? केन्द्रस्थान क्या है? सभी बातों का केन्द्रस्थान क्या है? जो ज्ञानी होते हैं वह सब बात को आत्मकल्याण में केन्द्रित कर लेते हैं, centralise करते हैं। कि इसमें इस तरह से आत्मकल्याण होता है, वरना अकल्याण इस तरह से होता है। कल्याण इस प्रकार से होता है, अकल्याण इस प्रकार से होता है, एक बात। मुख्य point वह है।

अब, इस point के नीचे कुछ बातें हैं, जिसे subordinate point कहते हैं। कि संसार में जितने भी संप्रदाय वर्तमान में चल रहे हैं उसमें चारित्रमोह को मंद करने का उपदेश मिलता है। एक ज्ञानी के पास ही दर्शनमोह को हटाने का उपदेश मिलता है। क्यों? कि भगवान की, मोक्षमार्ग की जो योजना है इस योजना में चतुर्थ गुणस्थान से लेकर बारह गुणस्थान तक मोक्षमार्ग का निरूपण किया है। चतुर्थ गुणस्थान में प्रथम ही दर्शनमोह का नाश होता है। दर्शनमोह का नाश हुये बिना चारित्रमोह का नाश तो कभी होता नहीं। कभी मंद होता है तो वह बाद में पनप जाता है। तो इसका तो कोई अर्थ नहीं रहा, वह तो निरर्थक बात हो गयी। हमारा परिश्रम व्यर्थ गया।

ज्ञानी के उपदेश में यह मुख्य point है कि दर्शनमोह कैसे हटे यह बात समझाते हैं या चारित्रमोह की अनेक प्रकार की बात जो दूसरे लोग करते हैं वैसे वह भी अनेक प्रकार से करते हैं? यह देख लेना। क्योंकि अनंत प्रकार के कर्म में आठ प्रकार मुख्य है। आठों में अनंत की पेटा प्रकृति आ जाती है। ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय, अंतराय, चार घाति है। आयु, नाम, गोत्र, वेदनीय चार अघाति है। आठों कर्म में सभी अनंत प्रकृतियाँ उसकी अन्दर की प्रकृतियाँ है। उस अनंत प्रकार के कर्म में मोहनीय कर्म मुख्य है, ज्ञानावरणीय मुख्य नहीं है। ज्ञान को आवरण आता है वह मुख्य नहीं है। मोहनीय की मुख्यता है। और मोहनीय कर्म का दो भेद है, एक दर्शनमोह और एक चारित्रमोह। उसमें दर्शनमोहनीय की मुख्यता है, चारित्रमोहनीय की मुख्यता नहीं है।

तो कर्म की जो सेना है उस सेना का राजा जो है वह दर्शनमोह है। आप अकेले हो और सामने अनंत कर्म की सेना खड़ी है। अब देख लो, समरांगण में आ गये आप, लड़ाई के मैदान में हो। अब व्यूह से लड़ना है क्योंकि आप अकेले हैं। चारों ओर से अनंत कर्म का घिरावा होता रहता है। प्रतिक्षण जीव कर्म बाँधता है। इस परिस्थित में व्यूहात्मक लड़ाई अगर नहीं लड़ी जाये तो हम हार जायेंगे और अनंतकाल से हारते आये हैं, धर्मसाधन तो बहुत किया लेकिन हारते आये है। तो दर्शनमोह को-जो राजा है उसको मारो। राजा मरा, बाकी के सैन्य भागने लगेंगे, कोई खड़े रहने वाले नहीं है। यह बात निश्चित है। और भगवान तीर्थंकरदेव की योजना भी वही है। कि संसार में परिभ्रमण करने वाले जीव को बोला कि तुम पहले दर्शनमोह को मारो, फिर कोई आपित्त नहीं है तुमको, बाकी सब मरे हुये है समझ लो, किसी में ताकत नहीं है। क्यों? कि सैन्य जानता है कि राजा को जिसने मार दिया उसकी ताकत कितनी होगी! हमारा हौसला कहाँ है लड़ने का? वह तो भागने ही लगेगा, तो ये व्यवस्थित योजना है हमारे सामने।

ज्ञानी है वह वही बात करेगा। ज्ञानी है यानि तीर्थंकरदेव के मार्ग पर चलने वाले, वह यही बात करेंगे। और जो इस मार्ग से अनजाने है, वह अन्य प्रकार की बाते करेगा कि आप व्रतादि करो, आप उपवास कर लो, आप संयम कर लो, आप दान दे दो, आप यात्रा कर लो, जप-तप कर लो, यह कर लो, वह कर लो, माला फेर लो, पूजा-भक्ति विधि-विधान करायेंगे।

मुमुक्षु:- जो ज्ञानी नहीं है वह शुभभाव पर ज्यादा वजन देगा।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, चारित्रमोह कहो की शुभ कहो। चारित्रमोह शुभभाव से मंद होता है। अशुभभाव से तीव्र होता है, शुभ से मंद होता है। जबिक श्रद्धा-ज्ञान की प्रक्रिया से, सही प्रक्रिया से दर्शनमोह कमजोर होकर नाश होता है। तो ज्ञानी श्रद्धा-ज्ञान किस तरह से ठीक हो वही बात करेंगे। और जो ज्ञानी नहीं है वह दूसरी-दूसरी बात करेंगे। बात तो ठीक है, बात में कोई अनुचित नहीं है, कोई दोष कराने की बात नहीं है। लेकिन वह योजना व्यवस्थित नहीं है। तो यहाँ से यह बात समझी जाती है।

तीसरा point वह है, ठीक है, प्रश्न तो उठाया है तो निकलेगा थोड़ा-बहुत। सब बात सोचकर तो नहीं बैठते हैं, किंतु बात सामने आती है तो अन्दर से निकलता है। तीसरी बात वह है कि स्वानुभव कैसा होता है और जिस परमतत्त्व का स्वानुभव होता है वह परमतत्त्व कैसा होता है, उस बात को सुनने से, पढ़ने से समझ में आती है और समझने वाला बता भी सकता है। परन्तु स्वानुभव कैसे हुआ जाये? इसकी जो विधि है, इसकी जो कार्यपद्धित है, वह practical knowledge है, यह theoretical knowledge नहीं है। तो इस विधि में से जो पसार हुआ है, वहाँ से गुजरा हुआ है वही उस बात की कुछ चेष्टा से अगले को समझाने का प्रयास कर सकेगा। यह विधि बहुत सूक्ष्म है। भगवान के बारह अंग है, उस बारह अंग में तत्त्व का सूक्ष्म से सूक्ष्म कोई विषय है, तो ये स्वानुभव की अंतर्मुख होने की विधि है।

हमें सिकंदराबाद में एक स्थानकवासी संप्रदाय के नेता मिले थे। सारे स्थानकवासी संप्रदाय में all india level में वह नेता है। काफी त्यागी है संप्रदाय के अनुसार। नहाना नहीं, जुता पहनना नहीं, खाने-पीने में (संयम रखे)। और आजकल तो मकान छोड़कर स्थानक में-उपाश्रय में बैठ गये हैं। बहुत संपन्न आदमी है फिर भी उसने यह निर्णय कर लिया है कि आयु बहुत कम शेष रही है ऐसा लगता है, हो सकता है ७० साल के बाद तो यह पूरी संभावना है। क्योंकि हमारा जो ratio है उससे हम आगे बढ़ गये। मृत्यु की आयु का जो ratio है हमारे देश में ७० साल की उससे आगे होगी, तो हमको धर्म प्राप्ति कर लेनी चाहिये जैसे-कैसे भी। त्यागी के पास, साधुओं के पास सत्संग करने को जगह-जगह जाते हैं, अनेक प्रकार के ग्रंथ स्थानकवासी के, दिगंबर के, श्वेतांबर के सब पढ़ते हैं। उनको एक समस्या तो रह गयी। बुद्धिमान आदमी है। समस्या तो रह गयी कि घूम-फिर के बात तो वह आती है हमारे आगमों में कि अंतर्मुख होने से ही धर्म की प्राप्ति होती है। चाहे श्रद्धा के, ज्ञान के, चारित्र के, किसी भी आत्मा के परिणाम हो, अंतर्मुख होगा तभी धर्म होगा। लेकिन अंतर्मुख कैसे होना यह कोई बताते नहीं है हमको। ये बात कोई बताने वाला नहीं है, बाकी सब बात करते हैं, सब। बात तो pinpoint बिल्कुल ठीक थी जिज्ञासा में। इस विषय पर चर्चाएँ हुयी। उनको लगा कि ये बात समझने के लिये भी जो योग्यता चाहिये वह योग्यता मेरी नहीं है।

वह योग्यता कैसे तैयार होनी चाहिये? योग्यता में कैसे आना? उसके लिये भी बहुत चर्चाएँ चली। दस दिन सिकंदराबाद में शिबिर चली, इस पर ही चली। दसों दिन जो शिबिर चली थी वह इसी मुद्दे पर चली। फिर वे आबु आये, आबु की शिबिर में आये सिकंदराबाद से। वहाँ उनके साधु लोग भी थे। वहाँ भी चर्चाएँ हुयी। उनको लगा कि पानी तेरह रूपया किलो बिकता है, दूध दस रूपया किलो बिकता है। क्या ये बात चल रही है? यानि त्याग की महिमा संप्रदाय में ज्यादा है, त्यागी होते हैं तो लोग इसके पीछे लग जाते हैं। बुद्धिमान तो बहुत है। क्या बोले अपने भाषण में? माईक पर बोलते थे कि 'दर्शन जब खोखला होता है तब प्रदर्शन करना पड़ता है।' जैसे किसी के पास संपत्ति नहीं है, लेकिन दिखावा कौन करेगा कि हमारे पास भी कुछ है, हमारे पास भी कुछ है? दो-चार अच्छी चीज खरीदकर दिखाता फिरेगा। समझने वाला समझ जायेगा कि ये खोखला है। इसके चक्कर में हमें आना नहीं है। जिसके पास ठोस संपत्ति है वह दिखावे में नहीं जायेगा।

इस तरह से मूल जो बात है, जो प्रश्न है कि ज्ञानी किस मुद्दे से पहचाना जाये? उसके कौन से-कौन से points है, जिसको हमें समझना चाहिये? तो ये तीसरा point वह है कि वह स्वानुभव की विधि की बात करता है या नहीं करता है? जैसे कि हमारे परमागम में इस विषय का संकेत आता है। क्यों? कि theory में practical नहीं आता पूरा। practical की जो theory होती है वह अधूरी होती है। आखिर में practical है वह practical है। तो theory के विषय में जो भी बात आगमों में आयी उस पर वह विवेचन करने को जायेगा तो उसकी गहराई में वह नहीं आ पायेगा कि इसका practical क्या है?

शब्द का अर्थ तो विद्वान लोग भी जानते हैं, dictionary भी जानती है। Dictionary बनाने वाला भी जानता है। हमें शब्दार्थ से मतलब नहीं है, हमें भावार्थ से भी मतलब नहीं है कि इसका भाव इधर क्या निकलता है। हमें नयार्थ से भी मतलब नहीं है और मतार्थ से भी मतलब नहीं है। हमें मतलब है परमार्थ से। ये परमार्थ स्वानुभव की विधि में छिपा हुआ है। तो ये परमार्थ आता है कि नहीं आता है? जो परीक्षक है वह उस पर नजर लगायेगा। उसकी नजर वहाँ रहेगी कि परमार्थ कैसे आता

है? वह शब्द का अर्थ जानता है, भावार्थ जानता है, लंबी-चौड़ी बात करता है उससे वह प्रभावित नहीं होगा।

लोग दो तरह से प्रभावित होते हैं-एक चारित्र के क्षयोपशम से और एक ज्ञान के क्षयोपशम से। क्योंकि दोनों चीज बाहर दिखती है। बाह्य दृष्टि वाला भी उसको समझ सकता है कि देखो, इतना-इतना त्याग कर दिया। फिर भी इसके परिणाम नहीं बिगड़ते हैं। तो त्याग कर सकता है। चारित्रमोह मंद होता है। और ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम होने से बाह्य ज्ञान बहुत होता है शास्त्र का। समझा सकता है वाणी का योग होता है तो अच्छी तरह बोल सकता है। ये वक्तृत्वकला और ज्ञानकला एक नहीं है। दो अलग-अलग चीज है। ज्ञानकला के साथ वक्तृत्वकला हो सकती है, लेकिन वक्तृत्वकला के साथ ज्ञानकला हो ही वह कोई जरुरी चीज नहीं है, आवश्यक नहीं है, नहीं भी हो। इसीलिये किसी की वाणी की छटा में हमें प्रवाहित नहीं होना है, हमको नहीं आना चाहिये इसमें। हमें सतर्क रहकर सुनते वक्त भी सतर्क रहकर, जागृत रहकर देखना है कि स्वान्भव की विधि आती है या नहीं आती है? बहुभाग तो आये ही नहीं। और विषय सामने आयेगा कोई तो उसको संक्षेप करके शब्दार्थ करके, भावार्थ करके ऊपर से चला जायेगा। इसकी गहराई में नहीं जा पायेगा कि इसका practical कैसे करना है, प्रयोग कैसे करना है, वह बात को नहीं बता सकेगा। यहाँ से पहचान हो जायेगी कि स्वानुभव है या स्वानुभव नहीं है। ठीक है, प्रश्न तो अच्छा निकाला है। ये दो-तीन बातें अगर ठीक तरह से ख्याल में रखे तो हम कहीं भी भुलावे में पड़ेगे नहीं।

मुमुक्षु:- जो ज्ञानी होते हैं वह मुमुक्षु की योग्यता देखकर मार्गदर्शन देते हैं। यह भी एक मुद्दा है।

पूज्य भाईश्री:- उसमें ऐसा है कि यह बात तो रही व्यक्तिगत योग की। लेकिन किसी को समस्थिगत योग होता है, उनके प्रवचन चलते हैं, त्यागी भी होते हैं और ज्ञान के क्षयोपशम वाले भी होते हैं। वहाँ व्यक्तिगत प्रकार नहीं होता है।

एक चौथा point भी ख्याल में रख लो। जब दिमाग में आता है तो बोल देता हूँ कि आत्मकल्याण हमें करना है इसी हेतु से हम इनके पास जा रहे हैं, अन्य हेतु से नहीं जाते, तो कहने वाले का हेतु कोई अन्य है कि नहीं है वह देख लेना। बहुभाग क्या होता है कि उपदेशक जो होते हैं, पण्डित होते हैं, त्यागी होते हैं वह उपदेश दे देते हैं। फिर कहते हैं कि आप इसमें खर्च करो, आप इसमें खर्च करो, आप इसमें खर्चा करो, आप इसमें खर्चा करो, आप इसमें खर्चा करो, यह बात आयेगी। ज्ञानी ये धंधा नहीं करते। ज्ञानी निरपेक्ष होते हैं, निस्पृह होते हैं, वह ऐसी बातों से अलग रहते हैं। उस क्षेत्र में वो प्रवेश हीं नहीं करते, अलग रह जाते हैं, ये हमारा काम नहीं है। चंदा-बंदा हम करेंगे नहीं, करायेंगे नहीं। न करेंगे, न करायेंगे। करना, कराना, अनुमोदना एक ही बात होती है। हमारे स्वामीजी थे, गुरुदेवश्री (वे ऐसा कहते थे), आप लोगों को करना है तो करो, हम तो प्रवचन देंगे आकर। जो करना है आप लोग समझो। वो माथा लगाते नहीं और माथा लगाने की कोई बात आये तो ना दे देते कि हम माथा लगायेंगे नहीं। वो आप लोगों को आप के बीच में आप लोग अन्दर-अन्दर समझ लेना। हम कुछ कहेंगे नहीं।

मुमुक्षु:- जिनमंदिर बनाने की प्रेरणा नहीं देते थे?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, कभी नहीं देते थे। मद्रास में थे, एक घटना ऐसी घटी थी। मद्रास में थे, यात्रा के दौरान गये थे मद्रास, पोन्नुर हिल गये थे न तब। तो वहाँ हमारे वढवाण के, हमारे बगल का गाँव है, उस मण्डल के प्रमुख थे, मद्रास मंदिर के भी ट्रस्ट के भी प्रमुख थे। उन्होंने कहा कि हमारे वतन में मंदिर बहुत छोटा है, घर-मंदिर जैसा चैत्यालय जैसा ही था। अगर आप कहे तो हम इतने लाख रुपये का खर्च करके बड़ा मंदिर बना दे। (तो गुरुदेव ने ना कह दी)। (गुरुदेव का) पूरे हिन्दुस्तान में बहुत प्रचार हुआ फिर भी आर्थिकक्षेत्र से वे हमेशा दूर रहे।

अब अपना जो point है वो वह है कि बहुभाग इस काल में ये बनता है और संसारीयों को भी सबसे ज्यादा किमत तो पैसे की है और धार्मिक क्षेत्र में भी वही बात है तो वहाँ भी एक नया संसार खड़ा हो गया, और क्या बात हुयी? वह तो बात वो की वो हो गयी। Item बदल गयी, व्यापार तो वो का वो, दुकानदारी तो वो की वो हो गयी। ये बहुभाग होता है तो पता चल जायेगा।

नंबर दो यह है कि (सामने वाला) आत्मकल्याण का उपदेश देता है और मैं भी आत्मकल्याण के लिये ही सत्संग में बैठता हूँ, आता हूँ, तो मेरी आत्मा में आत्मा की आवाज क्या आती है? क्या मेरा आत्मकल्याण होने का कोई आसार दिखता है क्या? मेरी यही जिज्ञासा है, यही भावना है, तो मेरी भावना की पृष्टि होती है या नहीं होती है, ये feeling से समझा जाता है, thinking से नहीं। उसमें भी दो बात है। Thinking को मुख्य नहीं करे, feeling को मुख्य करना। ये नंबर चार वाला जो point है, वह कोई भी जीव, कोई भी मुमुक्षु अपने आपसे हमारी आत्मा पर कैसी असर हुयी, इससे उनको पता चल जाता है। और जो वास्तव में मुमुक्षु जिज्ञासु आत्मार्थी है उनको इनका interlink हुये बिना रहेगा नहीं। और जो आत्मार्थी नहीं है उनको असर नहीं भी पहुँचेगी। बात तो दोनों बनती है, असर पहुँचती भी है, नहीं भी पहुँचती है। उसमें one way traffic नहीं है, दोनों ओर से बात है। जिसको असर पहुँचती है वह भी इसी हेतु से आया हो तो असर पहुँचेगी। अभी इनको अपना आत्मकल्याण करने की ईमानदारी नहीं होगी तो हो सकता है असर नहीं भी पहुँचेगी। तो ये बात तो रही, जिसको वाकई आत्मकल्याण करना है इसकी है। परीक्षा तो वह करेगा, दूसरे को परीक्षा करने का मतलब भी नहीं है। बस, ये तीन-चार point में तो सब बात cover-up हो जाती है। पता लग ही जाता है, नहीं पता लगे सो बात है ही नहीं।

मुमुक्षु:- विधि का विषय तो वचनअगोचर है। ज्ञानीपुरुष बिना कोई नहीं कह सकता।

पूज्य भाईश्री:- नहीं, सर्वथा वचनगोचर भी नहीं और सर्वथा वचनआगोचर भी नहीं है। आत्मा और आत्मा प्राप्त करने की विधि सर्वथा वचनगोचर भी नहीं और सर्वथा वचनआगोचर भी नहीं है। इतनी बात जरूर है कि संकेत मात्र वचनगोचर है, बहुभाग वचनअगोचर है। इसीलिये थोड़ी कठिनाई है इस विषय में प्रवेश होने के लिये, वह थोड़ी कठिनाई है। किन्तु हमारे, संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव के मित-श्रुतज्ञान में वह ताकत है कि हम अंश से, अंशी को ग्रहण कर सकते हैं। जैसे हम बाजार में खरीदी करने को, चीनी या अनाज खरीदने को जाते हैं तो sample देखते हैं। कपड़े का भी

sample देखते हैं, पूरा थान देखने की जरूरत नहीं है। Sample पर से ही कितना भी आप माल ले लो। तो यहाँ भी sample तो मिल जाता है और sample पर से पूरी चीज को ग्रहण करने की ताकत हमारे मित-श्रुतज्ञान में है ही। इसीलिये इतनी कठिनाई नहीं है कि वचनअगोचर है तो क्या करेंगे?

मुमुक्षु:- वाणी के साथ ज्ञानी की चेष्टा भी होती है।

पुज्य भाईश्री:- हाँ, फिर क्या है कि जब आत्मकल्याण के प्रयोजन की दृष्टि तीक्ष्ण होती है, तेज होती है तब साथ-साथ में सूक्ष्म भी होती है और यह विषय सूक्ष्म है। तो जो सूक्ष्म है वह सूक्ष्मता को ग्रहण करेंगे। जैसे हीरे पकड़ने के लिये सवाणी चाहिये, क्या बोलते हैं हिन्दी में उसको? जो sharp pointed होती है। चिमटा, चिमटा बोलते हैं। हीरे को पकड़ने का जो चिमटा है, और सर्प को पकड़ने का जो सँड़सा है, बड़ा सँड़सा या पतीला को पकड़ने के लिये जो संडासी होती है उससे हीरा नहीं पकड़ा जाता। हीरा पकड़ने के लिये इसकी चिमटी आती है वही काम में आती है। उस तरह से अगर हमें आत्मकल्याण की रुचि हुयी तो, जरूरत लगी तो हमारी बुद्धि भी पैनी हो जायेगी इस विषय में। और जिस विषय में भी, संसार में भी जिस विषय में हम रस लेते हैं उस विषय में हमारी बुद्धि पैनी होती ही है। हमारे business की अंदर की बात हम जानते हैं, दूसरे लोग नहीं जानते कि उसका profit-loss क्या होता है। हर विषय में ऐसा ही है। तो वाणी के साथ-साथ जो चेष्टाएँ होती है वह भी इस विषय को समझने में मददगार होती है। और आत्मभाव की अभिव्यक्ति अंतर्म्खता की अभिव्यक्ति सबसे ज्यादा नेत्र में आती है। नेत्र में आती है तो नेत्र से भी कई भाव पहचाने जाते हैं। लेकिन ये बात है चेष्टा पकड़ने में बहुत योग्यता चाहिये या बहुत सूक्ष्मता होनी चाहिये। तब वह बात समझ में आती है, इसके पहले समझ में नहीं आती।

मुमुक्षु:- कोई भी योग्यता वाले जीव को ज्ञानी की वाणी में जो आशय होता है वह पकड़ में आ सकता है।

पूज्य भाईश्री:- आशय पकड़ सकता है। आशय पकड़ सकता है वह भी कौन पकड़ सकता है? उसी आशय को लेकर जो सुनने को बैठा है वह। जैसे आत्मकल्याण की चर्चा चल रही है, तो आत्मकल्याण करने के इरादा से जो सुन रहा है उनको वह बात समझ में आयेगी। जिसका इरादा नहीं है तो उसका ध्यान, उसका लक्ष और- और जगह चला जायेगा तो वह बात समझेगा नहीं। तो उसमें भी आपस में oneway traffic नहीं है, दोनों ओर से तैयारी होनी चाहिये।

'उस सत्संग में वैसे परमज्ञानी के द्वारा उपिदष्ट शिक्षाबोध को ग्रहण करे...' सिर्फ सुनना नहीं। उस तैयारी के साथ सुनना कि हमको इसका अम्लीकरण भी यथाशक्ति करते रहना है। यानि जो बात सुनने में आयी, हमने संमत किया समझकर उसका प्रयोग करने का चालू करना चाहिये, साथ ही साथ। जो भी बात जितनी भी समझ में आयी हो, उनका प्रयोग कैसे होता है वह भी समझे और उस प्रयोग को भी करते रहना चाहिये। तब ही वह शिक्षाबोध ग्रहण होता है, वरना वह ग्रहण नहीं होता है। समझ में आता है, समझ में आना एक बात है, बोध का ग्रहण होना दूसरी बात है, तो उतनी तैयारी रखना।

'जिससे कदाग्रह, मतमतांतर, विश्वासघात और असत् वचन इत्यादि का तिरस्कार हो; अर्थात् उन्हें ग्रहण न करे।' सबसे पहले लिया है, कदाग्रह। कदाग्रह यानि क्या? कि हमने कुछ न कुछ बातों का ग्रहण कर लिया है पहले, पूर्वाग्रह जिसको कहते हैं। हर एक बुद्धिमान आदमी कुछ न कुछ बात का निश्चय पर आ जाता है, निश्चय कर लेता है। अगर वो बात सही नहीं लगे तो हमारी सरलता इतनी होनी चाहिये कि हमको इस बात को छोड़ने में देर नहीं लगे। बहुभाग बुद्धिमान मनुष्य में ये बात बनने में कठिनाई आती है। जो बात का स्वयं निश्चय कर लेता है उसे छोड़ने को वो जल्दी तैयार नहीं होता। जबिक ज्ञानी से कोई बात मिलती है तो पूर्व अभिप्राय ऐसा हो जाना चाहिये कि हमारी बात कैसी भी हो, हम छोड़ देंगे। इसको कहते हैं कदाग्रह को छोड़ना। क्यों?

जैसे हर एक संप्रदाय में कुछ न कुछ क्रिया होती है। स्थानकवासी संप्रदाय में सामायिक-प्रतिक्रमण का जोर ज्यादा है। श्वेतांबर मूर्तिपूजक में उपवास का ज्यादा

जोर है, दिगंबर संप्रदाय में जिनदर्शन और रात्रिभोजन का त्यागादि वगैरह का विशेष रूप से पानी छान के पीना, वगैरह कुछ न कुछ बाते हैं, होती है। इन प्रकार के परिणामों में कषाय मंद अवश्य होता है, पाप नहीं होता, पुण्य होता है। लेकिन हमें दर्शनमोह को मारना है। हमारी लड़ाई दर्शनमोह से होनी चाहिये, चारित्रमोह से नहीं।

भगवान के जाने के बाद आज २५०० साल हो गये महावीरस्वामी निर्वाण को पधारे। २५०० साल में बहुत सी विकृतियाँ कालक्रम से ये कलियुग होने से संप्रदाय में प्रवेश कर लेती है। हम नहीं जानते असली बात क्या है, विकृति क्या-क्या आ गयी है? पर ज्ञानी है उनकी विशेषता यह है कि वो संप्रदाय से थोड़े अलग पड़ जाते हैं इस विषय में। क्योंकि वो तो दर्शनमोह की लड़ाई लड़ायेगा, चारित्रमोह की नहीं। तो बात सामने वह आ जायेगी, कि स्थानकवासी सुनने को आयेगा तो बोलेगा कि हमको सामायिक करना कि नहीं करना? आप बताईये। श्वेतांबर वाला ये कहेगा कि हम उपवास करे कि नहीं करे? छोड़ दे क्या उपवास करने का हम? तो ये दिगंबर वाले कहेंगे कि हम जिनमंदिर नहीं जाये क्या? हमारे तो पहले यह है कि पहले हम भगवान का दर्शन करे बाद में पानी का बूंद लेंगे, इसके पहले मुँह में कुछ डालेंगे नहीं। रात्रिभोजन करेंगे नहीं, अनछना पानी पीयेंगे नहीं, वो करेंगे नहीं, वो करेंगे नहीं। वो करना कि नहीं करना? करो न, करने की मना नहीं है, लेकिन आग्रह क्यो? और दर्शनमोह की लड़ाई लड़ते वक्त अगर इसमें कोई आगे-पीछे हो जाये तो उसका आग्रह, क्रिया का आग्रह मत रखिये। फिर भी आग्रह रहता है तो उसको कहते हैं, कदाग्रह। इसी का नाम कदाग्रह है, होता ही है। कुछ न कुछ पकड़ आ ही जाती है। इस पकड़ को ढीली कर देना है। हम नहीं जानते हमें क्या करना है या क्या नहीं करना है, वो हम नहीं जानते। आप जैसा कहेंगे वैसा कर लेंगे। Total surrendership आ जानी चाहिये। क्योंकि वो जानते हैं हमारी योग्यता को, कि इसमें इनको क्या-क्या dose देना है। किस दवाई का dose देना है, किस मात्रा में देना है, कब देना है, कब change करना है, कब दवाई बदलनी है। ये तो एक treatment का विषय हो जाता है। अपने आप मरीज स्वयं डॉक्टर हो जाये तो मर जायेगा। मरीज को डॉक्टर नहीं होना है, यह बात ख्याल में रखनी है।

मुमुक्षु:- यदि ऐसी क्रिया को उपादेय मानेंगे तो हमारा आग्रह होगा ही होगा।

पूज्य भाईश्री:- उपादेय मानना एक बात है, आग्रह होना दूसरी बात है। जैसे कि एक दृष्टान्त लेते हैं कि सुनने वाले को सामायिक का कोई time होता है और उसी वक्त सत्संग चल रहा है, क्या करना? सामायिक करना या सत्संग करना? क्या करना? बताईये। हाँ? उपवास करके कमजोरी आती है, उपवास करने वाला एक करेगा, दो करेगा, तीन करेगा, पाँच-दस भी करेगा, पंद्रह भी करेगा। कमजोरी आती है। तो सत्संग में तो बैठना पड़ता है। कमजोर तो बैठ नहीं सकते। अब दोनों में एक कर सकते हैं, दूसरा नहीं कर सकते हैं, तो क्या करना? बताईये। कदाग्रह होगा तो सत्संग छोड़ देगा और कदाग्रह नहीं होगा तो अपनी क्रिया छोड़ देगा। यह बात है। बात ठीक होने पर भी हमारा वजन जरूरत से अगर ज्यादा हो जाता है तो वो बात की यथार्थता मारी जाती है-इस विषय की यथार्थता नहीं रहती। ऐसा होता है।

मुमुक्षु:- सही होने पर भी यथार्थता नहीं है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, नहीं है, यथार्थता नहीं है। यथार्थता यानि क्या? कि जिस समय में, 'ज्यां-ज्यां जे-जे योग्य छे, तहाँ समजवुं तेह, त्यां-त्यां ते ते आचरे, आत्मार्थीजन एह।' इसको कहते हैं यथार्थता। यथास्थान में प्रयोजन सिद्ध हो जाये इसको कहते हैं यथार्थता। यथार्थता एक बात है, सामायिक करना सही बात है, करो, लेकिन यथार्थ रूप से। जितना भी करो न, कुछ भी करो न, यथार्थ रूप से करो। इसकी यथार्थता क्या है, समुचितता क्या है उसको पहले समझो, फिर करो। ऐसे क्यों? ओघसंज्ञा से क्यों करे? ओघसंज्ञा से करेगा वह लोकसंज्ञा में आ ही जायेगा कि मैं इतना-इतना करता हूँ सब जानते हैं। जैसे संसार में prestige होती है, ऐसे धर्म के क्षेत्र में भी prestige होती है कि ये आदमी बहुत धर्म करता है, ये बहुत धर्म करता है, ये धर्मी है, ऐसा है, वैसा है। ये इज्जत प्राप्त करने का क्षेत्र नहीं है, मान प्रकृति का पोषण नहीं करना है। और हर जगह मान आड़े आ जाता है। त्याग करता है, दान देता है, कुछ भी करता है, शास्त्र पढ़ता है उसीका मान चढ़ता है। अरे...नम्रता करे तो उसका मान चढ़ता है। ये प्रकृति बहुत विचित्र है, जो अपने आपको ख्याल में नहीं आती। इसीलिये कहा कि 'मानादिक शत्रु महा, निज छंदे न मराय।' महाशत्रु है, अपने आपसे

नहीं मरता। सद्गुरु के चरण में जाने से अल्प प्रयास से वह जाता है। और मनुष्यगित में मान नहीं होता तो मोक्ष हथेली में मिलता। यह बात कही श्रीमद्जी ने कि मान नहीं होता तो मोक्ष हथेली में होता, बिल्कुल दूर नहीं होता। इसीलिये आत्मार्थी जीव को चाहिये कि वह मान के प्रसंग से दूर रहे या भागने लगे। उसको ऐसा भाव आना चाहिये, ये लोग मान दे रहे हैं, मुझे भाग जाना चाहिये। मुझे यहाँ रहना ही नहीं चाहिये, ऐसा लगना चाहिये। तो बच सकता है। ऐसे प्रसंगों से दूर रहने का प्रयास करना चाहिये कि जहाँ हमें मान-सन्मान का प्रसंग नहीं हो।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- हाँ, आज्ञा में रहना वही बात है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- ठीक है, जिसको ख्याल है कि हमें दर्शनमोह नहीं बढ़ना चाहिये, वह बच जायेगा। वरना कुछ भी धार्मिक कार्य करते हुये भी इसका अहं होने से दर्शनमोह भी बढ़ेगा और चारित्रमोह भी बढ़ेगा, दोनों बढ़ेगे एक साथ। ये बात हो जायेगी।

मुमुक्षु:- चारित्रमोह को गौण नहीं किया जा सकता?

पूज्य भाईश्री:- इतना गौण नहीं किया जाता और दर्शनमोह की बराबरी में मुख्य नहीं किया जाता। इतना गौण करने से तो शुभ को छोड़कर अशुभ में चला जायेगा। लेकिन इतनी मुख्यता नहीं देनी चाहिये कि जिससे दर्शनमोह का विषय गौण हो जाये, हमारे परिणमन में। बस, उतना सतर्क रहना है हमें। फिर कोई आपत्ति नहीं है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, जिसका दर्शनमोह मंद पड़ेगा उसके चारित्रमोह में अपनेआप मंदता आयेगी।

पूज्य भाईश्री:- मंदता आयेगी। उसका रस मंद होगा न, तो मूल में से चारित्रमोह की शक्ति टूटेगी साथ-साथ। दर्शनमोह मंद होने से चारित्रमोह गलने लगेगा। ऊपर से

तगडा दिखेगा तो अन्दर से तो खोखला हो जायेगा, ये बात है। वह तो यथार्थ विधि है भगवान की। हमारे तीर्थंकरों की यही योजना है संसार को जीतने की। मामूली बात नहीं है। ये नीव की योजना है। और बहुत अनुभव से ये बात तीर्थंकरों ने ज्ञानियों ने putup किया है। बहुत अनुभव से किया है। हम लोगों ने भी पूर्वकाल में बहुत चारित्रमोह मंद किया था। फिर वो की वो बात हो गयी, फिर वो की वो बात हो गयी। पेड़ के पत्ते काटे, मूल साबूत रहा, वह पनपने लग जायेगा, बात तो वो की वो हो जायेगी। आप कितनी बार काटो, फिर पनपेगा। एक बार मूल काटो, पत्ते काटने की जरूरत नहीं पड़ेगी, अपनेआप ,सूक जायेगा। यह बात है.., यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन-07, पत्रांक-466 (2)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-४६६) दूसरा पॉराग्राफ चलता है। जो पहले वचनामृत के अनुसंधान में है कि ज्ञानी की पहचान करना चाहिये और पहचानकर विश्वास आये कि ये ज्ञानी है, तो उनका सत्संग करना चाहिये और उस सत्संग को ग्रहण करना चाहिये। सत्संग को ग्रहण करने से कम से कम अनेक प्रकार का जो आग्रह है वह छूटता है। उसमें कदाग्रह बोलते हैं, जो क्रिया का आग्रह है उसको कहते हैं कदाग्रह। धर्म की बाह्य क्रिया उसका आग्रह जिसको होता है उसको अपने परिणाम का ख्याल नहीं रहता। वह उतना ही देखता है कि क्रिया बराबर संपन्न हुयी कि नहीं हुयी? उतना ही देखता है। जैसे कोई सामायिक लेकर बैठता है। हम एक घंटा बैठे कि नहीं बैठे उतना ही देखेगा, घड़ी लेकर बैठ जायेगा। परिणाम कहाँ गये, कुछ पता नहीं। क्रिया का आग्रह हो गया। उपवास कर लिया, परिणाम बिगड़े, नहीं देखेंगे। खाया नहीं, बस उतना ही देखेंगे। इसको कहते हैं-कदाग्रह। इस आग्रह से परिणाम में सुधार कभी नहीं आता। सत्संग से ये उपदेश ग्रहण होता है, सत्संग में प्राप्त उपदेश ग्रहण होता है तो इस प्रकार का आग्रह छूट जाता है, क्रिया का आग्रह छूट जायेगा।

जीव मतमतांतर में नहीं पड़ेगा। जो मतमतांतर में पड़ता है वह सत्य को नहीं समझ सकता। वह उतना ही देखता है कि हमारे संप्रदाय में ऐसा होता है कि नहीं होता है। हर एक मत का एक-एक संप्रदाय है आज। हमारे संप्रदाय में होता है कि नहीं होता है (इतना ही देखेगा)। फायदा कैसे होता है, नुकसान कैसे होता है, वह नहीं देखेगा। उसको कहते हैं-मतमतांतर। मतमतांर में पड़ने से जीव सत्य से दूर हो जाते हैं, इसीलिये इसमें पड़ना नहीं चाहिये।

एक बात अवश्य है कि विश्व में धर्म के अनेक मत, अनेक संप्रदाय चलते हैं उसमें से सत्य कहाँ है? कितना है? किस संप्रदाय में है? यह बात अपने आत्मकल्याण के लिये उसका निश्चय करना आवश्यक है। उसका निश्चय करना आवश्यक है। परन्तु उसका भी आग्रह रखकर, दूसरों के साथ मतमतांतर के विषय में बहस में नहीं जाना

है हमको। इसीलिये कि हमारी योग्यता उस लायक मुमुक्षु की भूमिका में नहीं होती। अपने आत्मकल्याण के लिये बात को समझ लेना। इससे ज्यादा प्रवृत्ति मतमतांतर के लिये नहीं करना। एक बात (हुयी)।

दूसरी, अपने मत में जो बात चल रही है इससे कोई दूसरी बात हमारे सामने आये तो उसका लाभ-नुकसान देखना है। हमारे संप्रदाय में या मत में नहीं है इसीलिये हमको बराबर नहीं लगता है, इस प्रकार का विचार करने का दृष्टिकोण नहीं होना चाहिये। ये दो बात मतमतांतर के विषय में ख्याल में रखने योग्य है। यह बात तो हुयी धार्मिक क्षेत्र की।

अब, लौकिक क्षेत्र में जो मर्यादा है वह है विश्वासघात, असत् वचन, ये दो बात है। झूठ बोलना, ऐसा नहीं होना चाहिये। व्यवहार में झूठ बोलने का प्रकार अच्छा नहीं है। जिसको आत्मकल्याण करना है उनको जैसा है वैसा ही बात करने की practice होना चाहिये। हो सकता है कभी इससे नुकसान भी हो, परन्तु ये लाभ-नुकसान पूर्व प्रारब्ध के योग आधीन है, वर्तमान सच-झूठ के आधीन नहीं है।

हमने देखा है, हम जब business में थे हमारे साथ जो काम करते थे उन लोगों को एक impression (छाप) हो गयी थी, कि ये लोग झूठ नहीं करते हैं, खोटा नहीं करते हैं। जो भी है बात बता देंगे। लोग चाहते थे हमारे से काम करने का। नहीं भी हो ऐसा, पुण्ययोग नहीं हो तो ऐसा नहीं भी हो। लेकिन हम तो नुकसान से बच जायेंगे। और झूठ बोलेंगे तो भी काम नहीं होगा तो नहीं होगा, प्रारब्ध में नहीं हो तो नहीं होगा। जब प्रारब्ध अनुसार ही काम होता है और सच बोलने से लाभ है, नुकसान नहीं है, झूठ बोलने से नुकसान है तो फिर सच क्यों नहीं बोले? झूठ क्यों बोले? और विश्वासघात तो किसी से करना नहीं चाहिये। जो अपने पर विश्वास रखकर चलते हैं उनके साथ तो ऐसा काम सज्जन लोग भी नहीं करते तो धार्मिक लोग तो कहाँ से करेंगे? 'अर्थात् उन्हें ग्रहण न करे।'

'मत का आग्रह छोड़ दे।' फिर से लिखा कि अपने मत का आग्रह छोड़ देना। मैं ऐसा मानता हूँ, मानो, आग्रह क्यों उसका? आग्रह रखने से कषाय उत्पन्न होता है।

क्या होता है? कषाय उत्पन्न होता है। दृढ़ता और चीज है, आग्रह और चीज है, दोनों एक बात नहीं है। हम बात सही समझे और सत्य का हमें दृढ़ और मक्कम भाव रहे ये सद्गुण है। और आग्रह रहे वो दुर्गुण है। आपस में भेदरेखा पतली है, दिखता है एक-सा। क्या? दिखता है एक-सा, लेकिन एक नहीं है। दोनों में परस्पर विरुद्धता है। आग्रह है उसमें ऐसा कषाय पैदा होता है और आग्रह वाला जीव अपना अभिप्राय, अपना मत थोपेगा, दूसरे पर भी थोपेगा। ऐसा हमें कभी नहीं करना चाहिये। मक्कमता है वह अपने लिये होती है। आग्रह में दूसरों के लिये हो जाता है। आग्रह और दृढ़ता में यही अंतर है।

जैसे कोई नियम पालन करता है। नियम पालन करो मक्कमता से, दृढ़ता से और नियम में अचलित रहो, विचलित नहीं हो। वह तो अच्छी बात है। लेकिन हम जो नियम पाले वह दूसरों को भी पालना चाहिये और नहीं पाले तो हमारे परिणाम बिगड़ने लगे, यह हो गया उसी विषय का आग्रह। जैसे हम रात्रिभोजन नहीं करते। अच्छी बात है, मक्कमता से नहीं करो। लेकिन दूसरे नहीं करते इस पर हमारे परिणाम बिगड़ हो जाये, वह हो गया आग्रह इस विषय का। मक्कमता एक बात है, आग्रह अलग बात है।

मुमुक्षु:- दुराग्रह किसको कहते हैं?

पूज्य भाईश्री:- दुराग्रह यानि दुष्ट आग्रह। दुराग्रह का अर्थ क्या होता है? दुष्ट आग्रह। दुराग्रह तो क्या है कि खोटी बात के लिये भी आग्रह रखना। जब हम कहते हैं कि सच्ची बात के लिये भी आग्रह छोड़ दो, तो खोटी बात के लिये तो आग्रह करने का सवाल ही कहाँ पैदा होता है? फिर भी कोई करता है तो उसको कहते हैं, दुराग्रह। आग्रह और दुराग्रह दोनों अच्छा नहीं है, दुराग्रह ज्यादा खराब है।

मुमुक्षु:- भाईश्री, ऐसा कह सकते हैं कि परलक्षीपना आये वहाँ आग्रह हो जाये? और स्वलक्षीपना आये तो मक्कमता आये?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, आग्रह हो ही जाता है, correct. क्या प्रश्न पूछा? कि जिसको परलक्षीपना होता है उसको आग्रह हो जायेगा। ये ऐसा क्यों नहीं करता है?

प्रवचन-07, पत्रांक-466 (2)

वह ऐसा क्यों नहीं करता है? इसको ऐसा करना चाहिये, उसको वैसा करना चाहिये। वह दूसरों के लिये ही सोचेगा। और स्वलक्षीपना है वह मक्कमता से अपना कल्याण करेगा, दृढ़ता से विचलित नहीं होगा। वह अच्छा है, ऐसा होना चाहिये, ये सद्गुण है। मक्कमता में हिम्मत होती है और ताकत होती है कि इस मक्कमता से पालन करने वाले को अनेक प्रकार की प्रतिकूलता आये तो भी वह डिगता नहीं है। इसीलिये वह सद्गुण है।

'मत का आग्रह छोड़ दे।' अब देखिये कि विश्व के जितने भी धर्म संप्रदाय हैं उसमें सत्शास्त्र, सत् साहित्य, सद्गुरु और सत्देव ये सिर्फ दिगंबर संप्रदाय में है। और जगह सत् देव-गुरु-शास्त्र नहीं है। हमको ऐसा मालूम हुआ, कुलधर्म से मिला है तो वह तो ऐसा पुण्य लेकर आये हैं तो उनको तो कोई माथापच्ची में जाना नहीं पड़ेगा। लेकिन जो कुलधर्म से नहीं हो उनको तो खोज करनी पड़ती है कि सत् देव-गुरु-धर्म कहाँ होता है? सत् देव-गुरु-शास्त्र कहाँ होता है? वो खोज करके उसको स्वीकार करेंगे। जैसे हम लोगों ने स्वीकार किया वैसे। और मक्कमता से वह अडिग रहे लेकिन आग्रह नहीं रखे। आग्रह रखेंगे तो लड़ाई होगी। और आग्रह रखेंगे तो क्या बात होगी? कि अन्य मत जो, भगवान की वाणी में से उत्पन्न हुये उन लोगों ने कुछ न कुछ बात तो भगवान की स्वीकार की है और विकृति आयी तो मतांतर हो गया, दूसरा मत हो गया। उसमें विकृति क्या और असली भगवान की बात क्या? वह हमको मताग्रह होगा तो समझ में नहीं आयेगी।

दृष्टांत लेते हैं कि जैसे दिगंबर में से श्वेतांबर निकले। २००० साल हो गये। भगवान महावीरस्वामी को २५०० साल हुए, ५०० साल के बाद भगवान कुन्दकुन्दस्वामी के जमाने में ये श्वेतांबर संप्रदाय की शुरूआत हुयी, वह निकल चुका था। स्वामीजी ने देखा कि अरे..! ये तो भगवान का मार्ग टूटता है। तो उन्होंने अष्टपाहुड़ नाम का जो ग्रंथ है वह बिल्कुल दार्शनिक ग्रंथ लिखा है। और श्वेतांबर संप्रदाय के विषय में निषेध किया है, कभी-कभी कड़ा निषेध किया है। इतना कड़ा निषेध किया है कि वस्त्र का एक धागा रखकर अगर कोई अपने को मुनि मानता है या मनाता है, वह निगोद में चला जायेगा। वह निगोद में चला जायेगा, इतना कड़क लिखा है। इतना

प्रवचन-07, पत्रांक-466 (2)

कड़क लिखा है। और उस विषय को समझाने के लिये गुरुदेव कानजीस्वामी जो है वह इतना कहते थे कि इसीलिये सही लिखा है कि सारा भगवान का मार्ग बदल जाता है। ऐसा नहीं है, वो भी त्यागी तो है लेकिन कम त्याग करते हैं, तो उनकी उतनी बड़ी सजा क्यों? त्यागी तो है। वे दृष्टांत देते थे कि ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा तो नहीं दे रहे है न? आचार्यश्री कहीं ककड़ी के चोर को फाँसी की सजा तो नहीं देते? कि नहीं, ऐसा नहीं है, बहुत बड़ा अपराध है। मार्ग से उन्मार्ग चलाना, दूसरा मार्ग चलाना ये बहुत बड़ा अपराध है। उत्सूत्र प्ररूपण जितना कोई बड़ा अपराध नहीं है, वह आनंदघनजी ने लिखा है। उत्सूत्र प्ररूपण सरीखो दोष नहीं, आनंदघनजी ने लिखा। सूत्र बदल दिया उन्होंने। सूत्र बदल दिये, अपने शास्त्र बदल दिये, लेकिन कुछ बातें रख ली जो स्मरण में थी वो। जैसे उनका आज का भी आचारांग सूत्र है उसमें पहला सूत्र है वह मूल सूत्र है। 'जो एगम् जाणइ सो सव्वम् जाणइ।' एक आत्मा जाना उसने सब जाना। ये भगवान की वाणी है। तो मतांतर के वशात् हम भगवान की वाणी का निषेध करे ऐसा कभी नहीं हो जाना चाहिये। जहाँ भी सत्य हो, हमारे दिमाग में वह बात आनी चाहिये कि सत्य है, तीर्थंकरदेव के घर की बात होगी। असत्य है, ये पीछे वालों ने गड़बड़ किया, adulteration हो गया। वह बात हम को छाँटने की क्षमता होनी चाहिये। उसी का नाम कहते हैं, सम्यक्ज्ञान। 'चार वेद पुराण आदि शास्त्र सौ मिथ्यात्वना, पण ज्ञानीने ते ज्ञान भास्या ए ज ठेकाणे ठरो, जिनवर कहे छे ज्ञान तेने सर्व भव्यो सांभळो।' यह बात है, ज्ञान उसीको कहते हैं।

इसीलिये सत्य संप्रदाय-सत्य मत समझना एक बात है और उसका आग्रह होना वह बात दूसरी हो जाती है। उसमें आग्रह वाले लोग अंधे हो जाते हैं, वह सत्य को नहीं पकड़ते, संप्रदाय को पकड़ते हैं। और संकुचित दृष्टि में आ ही जायेगा।

ज्ञानीपुरुष और संप्रदाय क्यों भिन्न पड़ जाता है? कि संप्रदाय में जो भी विकृतियाँ चालू हो गयी इनका अनुसरण ज्ञानी नहीं करते। और संप्रदाय वाले को वह सुहाता नहीं कि हमारे में ऐसा चलता है, दूसरी बात क्यों करते हैं? तो यहाँ से दोनों अलग पड़ जाते हैं, साथ नहीं चल सकते। अब एक वचनामृत लिखा है, बहुत सुन्दर लिखा है। 'आत्मा का धर्म आत्मा में है।' आत्मा का धर्म मंदिर में नहीं, आत्मा का

धर्म शास्त्र में नहीं, आत्मा का धर्म संप्रदाय में नहीं, आत्मा का धर्म समाज में नहीं। आत्मा का धर्म आत्मा में है।

'आत्मत्व प्राप्त पुरुष के द्वारा उपदिष्ट धर्म आत्मता मार्ग रूप होता है।' ऐसा वचन हमने कहीं देखा नहीं, कितनी पकड़ है! विषय पर mastery कितनी है, यह देखने में आती है इस वचन में। कि आत्मत्व प्राप्त पुरुष जो है, जिसको आत्मपना प्राप्त हुआ है। धर्म शब्द, दूसरा कोई शब्द प्रयोग नहीं किया है। आत्मा का जो शुद्ध स्वभाव है, सहज ज्ञान, सहज आनंद, ऐसा जिसने प्राप्त किया है, आत्मपना प्राप्त किया है, ऐसा आत्मत्व प्राप्त जो पुरुष है कोई भी आत्मा है, उसने जो उपदेश दिया कि इस तरह से आत्मा का धर्म होता है, वो 'आत्मता मार्ग रूप होता है।' उसमें आत्मता ही आत्मता होती है। वह दूसरी खींचातानी में जायेगा नहीं। जैसे आत्मधर्म है ऐसे करो, आत्मा का धर्म ऐसे करो, आत्मता इस तरह से प्राप्त करो। स्वभाव को इस तरह से उजागर करो अंदर में से। इस तरह से अपने स्वरूप को ग्रहण करो, ये बात आयेगी।

'बाकी के मार्ग के मत में न पड़े।' यह आत्मता छोड़कर के जो मार्ग करता है या मत होता है, (उसमें) नहीं पड़ना, छोड़ देना। इसीलिये ज्ञानी भी जब जन्म लेते है तो कोई संप्रदाय में लेते है न? मनुष्य में तो संप्रदाय बिना का कोई परिवार नहीं होता। सभी परिवार अपने-अपने संप्रदाय में होते हैं। लेकिन वो अलग पड़ जाते हैं, इसका यही कारण है। वो विकृतियों का स्वीकार नहीं करेगा। और लोग कहेंगे कि ये नया धर्म निकाला, नया धर्म नहीं निकाला है। असली मार्ग, मूल तीर्थंकरदेव के मार्ग को वो पहचानते हैं, जानते हैं। उसीका उपदेश देते हैं और उनका ही अनुसरण करते हैं। यह बात होती है। (२२: मिनिट तक)



प्रवचन-08,

प्रवचन-08, पत्रांक-679 (1)

679वाँ पत्र लेते हैं। श्री सोभागभाई के प्रति लिखा गया यह पत्र है। पत्र तो बहुत विस्तार वाला है। थोड़ा द्रव्यानुयोग का विषय भी उसमें चला है। केवलज्ञान पर्यंत की चर्चा करी है। परंतु प्रारंभ में ही, पत्र के प्रारंभ में ही कोई पाँच-छः प्रश्न के उत्तर दिये हैं, इसीलिये पत्र तो विस्तार वाला है। परंतु दूसरे प्रश्न का उत्तर बहुत सुन्दर है। बहुत सुन्दर है अथवा प्रयोजनभूत इतना है कि समझने योग्य है।

'आत्मिनिष्ठ श्री सोभाग के प्रति श्री ॐ सद्गुरुचरणाय नमः' यहाँ सद्गुरु को नमस्कार किया है। 'ॐ सद्गुरुचरणाय नमः आत्मिनिष्ठ श्री सोभाग के प्रति, श्री सायला।' सोभागभाई को आत्मिनिष्ठ कहा है। (अर्थात्) आत्मकल्याण में जिसकी निष्ठा है, ऐसा विशेषण प्रयोग किया है। और ऐसी योग्यता स्वयं ने देखी है। ज्ञानीपुरुष श्रुतज्ञान-प्रमाणज्ञान, श्रुतप्रमाण जिसको कहने में आता है, ऐसे श्रुतप्रमाण के धनी हैं। नय-प्रमाण कहते हैं न? श्रुतज्ञान के दो विभाग-नय और प्रमाण। वह प्रमाण यानि क्या? कि जिस ज्ञान में वस्तु का स्वरूप जैसा है वैसा नापने में आ जाता है। हम लोग कहते हैं न? हमारे कपड़े का नाप ले लो। मेरा शरीर है उस अनुसार कपड़ा बनना चाहिये। उसे परिमाण अथवा प्रमाण कहने में आता है। सम्यक् श्रुतज्ञान है वो प्रमाणज्ञान है और उस प्रमाणज्ञान का स्वभाव ऐसा है कि सामने जैसा पदार्थ हो वैसा नाप लेता है और वैसा ही कहता है, न्यूनाधिक नहीं कहता। यह प्रमाणज्ञान का स्वभाव है। इसीलिये जो विशेषण कहते हैं वह प्रमाणज्ञान में आया है और विशेषण लिखते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि सामने आत्मकल्याण की निष्ठा देखी है तो आत्मिनष्ठ कहा है। ऐसी योग्यता देखी है। कोई प्रशंसा इस तरह नहीं करते हैं कि गुण न हो और प्रशंसा करते हैं, इस तरह प्रशंसा नहीं करते हैं।

'फागुन वदी 6 के पत्र में लिखे हुए पत्रों का समाधान इस पत्र में संक्षेप से लिखा है, उसे विचारियेगा।' श्री सोभागभाई का फागुन वदी 6 का पत्र है उसमें करीब छः

प्रश्न लिखे होंगे, उन छहों प्रश्नों का समाधान इस पत्र में संक्षेप में लिखा है। संक्षेप से लिखा है तो भी तीन पृष्ठ का पूरा पत्र है। विस्तार तो उनके ज्ञान में कितना होगा, उसका विस्तार करने में आये तो वह ग्रन्थ बन जाये। पत्र में से वह ग्रन्थ बन जाये।

निरावरण ज्ञान किसको कहना? वह पहला प्रश्न होगा। क्योंकि यहाँ प्रथम प्रश्न के उत्तर में निरावरण ज्ञान किसको कहते हैं उसका उत्तर दिया है। 'जिस ज्ञान में देहादि का अध्यास मिट गया है,...' जिस ज्ञान में देहादि अध्यास मिट गया है अर्थात् मैं देहस्वरूप हूँ और मैं रागस्वरूप हूँ, आदि में अन्य जितने भी विभाव के परिणाम होते हैं (वह ले लेना)। ऐसे मिथ्यात्व अवस्था में, अज्ञान अवस्था में जीव को ऐसे अध्यासित परिणाम होते हैं कि जैसा-जैसा विभाव करे वैसा मैं हूँ ऐसा अनुभव भी करता है। राग हो तब मैं रागी हूँ ऐसा अनुभव होता है, क्रोध हो तब मैं क्रोधी हूँ ऐसा अनुभव होता है। शरीर जैसा हो, ऊँचा हूँ, नीचा हूँ, कुरूप हूँ, सुरूप हूँ, पतला हूँ, दुबला हूँ या मोटा हूँ, जैसा शरीर है ऐसा मैं हूँ, ऐसा जो अनुभव वह देहाध्यास है। तंदुरस्त हूँ, रोगी हूँ वह सब उसमें आ जाता है।

'जिस ज्ञान में देहादि का अध्यास मिट गया है, और अन्य पदार्थ में अहंता-ममता का अभाव है,...' अर्थात् स्वयं से भिन्न ऐसे सचेत, अचेत, सचेत-अचेत मिश्र तीनों प्रकार के पदार्थ में अपनत्व लगता नहीं है। उस ज्ञान में परायापन लगता है, अपनत्व नहीं लगता है। खास करके प्रारब्धयोग से जिन पदार्थों का संयोग है, उस पदार्थ में जीव को अपनत्व का अध्यास होता है। यह संपत्ति मेरी, यह कुटुंब मेरा, यह घर मेरा, यह कपड़े मेरे, यह शरीर मेरा, जो कुछ प्रारब्धयोग से संयोग है उसमें अपनत्व भासित होता है। ये अध्यासित परिणाम है। ऐसे प्रकार का अपनत्व जिसे वर्तता नहीं है। परपदार्थ परज्ञेय के रूप में ज्ञात होते हैं। कारण कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वभावी पदार्थ होने से ज्ञानस्वभावी आत्मा अपने स्वयं के अनुभव में स्वयं को मात्र ज्ञानरूप अनुभवता है।

जो स्वयं को ज्ञानमात्ररूप अनुभवता है वह अन्य पदार्थ को ज्ञेयमात्ररूप अनुभवता है। कोई पदार्थ में उसे अपनत्व भासित नहीं होता। लोकव्यवहार की भाषा में ऐसा कहे कि मुझे बुखार आया है। परंतु वास्तव में, बुखार शरीर को आया है,

आत्मा को नहीं आया है। ज्ञान में ऐसा ही रहता है। बोले ऐसा कि मुझे बुखार आया है। परंतु ज्ञान में ऐसा है कि शरीर की ऊष्ण पर्याय हुयी है, आत्मा को शीत-उष्ण पर्याय होती नहीं। व्यवहार में तो बोलने की जो भाषा होती है उसी प्रकार से बोला जाता है। पानी का ग्लास दो, ऐसा हम कहते हैं। ग्लास तो स्टील का होता है, या काँच का ग्लास होता है। बोलते कैसे हैं? पानी का ग्लास दो। ज्ञान में ऐसा है? पानी का प्याला ज्ञान में है? नहीं। ज्ञान में तो पानी भरा हुआ ग्लास मंगवाया है। परंतु भरा हुआ शब्द बोलने की पद्धित नहीं है। पानी का भरा हुआ ग्लास दो ऐसा नहीं कहते, पानी का ग्लास दो, ऐसा कहते हैं। उसमें, भरा हुआ, यह बात अध्याहार रहती है। भाषा झूठी है, ज्ञान सच्चा है। अथवा भाषा व्यवहार की है और ज्ञान निश्चय का है।

इसी प्रकार से यहाँ भी बोलने में ज्ञानी कोई भी भाषा बोले, परंतु उनके ज्ञान में अन्य पदार्थ कदापि अपने रूप भासित नहीं होता। अन्य पदार्थ तो अपने रूप भासित नहीं होता, परंतु रागादि परिणाम का अध्यास होने से रागादि परिणाम भी अपने रूप भासित नहीं होते। वह भी भिन्न भासित होते हैं। भिन्न द्रव्य और भिन्न भाव, जो आत्मा के स्वरूपभूत नहीं है, जो आत्मा के स्वभावभूत नहीं है ऐसे द्रव्य-भाव परज्ञेय रूप ज्ञात होते हैं, अपने रूप ज्ञात होते नहीं अथवा भास्यमान होते नहीं। क्यों (भासित) नहीं होते? (क्योंकि) 'उपयोग स्वभाव में परिणमता है,..' क्या कहा? जिस ज्ञान में देहादि अध्यास मिट गया है, मिट गया है उसका अर्थ यह है कि पहले था, अब मिट गया है। यह अध्यास एक रोग था। मिथ्याभ्रांति। 'आत्मभ्रांति सम रोग नहीं, सदुरु वैद्य स्जाण।' वह रोग था, वह देहादि अध्यास अब मिट गया है।

'अन्य पदार्थ में अहंता-ममता का अभाव है, तथा उपयोग स्वभाव में परिणमता है,...' नास्ति इस प्रकार हुयी है (तो) अब अस्ति क्या हुयी है? कि 'उपयोग स्वभाव में परिणमता है,...' क्यों यह बात ली? कि देहादि अध्यास मिट गया है इसकी साक्षी रूप में अज्ञानी जीव भी कितने ही प्रयोग करके दिखा सकता है। देखिये, हमारा operation चिर-फाड़ करो, दवाई सुँघाने की आवश्यकता नहीं है। मनोबल ऐसा होता है। शरीर का चाहे जो हो। मनोबल से होना एक बात है, आत्मबल से होना वह दूसरी बात है। मनोबल से त्याग, वैराग्य, उपसर्ग, परिषह अथवा रोगादि की पीड़ा

सहन करना इत्यादि होने योग्य है, लेकिन उससे कहीं आत्मकल्याण होता नहीं। उसमें आत्मबल चाहिये। और वह आत्मा के आधार से हुआ है। कब? कि उपयोग स्वभाव में परिणमित हो तब।

एक साधु बाबा की बात सुनी थी, (उसका) हाथ सड़ गया था। सड़कर अन्दर छिद्र हो गया था। छिद्र होकर अन्दर लट होने लगी थी। शरीर कैसा सड़ा हुआ था? लट होने लगी थी। हाथ ऐसा करे तो लट नीचे गिरे। हाथ घुमाने से नीचे गिर गयी हो तो वापस अन्दर रख दे (और बोले) खा, बच्चा, खा, तेरी खाने की चीज है। क्या कहे उसको? यह तो तेरी खाने की चीज है, इस मिट्टी को तू खा। मुझे उसका कोई असर हो ऐसा नहीं है। देहाध्यास मिट गया होगा? क्या? यह कोई देहाध्यास मिटने का लक्षण नहीं है, ऐसा कहते हैं। इसीलिये एक वाक्य इसके अन्दर लिखा है कि 'उपयोग स्वभाव में परिणमता है,..'

कोई भी त्याग, वैराग्य या चाहे जो भी प्रकार की क्रिया हो, उसकी सत्यता, सम्यकता का प्रमाण क्या? कि उसने किसके अवलम्बन से उस कार्य की क्रिया की है उस पर से उसका प्रमाण है। देहाध्यास मिट गया है ऐसा मानकर सब त्याग करे वह नास्ति हुयी, परन्तु अस्ति क्या है? किसका ग्रहण करके त्याग किया है? इस पर त्याग का मूल्यांकन है। इसीलिये अस्ति की बात साथ में ली है। कि जिसका 'उपयोग स्वभाव में परिणमता है,..'

'अर्थात् ज्ञान स्वरूपता का सेवन करता है,..' देखिये, कैसी भाषा का प्रयोग किया है। 'अर्थात् ज्ञान स्वरूपता का सेवन करता है, उस ज्ञान को निरावरणज्ञान कहना योग्य है।' देखो, निरावरणज्ञान की व्याख्या क्या है? ज्ञान का क्षयोपशम बढ़ जाये, अनेक ग्रन्थ कंठस्थ हो जाये इसीलिये वह ज्ञान है, उसको यहाँ निरावरणज्ञान नहीं कहते हैं। जो ज्ञान स्वरूपता का सेवन करे। क्यों? कि स्वरूप को आवरण नहीं है। जैसे अग्नि को दीमक लगती नहीं, सुवर्ण को जंग लगता नहीं, वैसे आत्मा के मूल स्वरूप को आवरण आता नहीं। ऐसा जो अपना सहजात्म स्वरूप निरावरण स्वरूप है, उस स्वरूप के अवलम्बन से उस स्वरूप में तन्मय होकर स्वभाव में उपयोग परिणमता है (वह निरावरणज्ञान है)...यह पहले प्रश्न का उत्तर दिया है।

दूसरा प्रश्न है उसका विस्तार से पाँच पाँराग्राफ में उत्तर दिया है। ज्ञानी की वाणी और अज्ञानी की वाणी में अंतर होता है, वह कैसे समझना? इस मतलब का कोई प्रश्न होगा। क्योंकि भाषा से भाव पकड़ में आता है। भाव को पकड़ने का साधन मुख्य रूप से, भाषा है। फिर मुखमुद्रा की चेष्टा है वह एक दूसरी बात है, परन्तु उसमें कोई विस्तार नहीं होता। जैसे गुस्सा हो तो आँख में गुस्सा दिखेगा और प्रेम हो तो आँख में प्रेम दिखेगा, शोक हो तो शोक दिखेगा और हर्ष हो तो हर्ष दिखेगा, लेकिन इससे अधिक भाव का कोई विस्तार नहीं आता। भाव को व्यक्त करती है, मुखमुद्रा भाव को व्यक्त करती है, लेकिन उससे आगे परिणाम के विस्तार की भाषा के सिवाय अभिव्यक्ति हो सकती नहीं। इसीलिये ज्ञानी को पहचानने का मुख्य साधन वाणी है और उनकी मुखमुद्रा है।

मुखमुद्रा पर से तो ज्ञानी को कोई ही पहचान सकता है। वह तो बहुत पात्रता हो अथवा स्वयं ज्ञानी हो वह अलग बात है, बाकी भाषा के सिवाय ज्ञानीपुरुष की पहचान हो सकती नहीं। अब, भाषा का विषय यह है कि उसमें भ्रम होने की संभावना है। वह भ्रम हो अथवा न हो इस विषय पर, इस पत्र में अत्यंत सुन्दर मार्गदर्शन दिया है।

'सर्व जीवों को अर्थात् सामान्य मनुष्यों को ज्ञानी-अज्ञानी की वाणी में जो अंतर है सो समझ में आना कठिन है, यह बात यथार्थ है;..' यह सोभागभाई ने लिखा है कि मुझे ऐसा लगता है कि कुछ हद तक की पात्रता के सिवाय अथवा उत्कृष्ट मुमुक्षुता के सिवाय सामान्य मनुष्यों को अथवा जघन्य कक्षा के मुमुक्षु को, प्राथमिक अवस्था के मुमुक्षु को अथवा मध्यम कोटि के मुमुक्षु को ज्ञानी की वाणी का और अज्ञानी की वाणी का अंतर समझ में नहीं आता है। आपकी वह बात तो यथार्थ है।

'क्योंकि शुष्कज्ञानी कुछ सीखकर...' (अर्थात्) शुष्कज्ञानी हो वह कुछ सीखकर 'ज्ञानी जैसा उपदेश करे...' ज्ञानी जैसा उपदेश करते हो, जिस style से उपदेश करते हो, जिस शैली से उपदेश करते हो, जिस हावभाव से उपदेश करते हो ऐसा सीख लेने में भी आता है। सीखने की कला हो तो ऐसा सीख ले। तो शुष्कज्ञानी भी ऐसा कुछ सीखकर उपदेश करे 'जिससे उसमें वचन की समानता दिखने से...'

वैसा ही शब्द प्रयोग करे, ऐसे ही वचन बोले, ज्ञानी वचन बोले वही वचन वह बोले, अन्य न बोले, वही वचन बोले। ठीक, ज्ञानी जो बोले वही शुष्कज्ञानी बोले, अब कैसे पता चले कि यह ज्ञानी है या अज्ञानी? वचन में तो कोई अंतर नहीं है। 'वचन की समानता दिखने से शुष्कज्ञानी को भी सामान्य मनुष्य ज्ञानी मान लेता है, मंददशावान मुमुक्षुजीव भी वैसे वचनों से भ्रांति में पड़ जाता है,..' मंद दशा की मुमुक्षुता हो तो वह भी भूल कर बैठता है।

'परंतु उत्कृष्ट दशावान मुमुक्षुपुरुष शुष्कज्ञानी की वाणी शब्द से ज्ञानी की वाणी जैसी देखकर प्रायः भ्रांति पाने योग्य नहीं है,...' उत्कृष्ट दशा के मुमुक्षु को भ्रांति नहीं होती। बाकी सामान्य जीवों को भ्रांति होती है, मंद दशा के मुमुक्षु को भ्रांति होती है और मध्यम दशा के मुमुक्षु को भी भ्रांति होती है। उत्कृष्ट दशा के मुमुक्षु को भ्रांति नहीं होती। इसीलिये पहचानने के लिये उत्कृष्ट मुमुक्षुता चाहिये ऐसा इसमें से सिद्ध होता है। कोई ऐसा कहे कि उत्कृष्ट मुमुक्षुता तो अभी हमें प्रगट नहीं हुयी है तो क्या करना? यह प्रश्न अपेक्षित है कि उत्कृष्ट मुमुक्षुता नहीं है, हम तो सामान्य मुमुक्षु ही है तो फिर हमें क्या करना? यदि अज्ञानी को ज्ञानी मान ले तो भी बहुत बड़ा जोखिम है, ज्ञानी को अज्ञानी मान ले तो भी बहुत बड़ा जोखिम है, ज्ञानी को अज्ञानी मान ले तो भी बहुत बड़ा जोखिम है। अब, दो में से तीसरी मान्यता तो हो सके ऐसा नहीं है। करना क्या? यह एक समस्या होने योग्य है। तो कहते हैं कि मान्यता को reserve रखना।

मान्यता दो प्रकार से हो सकती है। तो कहते हैं कि उसमें खड़े रह जाना-जिज्ञासा में रहना। जब तक स्वयं की उत्कृष्ट मुमुक्षुता न हो तब तक जिज्ञासा में रहना, परंतु स्वयं कोई judgement लेना नहीं कि यह ज्ञानी है या अज्ञानी है ऐसा judgement नहीं लेना। अन्यथा जोखिम खड़ा है। अज्ञानी को ज्ञानी माने तो भी गृहीत मिथ्यात्व है, ज्ञानी को अज्ञानी माने तो भी गृहीत मिथ्यात्व है। अगृहीत मिथ्यात्व में तो जीव अनादि से खड़ा है। निगोद में भी अगृहीत था। मनुष्य होने के बाद जिम्मेदारी बढ़ती है। क्योंकि मनुष्य को विचार शक्ति वाचा सिहत है। वह प्रश्न-उत्तर कर सकता है, तो उसकी जिम्मेदारी (विशेष है)। Higher the post higher the responsibility. यदि भूल हो जाये तो गृहीत मिथ्यात्व में चला जायेगा।

ज्ञानी हो मुनि हो, परंतु उसकी ज्ञानी या मुनित्व की दशा न हो (और) माने तो वह गृहीत मिथ्यात्व में आ जायेगा और हो और न माने तो भी गृहीत मिथ्यात्व में चला जायेगा। इसीलिये पहचानने की जिम्मेदारी खड़ी होती है और वह जिम्मेदारी योग्यतावश प्राप्त होती है। उत्कृष्ट मुमुक्षु दशावान होने पूर्व उसको उस प्रकार की पहचान नहीं होती उसे भ्रांति होने की संभावना है। इसीलिये उस प्रकार में मध्यस्थ रहकर, उस प्रकार में स्वयं जिज्ञासा में रहे तो उसे सत्य समझने का अवकाश है। परंतु उल्टा निर्णय कर बैठे तो एक under prejudice आ जाता है अथवा पूर्वाग्रह युक्त विचार होने से पूर्वाग्रह वाले को सत्य बात दिखायी नहीं देती, सत्य समझ में नहीं आता। यह एक परिस्थिति उत्पन्न होती है।

यहाँ बहुत अच्छी स्पष्टता की है। 'मंद दशावान मुमुक्षुजीव भी वैसे वचनों से भ्रांति में पड़ जाता है, परंतु उत्कृष्ट दशावान मुमुक्षुपुरुष शुष्कज्ञानी की वाणी शब्द से ज्ञानी वाणी जैसी देखकर प्रायः भ्रांति पाने योग्य नहीं है,..' क्यों भ्रांति नहीं होती? 'क्योंकि आशय से शुष्कज्ञानी की वाणी से ज्ञानी की वाणी की तुलना नहीं होती।' बहुत गंभीर वचन लिखा है। फिर से, कारण दिया है कि ऐसा होने का कारण क्या है? कि शुष्कज्ञानी की वाणी में यदि आशय की तुलना करने में आये तो, ज्ञानी की वाणी के आशय के बराबर उसका आशय हो नहीं सकता। आशय यानि क्या? यहाँ यह प्रश्न है कि ज्ञानी की वाणी का आशय क्या है? पर हमने अभी जो देखा कि आत्मकल्याण साधना, यह एक ही आशय है। ज्ञानी की वाणी में दूसरा आशय नहीं है।

यथार्थ प्रकार से-सम्यक् प्रकार से आत्मा में अभिमुख होकर-अंतर्मुख होकर आत्मकल्याण कैसे साध सके यह, स्वयं साधते-साधते कहते हैं ऐसा होने से ज्ञानी की वाणी में उस आशय का अंतर-ध्विन उत्पन्न होता है। जिसे हम undertone कहते हैं। बुद्धिमान मनुष्य क्या करते हैं? कोई चाहे जो भी बात करता हो, उसका undertone पकड़ लेता है। बात कुछ भी करे, लेकिन उसका undertone हमें तो बराबर नहीं लगा, हमें फेरफार लगता है। बात ऐसी करता है, लेकिन इसमें से होगा कुछ और। यह देखो न, पहले सिक्के आते थे न सिक्के? चांदी का और खोटा।

खड़खड़ाहट से मालूम पड़े। दिखाव में तो चांदी का सिक्का हो वैसा ही खोटा सिक्का हो। चांदी का सिक्का मैला हो तो भी खड़खड़ाहट उसकी बराबर होती है और (खोटा सिक्का) दिखाव में हो तो भी खड़खड़ाने से एकदम बोदा बजे। उसकी झनकार। क्या कहते हैं उसको? सच्चे सिक्के की झनकार अलग होती है और खोटे सिक्के की झनकार अलग होती है। इस प्रकार ज्ञानी की वाणी की अंतरध्विन, चाहे जो भी बात करते हो, कदापि आत्मकल्याण से विरुद्ध जाये ऐसी अंतरध्विन कभी नहीं आती। और ऐसी अंतरध्विन शुष्कज्ञानी की वाणी में कभी आ सकती नहीं। इस अंतरध्विन को पकड़ने की योग्यता उत्कृष्ट दशावान मुमुक्षु में होती है। सामान्य मुमुक्षु में या सामान्य मनुष्यों को उतनी योग्यता नहीं होती। इसीलिये आशय की तुलना कर सकता है। उत्कृष्ट दशावान मुमुक्षु आशय की तुलना करता है और उस आशय पर से वह समझ सकता है कि यह वाणी है वह ज्ञानी की वाणी नहीं है, यह फर्क पड़ता है।

इसके अलावा ज्ञानी की वाणी में कितने ही गुण होते हैं उसकी बहुत सुन्दर चर्चा भी इस जगह की है। 'ज्ञानी की वाणी पूर्वा पर अविरोधी...' होती है। 'आत्मार्थ-उपदेशक...' होती है 'अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है,..' इसके अतिरिक्त 'अनुभवसहित होने से आत्मा को सतत जागृत करने वाली होती है।' पाँच बात करी है। पूर्वा पर अविरोधता, आत्मार्थ उपदेशक, अपूर्व (अर्थ का) निरूपण करने वाली-तीन, अनुभवसहितपना-चार और श्रवण करने वाले आत्मा को जागृत करने वाली होती है-पाँच। पाँच विशेषण कहे हैं। बात तो गहरी ली है, यह छिछोरी बात नहीं है। इतनी जो बात कही है वह बहुत गहरी बात कही है।

पूर्वा पर अविरोधीपना यह ज्ञानी की वाणी का मुख्य लक्षण है। यह स्वयं नीचे कहेंगे। क्यों पूर्वा पर अविरोधीपना होता है? कि ज्ञानी को पदार्थ दर्शन है इसीलिये। वह बात भी नीचे कहेंगे। पदार्थदर्शन का अर्थ क्या? कि आत्मा जो पदार्थ है वह पदार्थ कुछ विरुद्ध धर्मों को धारण करा हुआ पदार्थ है और ऐसे विरुद्ध धर्मों को धारण करने की आत्मा में शक्ति रही हुई है। उसको विरुद्ध धर्मत्व शक्ति कहने में आया है। समयसार में विरुद्ध धर्मत्व शक्ति कही है। कौन-से विरुद्ध धर्म हैं? कि आत्मा स्वरूप से शुद्ध है, वही आत्मा संसार अवस्था में परिणाम से अशुद्ध है, अवस्था में अशुद्ध

है। पर्याय से अशुद्ध और द्रव्य से शुद्ध। दोनों विरुद्ध धर्मों को एक पदार्थ एक साथ धारण करता है।

आत्मा पदार्थ से नित्य है, द्रव्य से नित्य है और पर्याय से अनित्य है। दोनों विरुद्ध धर्म है। एक पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। आत्मा वस्तु रूप से एक है और गुणधर्मों से अनेक है, पर्याय से अनेक है। आत्मा स्वरूप अपेक्षा से अस्तिपने है, परपदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से नास्ति रूप है। अस्ति और नास्ति दोनों विरुद्ध धर्म एक साथ है।

अब, जिसे पदार्थ दर्शन है ऐसे ज्ञानीपुरुष उस पदार्थ को ज्ञान में देखते होने से कोई भी धर्म की बात करे, क्योंकि बात तो क्रम से होने वाली है, जब नित्य की बात करेंगे तब अनित्य धर्म की बात नहीं होगी और अनित्य धर्म की बात करेंगे तब नित्य की बात नहीं होगी। परंतु उनकी वाणी में कहीं भी एकांत होता नहीं है। अनेक धर्मयुक्त पदार्थ स्वयं ही अनेकांतात्मक स्वरूप है और उस पदार्थ को जानकर जिसे ज्ञान में बराबर आया है, उस पदार्थ को कहने वाले की वाणी भी अनेकांत स्वरूप ही होती है। कभी एकांतिक वाणी ज्ञानी की होती नहीं, क्योंकि उनको पदार्थ दर्शन है।

ऐसा जो पूर्वा पर अविरोधीपना वह ज्ञानी की वाणी में होता है। अज्ञानी की वाणी में परस्पर विरुद्धता आये बिना रहती नहीं। इसीलिये आये बिना रहती नहीं क्योंकि उसको अनेकांत युक्त पदार्थ ज्ञान में आया नहीं है, अनुभव में नहीं आया है तो उसे दर्शायेगा कैसे? बतायेगा कैसे? कुछ बातें सीखकर बोलता है। परंतु जो बात सीखने मिली है वह अधूरी है। शास्त्र में मार्ग कहा है, शास्त्र से कोई सीख ले, परंतु मर्म तो ज्ञानियों के हृदय में रहा है। वह कहाँ से सीखेगा? इसीलिये उस वाणी में मर्म नहीं आयेगा। मार्ग की बात आयेगी, परंतु मर्म की बात नहीं आयेगी। वहाँ से आशय बदल जाता है, जहाँ मर्म नहीं आयेगा वहाँ आशय बदल जाता है।

विशेष रूप से ले तो, ज्ञानीपुरुष यानि कौन? कि जिनके पुरुषार्थ का जोर अपने स्वभाव पर आता है। जो वीतराग स्वभावी आत्मपदार्थ है, परिपूर्ण शुद्ध सहजात्म स्वरूप है ऐसा मैं हूँ, ऐसा पुरुषार्थ का जोर आता है और उस जोर में से वह वाणी

निकलती है। स्वयं के अंतर्मुखी पुरुषार्थ में परिणमते-परिणमते वह भाषा निकली है। इसीलिये वाणी का background क्या है? आधार क्या है? कि निज स्वरूप है (उसका) उसे आधार है। जबकि अज्ञान दशा में जीव राग की उपासना करता होने से जो वाणी निकलती है वह राग के जोर में से निकलती है। चाहे जैसी वाणी हो। उसका जोर कहाँ जाता है? राग पर जायेगा। कोई न कोई प्रकार से राग को उपादेय कर लेगा। कि यह राग तो ऐसा है कि उसमें से पुण्यानुबंधी पुण्य बँधता है इसीलिये अच्छा है। वीतरागमार्ग में कहीं भी राग की उपासना नहीं है। इसीलिये मार्ग का नाम वीतराग है, राग व्यतीत हुआ है ऐसा यह मार्ग है। अतः परस्पर विरुद्धता कहीं न कहीं आये बिना नहीं रहती। जीव मार्ग से अनजान है। वीतराग मार्ग, मार्ग तो रास्ता है उससे जीव अनजान है। इसीलिये कहीं न कहीं विरुद्धता आये बिना नहीं रहती। क्योंकि राग के जोर में से वह वाणी निकली है और राग की उपादेयता उसे वर्तती है तो उसकी वाणी में राग की उपादेयता कहीं न कहीं तो आयेगी, आयेगी और आयेगी ही। जबकि जिसकी वाणी वीतरागता की उपासना में से आती है वह वीतरागमार्ग को अविरोधपने स्थापित करके आती है। उसका पुरुषार्थ उस प्रकार से वर्तता है और उस पुरुषार्थ युक्त वह वाणी होती है। इसीलिये पूर्वा पर अविरोधीपना वह ज्ञानी की वाणी का मुख्य गुण है। यह उन्होंने नीचे लिया है, यह मुख्य गुण है।

'आत्मार्थ-उपदेशक...' (अर्थात्) आत्मकल्याण हो वही आत्मा का प्रयोजन नाम अर्थ है। तो आत्मा का कल्याण हो ऐसा ही जिसका उपदेश है। ऐसा आत्मार्थ-उपदेशकपना स्वयं के परिणाम पर असर कर जाये ऐसा आत्मार्थ-उपदेशकपना। वह यहाँ से नक्की करना पड़ता है कि इस आत्मा को आत्महित हो ऐसा प्रयोजन, यह प्रयोजन सिद्ध हो ऐसा उपदेश है कि नहीं? ऐसी आत्मार्थ-उपदेशक (वाणी होती है)।

'अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है,..' अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली, इसमें क्या समझना? कि जो आत्मस्वभाव पूर्व में कभी जाना नहीं, ऐसे स्वभाव को-ऐसे आत्मस्वरूप को प्रगट रूप से दर्शाने का जिनमें सामर्थ्य है। क्योंकि उनके ज्ञान में आत्मा प्रगटपने निरावरण वस्तु स्वरूप है, प्रगट वस्तु स्वरूप है। तो वह देखकर कहते है, वह देखकर कहते हैं। इसीलिये वे अपूर्व पदार्थ को अपूर्व रूप से निरूपण

करते हैं ऐसा जिसे अपूर्व भावभासन होता है उसको वह बात समझ में आती है कि ये अपूर्व पदार्थ को कहने वाले हैं।

फिर से, यह थोड़ी योग्यता में (आने के बाद) समझ में आये ऐसा विषय है। योग्यता न हो तो, अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली, यह बात समझ में नहीं आयेगी। क्योंकि स्वयं को अपूर्वता भासित नहीं होती है, स्वयं को अन्दर भाव में अपूर्वता नहीं लगती है तो सामने कहने वाली अपूर्व वाणी है उसे नाप नहीं सकता, वाणी की अपूर्वता नाप नहीं सकता। इसीलिये अपूर्व अर्थ का निरूपण, यहाँ अर्थ यानि भाव है। अपूर्व भावों को व्यक्त करने वाली वाणी है। और स्वयं को अपूर्वता भासित हो तब नक्की कर सकेगा, नहीं तो नक्की न कर सकेगा। इसीलिये वहाँ उत्कृष्ट दशावान लिया। ऐसा 'अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है,..'

'और अनुभवसहित होने से...' उस वाणी में अनुभव झलकता है। यह एक विशिष्ट बात है! अनुभवसहितपना वाणी में ज्ञात हो और अनुभवरहितपना भी वाणी में ज्ञात हो। वाणी-वाणी में फर्क पड़ जाता है। अंधेरे में खड़े रहकर बात करता है कि ज्ञान के प्रकाश में खड़े रहकर बात करता है, यह परखने वाला हो तो परख सकता है। इस विषय में एक सुन्दर दृष्टांत (आता है)।

एक धर्मदासजी क्षुल्लक हो गये हैं। धर्मदासजी क्षुल्लक नाम के ज्ञानीपुरुष हुये और उन्होंने सम्यक्ज्ञान दीपिका नाम का शास्त्र लिखा है, सम्यक्ज्ञान दीपिका। क्षुल्लक थे और यहाँ महाराष्ट्र में हुये हैं। अमरावती की ओर हुये हैं। बहुभाग कृपालुदेव के समकालीन हैं। उन दिनों में तो क्या है कि communication के कोई साधन नहीं थे तो कौन कहाँ है यह मालूम नहीं पड़ता था, क्षेत्र अलग हो तो किसी का पता नहीं चलता। उनका समय देखे तो लगभग वह है। 1946 में वे थे, कृपालुदेव का 1946 में 23 वाँ वर्ष है। उन्होंने सम्यक्ज्ञान दीपिका नाम का शास्त्र (लिखा है)। दूसरे और भी शास्त्र लिखे हैं। उसमें एक दृष्टांत दिया है कि कृत्ता है वह रात्रि में चोर को चोरी करते हुये देख लेता है। कोई मकान की दीवार तोड़ता हुआ या मकान की खिड़की से अन्दर जाता हुआ देख लेता है तो कृत्ता रात्रि में भौंकने लगता है। उसकी भौंकने की आवाज स्नकर बगल वाली गली में जो कृता था वह भी भौंकने लगा।

दोनों समान ही भौंकते हैं। क्योंकि वह कुत्ता, कुत्ता की भाषा समझता है कि यह कुत्ता जो भौंकता है वह निश्चित ही चोर को देखकर भौंकता है। इसीलिये उसके जैसे ही (भौंकने लगता है)। वे भौंकते क्यों है? कि लोगों को जगा दे। सो रहे तो उनको जगा दे। इसीलिये दूसरा कुत्ता भी वैसे ही भौंकता है। फिर भी भौंकने भौंकने में अंतर है। जो चोर को देखकर भौंकता है और जो चोर को देखे बिना भौंकता है, समान भौंकता है, (लेकिन) दोनों के tone में अंतर है। एक को प्रत्यक्ष दिखता है कि यह चोर है और चोरी कर रहा है और दूसरा है वह देखे बिना यूँ ही उसकी copy करता है। वह जैसे अनुभवसहितपना है वह प्रत्यक्ष अनुभवसहितपना है। और वैसी ही बात करे, लेकिन जिसको अनुभवसहितपना नहीं है। बोलने बोलने में फर्क पड़े बिना नहीं रहेगा।

'अनुभवसहित होने से...' उसमें क्या विशेषता प्रगट होती है? कि वह 'आत्मा को सतत जागृत करने वाली होती है।' स्वयं को जागृति आती है, सुननेवाले को आत्म जागृति उत्पन्न होती है। वह जागृत हो जाता है, सुषुप्त में से जागृत हो जाता है। ऐसी उसकी चेतना को जागृत करने वाली होती है। स्वयं जागृत चेतना में है तो उनकी वाणी दूसरे आत्मा को भी जागृत कर देती है। ऐसी स्वयं को असर होती है, वहाँ से वह ज्ञानी को नाप लेता है। ज्ञानी को पहचाना जा सके या न पहचाना जा सके? कि पहचाना जा सकता है। पहचानने के अनेक कारण है और उन कारणों की चर्चा वाणी पर से और स्वयं के परिणमन की दशा पर से-अनुभव से कैसे पहचान करनी उसकी यह चर्चा ली है। विषय बहुत रिसक है। थोड़ा और विशेष विस्तार से हम अगले स्वाध्याय में लेंगे। समय समाप्त हुआ है।



प्रवचन-09, पत्रांक-679 (2)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-679) चल रहा है। ज्ञानीपुरुष को पहचानने का मुख्य साधन उनकी वाणी है। ज्ञानीपुरुष को दो प्रकार से जीव स्वीकार करता है, एक ओघसंज्ञा से स्वीकार करने में आता है और एक पहचानकर स्वीकार करने में आता है। ओघसंज्ञा से स्वीकार करने का परमार्थतः कोई फल नहीं है। ओघसंज्ञा से स्वीकार करने का परमार्थतः कोई फल नहीं है अर्थात् आत्मा को कोई लाभ होने की संभावना नहीं है। पहचानकर स्वीकार करने में आये तो उसका फल निर्वाणपद है, इतना महत् फल है। इसीलिये पहचान करने संबंधित विषय इस पत्र के अन्दर जो निरूपित हुआ है, वह मुमुक्षुजीव के लिये परम प्रयोजनभूत है।

तीसरे पॉराग्राफ से अपना विषय चल रहा है कि ज्ञानी की वाणी में कितने प्रकार के गुण होते हैं। वे गुण समझ में आये तो कहने वाले पुरुष ज्ञानी है ऐसी पहचान होती है। वह गुण समझ में न आये तो शास्त्र अनुसार वाणी ज्ञानी की भी हो और अज्ञानी की भी हो, उस विषय का कोई अंतर स्वयं को ज्ञात नहीं होता और ओघसंज्ञा ऐसे की ऐसे चालू रहती है। ओघसंज्ञा से जो नुकसान है वह नुकसान इस प्रकार है कि आत्मस्वरूप का निश्चय नहीं हो सकता अर्थात् आत्मस्वरूप की पहचान हो सकती नहीं। यद्यपि ज्ञानीपुरुष की पहचान न हो सके ऐसे जीव को आत्मस्वरूप की पहचान होने का प्रश्न भी उपस्थित होता नहीं। क्यों? कि ज्ञानीपुरुष को तो प्रगट ज्ञानज्योति वर्तती है जबकि आत्मा है उसको शक्ति रूप ज्ञानज्योति है। मिथ्यात्व, अज्ञान अवस्था में ज्ञानज्योति व्यक्त नहीं हुयी है, प्रगट नहीं हुयी है। जो व्यक्त ज्योति को न देख सके, वह अव्यक्त ज्ञानज्योति को कैसे देख सकेगा? वह प्रश्न ही उपस्थित होता नहीं है। परंतु यहाँ ओघसंज्ञा के विषय में पत्र-449 में उस बात का निर्देश किया है।

'आत्मा को भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पना से विचार करने में...' तीन कारण लिये हैं। आत्मा की पहचान न हो, परंतु आत्मा संबंधित श्रवण, चिंतन, वांचन, चर्चा

आदि स्वाध्याय हो और वह स्वाध्याय होने पर पहचान होने के बजाय भिन्न-भिन्न प्रकार की अनेक प्रकार की कल्पना हो। किसी को कुछ, किसी को कुछ, किसी को कुछ कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है। ऐसी कल्पना होने में तीन कारण हैं, एक लोकसंज्ञा, एक ओघसंज्ञा और असत्संग। ये तीन कारण हैं। इन तीन कारणों का निरूपण 449 पत्र में किया है।

लोकसंज्ञा तो लोकदृष्टि है। लोकसंज्ञा (यानि) लोगों की दृष्टि से विचार करना। आत्मकल्याण को गौण करके लोक और समाज की मुख्यता से प्रवर्तना वह लोकसंज्ञा है। उसको समाज प्रतिबंध भी कहने में आता है कि जो प्रतिबंध परिभ्रमण का कारण है। स्वच्छंद और प्रतिबंध दोनों परिभ्रमण का कारण है। उसमें लोकसंज्ञा है वह समाज प्रतिबंध है। ऐसा करेंगे तो समाज में खलबली मचेगी, ऐसा बोलेंगे तो समाज को ऐसा लगेगा। इसीलिये सत्य को गौण करके, आत्मकल्याण को गौण करके समाज की मुख्यता हो उसको लोकसंज्ञा कहते हैं कि लोगों की दृष्टि से विचार करना।

ओघसंज्ञा (अर्थात्) पहचान रिहत समझ के परिणाम। जिसे समझ नहीं है उसको तो ओघसंज्ञा है ही, बिना समझे कोई क्रिया करे, साधन करे वह तो ओघसंज्ञा से करता ही है, परंतु शास्त्र अनुसार समझ करने के बाद भी पहचान और भावभासन न हो तब तक ओघसंज्ञा चालू रहती है। और उस ओघसंज्ञा से आत्मा संबंधित ज्ञान, पढ़ाई, विचार कल्पना में परिणमित होता है। कल्पना में परिणमित होता है यानि वास्तविकता में उसका परिणमन नहीं होता है। वास्तविकता से अन्यथा प्रकार उत्पन्न हुआ उसका नाम कल्पना है, वह कल्पना भी एक प्रकार का विपर्यास है और उसका फल दुःख है, उसका फल सुख नहीं आता है। अतः आत्मस्वरूप को भी पहचानने में ओघसंज्ञा आड़े आती है। इसीलिये यहाँ कृपालुदेव ने ज्ञानीपुरुष की पहचान होने के लिये उनकी वाणी में से किस प्रकार से स्वयं को अनुभव हो और वाणी में किस प्रकार के गुण होते हैं, इस प्रकार निमित्त और उपादान दोनों पहलू से बात ली है।

हम फिर से वह पॉराग्राफ लेते हैं, कल शाम को थोड़ा चल गया है। 'ज्ञानी की वाणी पूर्वापर अविरोधी, आत्मार्थ-उपदेशक और अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है, और अनुभवसहित होने से आत्मा को सतत जाग्रत करने वाली होती है।'

पूर्वापर अविरोधीपना, यह ज्ञानी की वाणी का मुख्य लक्षण है। सभी लक्षणों में से ज्ञानी की वाणी का यह मुख्य लक्षण है, इसका कारण यह है कि पदार्थ में कितने ही परस्पर विरुद्ध धर्म होने पर भी वह पदार्थ-आत्मपदार्थ अविरोधपने स्वयं के अस्तित्व को टिका रहा है। उस पदार्थ का जिसे दर्शन है, प्रत्यक्ष दर्शन है उसको वह पदार्थ कहने में विरोध उत्पन्न नहीं होता है। जिसे इस पदार्थ का दर्शन नहीं है वह उस पदार्थ में कहने जाये तो वह अंधेरे में खड़े रहकर, उन विरुद्ध धर्मों को कैसे प्रकाशित कर सकेगा? इसीलिये कहीं न कहीं उसे विरोध आये बिना रहता नहीं। ऐसी एक परिस्थिति, चाहे जितनी विद्वत्ता हो तो भी उत्पन्न हुये बिना रहती नहीं।

यद्यपि विद्वत्ता स्वयं एक theoretical knowledge की expertness है। उसके अन्दर theoretical ज्ञान की कुशलता है। जबिक ज्ञानदशा में practical ज्ञान की कुशलता से प्रवीणता, कुशलता प्राप्त हुयी है। उसमें फर्क इतना है। ज्ञानी विद्वान हो यह जरूरी नहीं है। ज्ञानी विद्वान भी हो, शास्त्रज्ञान की विद्वत्ता नहीं भी हो सकती, तो भी आत्मतत्त्व को जाना है इसीलिये वे सच्चे विद्वान हैं। विद्वेद-to know, विद्वद्वान-ज्ञाता। किसके ज्ञाता? कि आत्मतत्त्व के ज्ञाता हैं, निज परमतत्त्व के ज्ञाता हैं वह सच्चे विद्वान हैं। उसको जाने बिना जितना जाना, वह सब विद्वत्ता आत्मा के काम में, आत्मा को सुख होने के, शांति होने के काम आने वाली नहीं है। इसीलिये सच्चे विद्वान हैं वे सुख-शांति में अपना जीवन व्यतीत कर सकते हैं। वे निराकुल शांति को प्राप्त कर सकते हैं और यही जीव का प्रयोजन है। इसीलिये निज स्वरूप की अनुभूति के सिवाय पदार्थ दर्शन नहीं होने के कारण विद्वत्ता में भी कहीं न कहीं विरोध उत्पन्न हुये बिना रहता नहीं। उस विरोध को समझ सके उसको ख्याल आता है कि यह ज्ञानी नहीं है। बहुत विद्वत्ता होने के बावजूद भी ज्ञानी नहीं है ऐसा समझ सकता है। और शास्त्रज्ञान की कम विद्वत्ता हो परंतु अविरोध कथन हो तो भी वह ज्ञानीपुरुष की वाणी है ऐसा समझ सकते है।

'आत्मार्थ-उपदेशक…' है। उपदेश का मुख्य मुद्दा आत्म कल्याण-आत्म अर्थ-आत्मा के कल्याण रूप प्रयोजन है, यह प्रयोजन जिसके उपदेश का मुख्य मुद्दा है। आत्मार्थ-उपदेशक उनकी वाणी होती है। अथवा आत्मा को कही भी अकल्याण हो

ऐसा उपदेश ज्ञानी की वाणी में नहीं होता। वह भी अविरोधपने होता है। ऐसे अनेक मुद्दे हैं। खास करके व्यवहार के विषय में वह मुद्दे ज्यादा है। निश्चय के विषय में तो स्वरूपाश्रित परिणमन होना, सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की शुद्धता होनी, यह एक धारावाही बात है। व्यवहार में बहुत सीढ़ियाँ है, भिन्न-भिन्न स्तर में, भिन्न-भिन्न योग्यता में बहुत सीढ़ियाँ हैं। और उस व्यवहार-निश्चय का सुमेल (होता है)। कहीं भी एकान्त नहीं होता। न व्यवहारभास होता है, न निश्चायाभास होता है, न उभयाभास होता है। व्यवहार-निश्चय दोनों का आभास नहीं होता। ऐसा प्रकार आत्मार्थ-उपदेशक वाणी में ही हो सकता है, दूसरे की वाणी में कहीं न कहीं आभास हुये बिना रहता नहीं। या तो निश्चयाभास का तत्त्व बढ़ जायेगा, या व्यवहाराभास का वजन बढ़ जायेगा अथवा दोनों का आभास हो तो मालूम ही नहीं पड़ता। क्योंकि दोनों बात आती है, निश्चय की बात भी आती है और व्यवहार की भी आती है। अब, मालूम कैसे पड़े कि यह बराबर है या बराबर नहीं है? लेकिन आत्मार्थ-उपदेशकपना जिसमें होता है उस पर से उसका निर्णय हो सकता है, योग्यता चाहिये। बात जो कुछ भी कठिन है वह अयोग्यता के कारण है। योग्यता हो तो यह सब बात सुगम है।

'अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली होती है,..' आत्मा, जिसका स्वभाव पूर्व में कभी जाना नहीं, इसीलिये उस स्वभाव के ज्ञान को अपूर्व ज्ञान कहते हैं और उस पदार्थ का भाव भासे उसको भी अपूर्व ज्ञान कहने में आता है। और उस अपूर्व पदार्थ का अपूर्व रूप से निरूपण करे, ऐसी कोई वाणी हो तो वह ज्ञानीपुरुष की वाणी है। वह अपूर्वता कैसे नक्की हो? यह एक प्रश्न है। स्वयं की योग्यता हो तो स्वयं को अपूर्वता भासे, अन्यथा पूर्वानुपूर्व लगे कि यह सब अपने दृढ़ करने के लिये वही का वही, वही का वही पढ़े, वही विचार करे, वह का वह सुने, उसी की चर्चा करे। लेकिन वह पूर्वानुपूर्व लगे। जबिक अपूर्व स्वभाव अपूर्व प्रकार से जिसकी वाणी में व्यक्त होता है, ऐसी जो सातिशय वाणी होती है वह ज्ञानीपुरुष की वाणी है। और योग्यतावान को उसमें अपूर्वता भासित हुये बिना रहती नहीं।

विशेषता तो यह है अथवा आश्चर्यकारक बात तो यह है कि वही की वही बात हो तो भी अपूर्वता भासित होती है। अन्यथा वाणी में सुनने में repetition है,

पुनरावृत्ति है, वह पुनरावर्तन कंटाला उत्पन्न कराता है। एक बात एक बार, दो बार, तीन बार, चार बार कहे उसके बाद सुनने में कंटाला आये कि ये तो वही की वही बात चलती है। जबिक ज्ञानीपुरुष की वाणी सुनने में ऐसा नहीं होता। पाँच बार, आठ बार कहे तो भी अपूर्व-अपूर्व लगती है। क्यों? कि अपूर्व स्वभाव को स्पर्श करके निकली हुयी वाणी में भी अपूर्वता आती है, उसके अर्थ में अपूर्व भाव भासित होते हैं। इसीलिये वह अपूर्वता समझ में आती है, अपूर्वता मालूम पड़ती है उस पर से नक्की होता है कि अपूर्व अर्थ का निरूपण करने वाली यह वाणी है।

'और अनुभवसहित होने से...' देखो, यहाँ शास्त्रज्ञान नहीं लिया, अनुभवज्ञान लिया है। उसमें अनुभव की झलक है। दृष्टान्त, युक्ति, उदाहरण ये सब भी अनुभवप्रधान आते है और वह सत्शास्त्र में समझ में आता है। सत्शास्त्र में शास्त्रकार अनुभवी पुरुष होने के कारण दृष्टान्त भी अनुभव के ही मुख्य रूप से आते हैं।

हम एक दृष्टान्त लेते है। मोक्षमाला में कृपालुदेव का काव्य (बहु पुण्य केरा पुंजथी..) (उसमें आता है) 'पश्चात् दुःख ते सुख नहीं' वो किसी को भी समझ में आता है कि जिस कार्य में, जिस प्रवृत्ति में, जिस भोग-उपभोग में सुख लगता था, उस भोग-उपभोग में बाद में दुःख क्यों लगा? मिठाई खाते-खाते मिठाई की ना क्यों कहते हो? पहले निवाले में जो सुख लगा, वह दस, बीस, पच्चीसवें निवाले में वह सुख कहाँ चला गया? 'पश्चात् दुःख ते सुख नहीं'। छोड़ देना पड़ता है, कंटाला आता है, आकुलता हो जाती है। कारण? कि वह सुख नहीं था, वह दुःख था। वह सुख नहीं था ऐसा नक्की कहाँ से किया? कि अनुभव से नक्की किया। वह युक्ति अनुभवप्रधान है, बात को युक्ति से समझाया है, लेकिन अनुभवप्रधान युक्ति है।

समयसार में 15वीं गाथा में ज्ञान सामान्य को समझाने के लिये रसोई में नमक का दृष्टान्त दिया कि सब्जी में नमक की जाँच कैसे करनी। उसी प्रकार ज्ञेयाकार ज्ञान में से ज्ञानाकार ज्ञान पर कैसे आना? तो वह जैसे अनुभव से मालूम पड़ता है, कि तीखापन, मीठापन, अनेक प्रकार के अन्य स्वादयुक्त द्रव्य उसमें डाले हों, फिर भी खारेपन को भिन्न किया जा सकता है। जाँचने का अनुभव होना चाहिये। वैसे ही अनेक ज्ञेयों के बीच में भी ज्ञेयाकार को प्राप्त हुआ ज्ञान, ज्ञानाकर रूप एकरूप भी रहा

है। अनेकरूपता में एकरूपता भी रही हुयी है ऐसे उद्देश्य से देखने में आये, ऐसे लक्ष्य से जाँचने में आये तो स्वयं को अनुभव होता है। वहाँ भी अनुभवप्रधान युक्ति ली है।

ऐसी 'अनुभवसहित होने से...' कहने वाले का अनुभव व्यक्त होता है कि अनुभव के विषय में कहने वाले अनजान है, इस अनुभव के विषय पर लक्ष्य देने से उस विषय का स्पष्टीकरण मिल जाता है, सुनने वाले को भी ख्याल आ जाता है। कि अनुभव हो तो ही इस हद तक बात हो सकती है और इस हद की बात नहीं होती है इसीलिये अनुभव नहीं है। क्योंकि यह एक वेदन का विषय है। वेदन का विषय शास्त्र की व्याख्या में, शास्त्र की व्याख्या में-theory में आ नहीं सकता। इसीलिये शास्त्र पढ़ने वाला इस विषय से अनजान रह जाता है। जबिक अनुभवी पुरुष उस विषय के ज्ञाता होते हैं और इसीलिये उनकी वाणी में अनुभवसहितपना अच्छी तरह, स्पष्ट रूप से व्यक्त होता है।

ऐसी 'अनुभवसहित होने से...' उसके फलस्वरूप, उस कारण से 'आत्मा को सतत जाग्रत करने वाली होती है।' सुनने वाले को ऐसा लगता है कि ये मुझे जाग्रत कर रही है। मैं अंधेरे में था, मैं सो रहा था, ये मुझे जाग्रत कर रही है। ये वाणी मुझे कोई अलग तरीके से असर करती है। आत्मा को सतत जाग्रति में ले आती है कि तेरा कल्याण कहाँ है? तेरे आत्मकल्याण को सँभाल, सावधान हो जा, नहीं तो यह अकल्याण हो रहा है। नुकसानी का व्यापार है। आत्मा को सतत जाग्रत करने वाली ऐसी कोई विशिष्ट प्रकार की झनकार होती है, उस पर से भी ज्ञानीपुरुष की वाणी है और कहने वाले ज्ञानीपुरुष है ऐसी पहचान होती है।

'शुष्कज्ञानी की वाणी में तथारूप गुण नहीं होते।' इस प्रकार के गुण शुष्कज्ञानी की वाणी में कभी नहीं हो सकते। वहाँ फर्क पड़ ही जाता है। 'सर्वसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वा पर अविरोधिता है,..' देखो, जो पहली बात कही थी वह वाणी का उत्कृष्ट गुण है इसीलिये बात की है। 'सर्वसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वा पर अविरोधिता है, वह शुष्कज्ञानी की वाणी में नहीं हो सकता,..' कहीं न कहीं विरोधाभासी statement आये बिना रहता नहीं। जो आत्मकल्याण को बाधक हो ऐसा प्रकार कहीं न कहीं आ ही जाता है। वस्तुस्वरूप को अविरोधपने निरूपण न कर सके ऐसी विरोधाभासी बात कहीं न

कहीं आ ही जाती है। क्योंकि उस विषय में स्वयं का प्रकाश नहीं है, ज्ञान का प्रकाश नहीं होने के कारण। इसीलिये उस बात को स्वयं ने दोहरायी है कि 'सर्वसे उत्कृष्ट गुण जो पूर्वा पर अविरोधिता है, वह शुष्कज्ञानी की वाणी में नहीं हो सकता,..' क्यों नहीं वर्तता है? 'क्योंकि उसे यथास्थित पदार्थदर्शन नहीं होता।' (अर्थात्) ज्ञान में आत्मस्वरूप आया नहीं है, भाव भासित हुआ नहीं है, अनुभवांश से प्रतीत हुयी नहीं है। 751 (पत्र में जिसे) दूसरा समिकत कहा है। 'परमार्थ की स्पष्ट अनुभवांश से प्रतीत उसे श्री वीतराग दूसरा समिकत कहते हैं।' वीतरागों ने यह बात स्वीकृत की है, ऐसा कहकर 751पत्र में वह बात ली है। उसे बीजज्ञान भी कहते हैं, उसको सुधारस भी कहा है, उसे आत्मा का अस्तित्व ग्रहण भी कहने में आया है और उसको स्वरूप की पहचान, भावभासन और स्वरूप निश्चय भी कहने में आता है। एक ही पर्याय के विभिन्न लक्षणों से उस पर्याय को समझाने में आया है। ऐसा जो यथास्थित पदार्थदर्शन वह बीजज्ञानी पुरुष को होता है और एक अनुभूति संपन्न हो ऐसे ज्ञानीपुरुष को होता है। ऐसा पदार्थदर्शन नहीं होने के कारण पूर्वा पर अविरोधता ऐसा जो उत्कृष्ट गुण वह दूसरे की वाणी में, ज्ञानी के सिवाय दूसरे की वाणी में वह गुण आता नहीं।

'और इस कारण से जगह-जगह उसकी वाणी कल्पना से युक्त होती है।' जो theory पढ़ी होती है, जो theory समझी होती है कि आत्मा ऐसा है, आत्मा ऐसा है, द्रव्य से, गुण से, पर्याय से, उत्पाद-व्यय-ध्रुव से, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से, गुण-गुणी के भेद से, अनेक प्रकार से theory आती है। अध्यात्म शास्त्रों में और उसमें भी खासकर के द्रव्यानुयोग के शास्त्र में आत्मद्रव्य के विषय में अनेक प्रकार से आत्मा की व्याख्या की है। अब, उस व्याख्या मात्र से ही समझने जाये तो उसको कहीं न कहीं कल्पना करनी पड़ती है। अनुभव में कल्पना का अभाव है, कल्पना में अनुभव का अभाव है। इसीलिये ज्ञानी की वाणी अनुभवसहित होती है, जबिक अन्य की वाणी में जगह-जगह यानि अनेक जगह उसको कल्पना जोड़नी पड़ती है। उसको कहते हुये स्वयं को कल्पना में एक picture खड़ा करना पड़ता है कि आत्मा ऐसा, आत्मा ऐसा।

वस्तु स्वरूप ऐसा है कि आत्मा मूल स्वरूप से अतीन्द्रिय पदार्थ होने के कारण वह अंतर्मुखी अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में ही मात्र विषय होता है। इन्द्रिय ज्ञान का विषय आत्मा नहीं है। न चक्षुइन्द्रिय से ज्ञात होता है, न श्रवणेन्द्रिय से ज्ञात होता है, दूसरी इन्द्रियों का कोई प्रश्न रहता नहीं है कि सूँघने का विषय या स्वाद लेने का विषय या स्पर्श के विषय का तो प्रश्न ही रहता नहीं है। परन्तु कान से सुने और आँख से जिनेन्द्र की मुद्रा, जिनेश्वर की प्रतिमा या ज्ञानी की मुद्रा देखे तो भी आत्मा इन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है। आत्मा स्वयं अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय है और वह अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान अंतर्मुखी होने के कारण और इन्द्रियज्ञान बहिर्मुखी ज्ञान होने के कारण और परोक्ष होने के कारण आत्मपदार्थ उसमें विषय नहीं होता है। इसीलिये मात्र व्याख्या से-theory से आत्मा को समझने जाये तो मन द्वारा बहिर्मुख ज्ञान से उसकी कल्पना उत्पन्न होती है कि आत्मा में इस प्रकार से उत्पाद-व्यय है, आत्मा में इस प्रकार से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव है, इस प्रकार से आत्मा द्रव्य-गुण-पर्याय वाला है। इस तरह कुछ न कुछ कल्पना करनी पड़ती है। ऐसी जो मन से कल्पना होती है उस कल्पना में आत्मपदार्थ समाविष्ट होता नहीं। इन्द्रिय ज्ञान का मन सहित जो वर्तना होता है, मन के साथ जिस ज्ञान का-मित-श्रुतज्ञान का जुड़ान है उसकी दिशा बहिर्मुख है और आत्मा जो परम पदार्थ है वह अंतःतत्त्वस्वरूपी होने के कारण अंतर्मुख ज्ञान में ही वह विषय होता है।

जैसे किसी को तृषा लगी हो और पानी के लिये तेज रफ्तार से दौड़ते घोड़े पर जंगल में पानी ढूँढता हो, जलाशय को ढूँढता हो कि कहीं तालाब, बावड़ी, कुआँ कुछ हो तो पानी मिले। ऐसे में कोई कुआँ दिख गया। घोड़े पर बैठे-बैठे कुएँ में पानी है या नहीं, यह मालूम नहीं पड़ता। घोड़े पर बैठे-बैठे मालूम पड़ता है? घोड़े से नीचे उतरकर, कुएँ के किनारे जाकर, झुककर अन्दर देखना पड़ता है कि अन्दर पानी तलवे में है? कैसे निकालना वह बाद की बात है। इस प्रकार विकल्प के दौड़ते घोड़े पर बैठे-बैठे मन से कोई आत्मा को समझना चाहे और आत्मा का उसे ज्ञान हो, उस बात में कोई दम नहीं है, हो ही नहीं सकता। मन के घोड़े पर से नीचे उतरकर, क्योंकि वह बहिर्मुख परिणाम है, जब ज्ञान अंतर्मुख होता है और अतीन्द्रिय ज्ञान प्रदेश-प्रदेश में प्रसरकर आत्मा का स्वसंवेदन ज्ञान से अनुभव करता है, तब उसको आत्मा, जैसा

केवलज्ञान में ज्ञेय हुआ है वैसा यहाँ चतुर्थ गुणस्थान में अनुभवज्ञान में उसका ज्ञान होता है। ठीक ऐसा ही ज्ञान होता है कि आत्मा ऐसा है। मात्र केवलज्ञान में उसके प्रदेश ज्ञात होते हैं, इसमें प्रदेश ज्ञात नहीं होते हैं। बाकी अनुभव में तो एक ही जाति का अनुभव है। जैसा केवलज्ञान में स्वसंवेदन है, ऐसा ही यहाँ श्रुतज्ञान में, मित-श्रुतज्ञान में स्वसंवेदन है। तारतम्यता का फर्क अनन्तगुणा है। एक sample है और एक गुड़ की पूरी भेली है। लेकिन गुड़ का स्वाद तो एक sample आता है वह पूरी भेली में है। परन्तु वह अतीन्द्रिय ज्ञान में ज्ञात होता है। इसीलिये अतीन्द्रिय ज्ञान पूर्वक पदार्थदर्शन नहीं हुआ है तब तक कहने वाले को आत्मा सम्बन्धित शास्त्र पढ़कर भी कहीं न कहीं कल्पना से कहना पड़ता है। इसीलिये आत्मा का उपदेश देने का अधिकार भी ज्ञानीपुरुष से शुरू होता है, उसके पहले उपदेश का अधिकार शुरू नहीं होता।

'इत्यादि नाना प्रकार के भेद से ज्ञानी और शुष्कज्ञानी की वाणी की पहचान उत्कृष्ट मुमुक्षु को होने योग्य है।' किसको लिया? सामान्य मनुष्यों को तो नहीं होती, मंददशावान मुमुक्षु को भी नहीं होती, और मध्यम कक्षा के मुमुक्षु को भी नहीं होती। इत्यादि अनेक प्रकार की ज्ञानीपुरुष की वाणी की विशेषता के भेद है, वह भेद है वह सब उसके गुण है, उसके द्वारा (ज्ञानीपुरुष की वाणी की पहचान होती है)।

'ज्ञानीपुरुष को तो उसकी पहचान सहजस्वभाव से होती है,..' उत्कृष्ट मुमुक्षु को पहचान होती है और ज्ञानी ज्ञानी को पहचाने वह तो सहजस्वभाव है। क्योंकि वह स्वयं ही अनुभव में खड़े है, स्वयं प्रकाश में खड़े है, सामने प्रकाश हो तो वह समझ सकते हैं कि यह ज्ञान का प्रकाश है, अंधेरा हो तो भी समझ सकते हैं कि यहाँ प्रकाश नहीं है लेकिन अंधेरा है।

जैसे जौहरी है वह सच्चे हीरे को और झूठे हीरे को उसके प्रकाश से समझ सकता है। उसको तुरन्त ख्याल आयेगा, eyeglass रखे तो हीरे की चमक-झूठे हीरे की चमक ख़ाली आँखों से चाहे जितनी अच्छी दिखती हो, परन्तु जैसे ही eyeglass रखते है तो ऐसा लगे कि यह तो अँधा है। क्या कहेगा? ये तो अंधा नग है, ऐसा कहेगा। और सच्चा हीरा हो तो उसका प्रकाश छीपा नहीं रहता, पकड़ में आता है, तुरन्त

जौहरी की आँख में पकड़ में आता है। दूसरे को समझ में नहीं आता , लेकिन जौहरी की आँख में तो तुरन्त पकड़ में आ जाता है।

ऐसे 'ज्ञानीपुरुष को तो उसकी पहचान सहजस्वभाव से होती है,...' क्योंकि उनको सहजस्वभाव से सहजज्ञान प्रगट हुआ है और वह ज्ञान अनुभव-वेदन सहित होने से वेदनयुक्त वाणी आये उसकी झनकार को तो वह सहज ही पहचान सकता है। 'क्योंकि स्वयं भानसहित है,...' स्वयं अपने आत्मस्वरूप के भान में वर्तते हैं। आत्मस्वरूप का भान जब तक नहीं है, तब तक बेभानपना है। चाहे जितनी विद्वत्ता हो, बेभानपना है। भान में वर्तता है, 'सिद्ध समान सदा पद मेरो' मेरा स्वरूप परिपूर्ण (है)। जैसे सिद्ध परमात्मा हैं ऐसा ही मेरा स्वरूप है। 'जिनपद निजपद एकता' उसका जो भान है, उस भानसहितपने में और बेभानपने में बहुत बड़ा अंतर है। इसीलिये वह स्वयं भानसहित होने से 'और भानसहित पुरुष के बिना इस प्रकार के आशय का उपदेश नहीं दिया जा सकता, ऐसा सहज ही वे ज्ञानी जानते हैं।'

देखो, कितनी सुन्दर बात ली है, स्वयं भानसहित है और भानसहित पुरुष के बिना इस प्रकार का आत्मार्थ-उपदेशकपना, आत्मा को सतत जाग्रति में ले आये ऐसी वाणी भानसहित पुरुष के बिना, इस प्रकार का आशय दूसरे की वाणी में आ सकता नहीं, उपदेश नहीं दिया जा सकता ऐसा ज्ञानी सहज ही जानते हैं। मुझे भी भान है, सामने यहाँ तक की बात करने वाले भान में हो तो ही बात करे, अन्यथा भान के सिवाय बात कर नहीं सकते।

समयसार की 47 शक्तियों का परिशिष्ट है। शास्त्र समाप्त करने के बाद टीकाकार भगवान अमृतचंद्राचार्यदेव है उन्होंने आत्मस्वरूप को समझाने के लिये आत्मा में कैसी कैसी शक्तियाँ रही हुयी है, मूल स्वरूप-वह properties of the substance है। वह आत्मा की property है। ज्ञानशक्ति वह ज्ञान की property है, आत्मा की सुखशक्ति वह आत्मा की property है, संपत्ति है, जिसे हम कहते हैं, कायमी संपत्ति अनादिअनंत साथ में रहने वाली। उसका वर्णन इस प्रकार किया है। एक एक शक्ति क्याख्या की है। वहाँ तो क्या है, शास्त्र में तो theory आती है-व्याख्या आती है। लेकिन उस व्याख्या में अनुभवसहितपना है ऐसा निकलता है। व्याख्या गुण की की

है, परन्तु गुण शुद्धपने कैसे परिणमता है वह बताते हुये उनका अनुभवसहितपना है उसकी अभिव्यक्ति होती है। इसीलिये कहने की जो पद्धित होती है उसमें अनुभव आता है। उसी बात को उसी शब्दो में कहने जाये तो फर्क पड़ जाता है। ऐसा एक विशिष्ट गुण ज्ञानी की वाणी में होता है और वह ज्ञानी को सहज ही समझ में आता है।

'जिसे अज्ञान और ज्ञान का भेद समझ में आया है,..' अब आगे कहते हैं, विषय को अधिक स्पष्ट करते हैं। कृपालुदेव की विषय पर mastery कितनी है! एक वाणी को-ज्ञानी की वाणी को कैसे अलग करते हैं, 'जिसे अज्ञान और ज्ञान का भेद समझ में आया है, उसे अज्ञानी और ज्ञानी का भेद सहज में समझ में आ सकता है।' यानि जो ज्ञान को पहचानता है। ज्ञान को पहचानता है यानि क्या? ज्ञान को ज्ञान के स्वरूप से पहचानता है। उसका लक्षण क्या? उसका वेदन क्या? और उसका स्वभाव क्या? उसका स्वरूप क्या? गुण से, लक्षण से और वेदन से जिसने आत्मा को जाना है उसके ज्ञान को आत्मज्ञान कह सकते हैं। इसके सिवाय आत्मज्ञान दूसरे प्रकार से हुआ हो तो वह आत्मज्ञान नहीं है। आत्मज्ञान की बात है, लेकिन वह आत्मज्ञान नहीं है।

उसमें गुण यानि उसका स्वभाव-स्वरूप है, लक्षण है वह अन्य से भिन्न करता हुआ, आत्मा को अन्य सबसे जुदा करता है, भिन्न करता है। षट्पद से आत्मा को दर्शाया तो क्या कहा? कि जैसे तलवार और म्यान भिन्न-भिन्न है, ऐसा भिन्न करके आपने दर्शाया है। षट्पद का-छः पद का total क्या लगाया? सम्यग्दर्शन के आश्रयभूत ऐसा जो छः पद का पत्र है उसमें बात वह ली, आत्मसिद्धि की रचना इस पर से की पीछे। छः पद का total क्या लगाया? कि वह छः पद दर्शाकर आपने, जैसे तलवार और म्यान भिन्न-भिन्न है, ऐसे आत्मा को जुदा दर्शाया है, भिन्न दर्शाया है। वह भिन्न दिखाने का एक लक्षण है, खास लक्षण है, specific symptom है और वह ज्ञान लक्षण है, वेदन लक्षण है। लक्षण से, वेदन से (कहा), लक्षण में ज्ञान लक्षण है। परन्तु ज्ञान में प्रकार है-स्वपरप्रकाशकता और वेदकता। उसमें यहाँ वेदन लिया। क्योंकि वेदन में अनुभवसहितपना है। जानने में अनुभव नहीं है, वेदन में अनुभव है।

परपदार्थ को जाने लेकिन परपदार्थ को ज्ञान वेदता नहीं, वेद भी नहीं सकता। इस प्रकार जिसने आत्मा को जाना है उन्हें आत्मज्ञान वर्तता है। तो कहते हैं कि ऐसा जो ज्ञान और इससे अतिरिक्त जो ज्ञान, ऐसा ज्ञान और अज्ञान का भेद जिसे समझ में आया है, 'उसे अज्ञानी और ज्ञानी का भेद सहज में समझ में आ सकता है।' उसे वह बात तुरंत समझ में आती है, सहज ही समझ में आती है।

अथवा 'जिसका अज्ञान के प्रित मोह समाप्त हो गया है,..' देखो, कैसी जबरदस्त बात करते हैं, आश्चर्यकारक बातें की है! 'जिसका अज्ञान के प्रित मोह समाप्त हो गया है,..' चाहे जितना उघाड़ ज्ञान हो, बहिर्लक्षी क्षयोपशम ज्ञान अंग पूर्व का हो, हाँ। अभी तो किसी को होता नहीं, अभी तो गिनती में आये उतने शास्त्र बचे हैं और ज्यादा से ज्यादा उसका ज्ञान और उसकी धारणा हो सकती है, उघाड़ हो तोक्षयोपशम हो तो। परन्तु अंग, पूर्व का क्षयोपशम ज्ञान हो, फिर भी अज्ञान हो तो उसके प्रित आकर्षण नहीं होता। मोह का लक्षण क्या है? आकर्षण होना वह मोह का लक्षण है। अज्ञान के प्रित जिसका मोह समाप्त हो गया है। बाह्य ज्ञान का मोह नहीं होता।

अध्यात्म की line अंतर्मुखी है। बाह्य ज्ञान और बाह्य त्याग इन दोनों में जो विमोहित होता है उसे ज्ञानी और अज्ञानी का भेद समझ में आना कठिन पड़ता है। इसीलिये 'अज्ञान के प्रति मोह समाप्त हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुष को...' ज्ञानी को तो बाह्य ज्ञान का, अज्ञान के प्रति उनका मोह होता नहीं। अज्ञानी को अज्ञान का मोह हो जाता है। ओहो! इतना सब जानता है, इतना सब समझा सकता है, इतना सब कह सकता है! नक्की, ज्ञानी होना चाहिये। ज्ञानी ऐसे नक्की नहीं होते। ज्ञान है या अज्ञान है? उघाड़ज्ञान का आकर्षण (नहीं होना चाहिये)। बाह्य ज्ञान है या अंतर ज्ञान है? यह जब तक नक्की नहीं कर सकता तब तक वह ज्ञानी, अज्ञानी के भेद को वह जाँच नहीं सकता।

'अज्ञान के प्रति मोह समाप्त हो गया है, ऐसे ज्ञानीपुरुष को शुष्कज्ञानी के वचन कैसे भ्रांति कर सकते हैं?' उसे भ्रांति उत्पन्न नहीं होती के ये ज्ञानी होगा तो? हमें कैसे मालूम पड़े? इतना विशाल ज्ञान है, कैसे मालूम पड़े कि ज्ञानी है या अज्ञानी है? ज्ञानी

को ऐसी भ्रांति उत्पन्न नहीं होती। कैसे उत्पन्न कर सके? कर सकता ही नहीं। प्रश्नार्थ रखा है। उसको भ्रांति कैसे कर सके? कर ही नहीं सकता।

'किंतु सामान्य जीवों को अथवा मंददशा और मध्यमदशा के मुमुक्षु को...' मंद यानि जघन्य और मध्यम यानि थोड़े आगे बढ़े हुये। ऐसे मुमुक्षु को 'शुष्कज्ञानी के वचन...' अथवा अज्ञानी के वचन 'समान रूप दिखायी देने से...' समान रूप। सादृश्य यानि समान रूप। 'समान रूप दिखायी देने से, दोनों ज्ञानी के वचन हैं, ऐसी भ्रांति होना संभव है।' उसे भ्रांति हो जाती है कि ज्ञानी भी ऐसा कहते हैं और यह भी ऐसा ही कहता है। ज्ञानी कहते हैं वैसा ही बराबर कहता है, इसीलिये कहने वाला ज्ञानी होना चाहिये, इस प्रकार भ्रांति उत्पन्न होती है। किसको? सामान्य जीवों को भ्रांति उत्पन्न होती है, मंद यानि जघन्यदशा के मुमुक्षु को भी वह भ्रांति उत्पन्न होना संभव है और मध्यमदशा जिसकी है उसको भी भ्रांति उत्पन्न होना संभव है।

अब, इसमें से तात्पर्य क्या निकलता है? ये तीन बात जब कही, तब उसमें से एक नया तात्पर्य यह निकलता है कि मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष को पहचानने के लिये, कि जिस पहचान का फल निर्वाणपद है, यह कृपालुदेव ने स्पष्ट किया है कि उसका फल निर्वाणपद है। और 194 (पत्र में) भी वह स्पष्ट कहा कि जो पहचानता है वह वैसा होता है। 335 (पत्र में) भी कहा, मात्र ज्ञानी को इच्छता है और भजता है, पहचानता है। इच्छता है, पहचानता है और भजता है वह वैसा होता है, 335 (पत्र) में लिया। वह क्रम दर्शाया है, हाँ, अनेक प्रकार से जो क्रम का बोध किया है। पृष्ठ-327 है, 'जो मात्र ज्ञानी को चाहता है, पहचानता है और भजता है, वही वैसा होता है,..' भविष्य में और वर्तमान में 'वह उत्तम मुमुक्षु जानने योग्य है।' यह बात हमने इसीलिये reference में ली है कि इसका context है वह अपने चलते हुये पत्र को लागू होता है। कि हमें उत्कृष्ट मुमुक्षु होना हो तो क्या करना चाहिये? क्योंकि एक बात तो कृपालुदेव स्पष्ट करते हैं कि सामान्य मनुष्य को ज्ञानी, अज्ञानी की वाणी का अंतर देखकर पहचान नहीं होगी। मंद दशावान है यानि जघन्य मुमुक्षु होगा, सामान्य मुमुक्षु होगा उसको भी पहचान नहीं होगी, मध्यम कक्षा का होगा तो? तो कहते हैं, उसको

भी पहचान नहीं होगी। तो किसको पहचान होगी? कि 'उत्कृष्ट मुमुक्षु को प्रायः ऐसी भ्रांति संभव नहीं है,..' तो उत्कृष्ट मुमुक्षु की बात करी है? हाँ, 335 में की है, उसका reference वहाँ मिलता है। पत्र भले ही अलग-अलग जगह है, statement भले ही अलग-अलग जगह है, परंतु उसका coordination तो करना चाहिये न? और वह करना न आये तो पढ़ लेने का कोई अर्थ नहीं है।

आगे वे कह गये हैं कि उत्कृष्ट मुमुक्षु किसको कहते है? और वह उत्कृष्ट मुमुक्षु यानि भविष्य का ज्ञानी ऐसा भी साथ-साथ कह दिया। उत्कृष्ट मुमुक्षु यानि कौन? कि भविष्य का ज्ञानी। क्यों भविष्य का ज्ञानी? कि ज्ञानी को पहचाना इसीलिये ज्ञानी होने वाला है। इसीलिये वह बात ली है कि 'मात्र ज्ञानी को चाहता है,..' मात्र ज्ञानी को चाहता है यानि क्या? कि दूसरा कुछ नहीं चाहता, उसका नाम मात्र। ठीक, ज्ञानी के सिवाय दूसरा कुछ नहीं चाहिये। क्यों? कि नहीं तो स्वच्छंद प्रवृत्ति होती है। अनजाने में तो स्वच्छंद प्रवृत्ति अनंतकाल से करता आया है, अनजान होने से। मात्र ज्ञानी को चाहता है, मात्र ज्ञानी की आज्ञा पर चलना चाहता है और मात्र ज्ञानी के मार्ग का अनुसरण करना चाहता है, ज्ञानी का ही आश्रय करना चाहता है। वह ज्ञानी को चाहता है, वह पहचानता है, वही ज्ञानी को पहचान सकता है। यह क्रम है-जो चाहता है वही पहचान सकता है। अन्यथा पहचानने की परिस्थिति उत्पन्न नहीं होती है।

पहचानने के लिये क्या होना? वह 254 (पत्र में) कहा, 'मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचान लेते हैं।' वह बात करी न 254 पत्र में? ये तो coordination कहाँ-कहाँ लागू पड़ता है। 'महात्मा के योग में उनके अलौकिक स्वरूप को पहचानना।' योग यानि प्रत्यक्ष हो तब। 'पहचानने की परम तीव्रता रखना, तो पहचाना जायेगा।' पहचानना कैसे? हमें ज्ञानी को कैसे पहचानना? कि पहचानने की परम तीव्रता रखी होगी तो पहचाना जायेगा। परम तीव्रता यानि क्या? कि मात्र ज्ञानी को चाहता है, मात्र ज्ञानी के मार्ग पर चलना चाहता है। अल्प भी स्वच्छंद से चलना नहीं चाहता। तो पहचाना जायेगा। यहाँ लिखा है, 'मुमुक्षु के नेत्र…' ऐसे उत्तम कोटि के 'मुमुक्षु के नेत्र महात्मा को पहचान लेते हैं।' वह ज्ञानीपुरुष को पहचान लेता है।

इस तरह यहाँ (ऐसा कहते हैं कि) 'उत्कृष्ट मुमुक्षु को प्रायः वैसी भ्रांति संभव नहीं है,...' अर्थात् वह अज्ञानी में ज्ञानीपना नहीं देखेगा और ज्ञानी में उसे, अज्ञानी है ऐसी भ्रांति नहीं होगी। क्यों ऐसा होगा? 'क्योंकि ज्ञानी के वचनों की परीक्षा का बल उसे विशेष रूप से स्थिर हो गया है।' उसे यानि यहाँ किसे? उत्कृष्ट मुमुक्षु को 'ज्ञानी के वचनों की परीक्षा का बल...' बहुत गूढ़ वचन हैं! ज्ञानी के वचन मात्र सुनता है ऐसा नहीं, उन वचनों की उसे परीक्षा है। परीक्षा करे ऐसी जिसकी ज्ञान की योग्यता है, ऐसी क्षमता है-ability और उसका बल है। बलवान रूप से वह ज्ञान काम करता है। सामान्य रूप से काम नहीं करता। ये उत्कृष्ट मुमुक्षु कैसा होता है? कि ज्ञानीपुरुष के वचनों की परीक्षा करने का बल और वह अस्थिर नहीं है। ध्वजा की पूँछ जैसा नहीं है। बल स्थिर हुआ है।

उसका एक चिह्न ऐसा है कि ऐसी उत्कृष्ट कक्षा में कोई भी मुमुक्षुजीव जब आता है तब उसे एक self-confidence उत्पन्न होता है, आत्मविश्वास। जैसे कोई व्यक्ति गाड़ी चलाता है तो आत्मविश्वास हो तो चलाये या उसके बिना चलाये? License मिला हो लेकिन आत्मविश्वास न हो तो accident करेगा। बराबर है? और चलाने की practice हो तो बातें करते-करते, दुनियाभर की चिंता करते-करते, tension में हो तो भी गाड़ी चलाता है। Tension वाले को सिगरेट या बीड़ी पीनी पड़ती है। बीड़ी पीते-पीते भी गाड़ी चलाता है (क्योंकि) आत्मविश्वास है।

ऐसे उत्कृष्ट मुमुक्षु को एक आत्मविश्वास अन्दर से उत्पन्न होता है कि ज्ञानी होंगे तो मेरी नजर से पहचाने बिना बच नहीं सकेंगे। और वह दशा न आये तब तक अन्दर में संदेह रहता है। कैसे मालूम पड़े? हमें कैसे मालूम पड़े? हमें कहाँ से समझ में आये? हमारी कहाँ ऐसी योग्यता है? कुछ कह नहीं सकते, ज्ञानी है या अज्ञानी है, हम कुछ समझ नहीं सकते। इस प्रकार की संशय वाली दशा है उसे परीक्षा का बल स्थिर नहीं हुआ है। जो भाषा प्रयोग का किया है वह बहुत गूढ़ भाषा का प्रयोग किया है। उसे यानि उत्कृष्ट मुमुक्षु को ज्ञानी के वचनों की परीक्षा का बल आत्मविश्वास के साथ होता है। स्थिर हुआ है उसका अर्थ क्या? आत्मविश्वास अन्दर से उत्पन्न हुआ है कि ज्ञानी होंगे तो मेरी नजर से पहचाने बिना नहीं रहेंगे, बच नहीं सकते। सच्चा हीरा हो

तो मैं पहचान लूँगा और खोटा हो तो भी मैं पहचान लूँगा क्योंकि मैं जौहरी हूँ। आत्मविश्वास होता है कि नहीं? यूँ ही व्यापार करने बैठ जाता है? पहचानने की स्वयं की शक्ति और आत्मविश्वास उत्पन्न हुये बिना कोई जवाहरात का व्यापार कर सकता है? नहीं कर सकता। यहाँ वह बात ली है।

भाषा प्रयोग कैसा किया है, बल विशेष रूप से स्थिर हो गया है, पूर्ण आत्मविश्वास वर्तता है। इस प्रकार उसे भ्रांति होना संभव नहीं है। अन्यथा शंका होती है अथवा आशंका उत्पन्न होती है अथवा निःसंदेहपने ज्ञानी है या अज्ञानी है वह स्वयं समझ नहीं सकता। ऐसी योग्यता मात्र ज्ञानी को चाहने से, पहचानने की योग्यता आती है। कैसी-कैसी बात की है, पहचानने की तीव्रता हो और मात्र ज्ञानी की चाहना हो, इसके सिवाय दूसरी चाहना न हो। क्योंकि उसके सिवाय अंधेरे में चलने का कोई अर्थ नहीं है। यूँ ही अंधेरे में चलने का कोई अर्थ नहीं है, उसके अन्दर अधिक नुकसान होने की परिस्थिति है। ऐसा समझकर जो मुमुक्षु मात्र ज्ञानी को चाहता है, वह प्रथम क्रम है। चाहता है, मात्र चाहता उसको ही पहचान होती है वह उसका द्वितीय क्रम है, वही वैसा होता है, यह उसका तृतीय क्रम है। और वह उत्कृष्ट मुमुक्षु वर्तमान में कहने योग्य है।

इस प्रकार से ज्ञानीपुरुष की वाणी संबंधित यहाँ इस पत्र में बहुत सुन्दर विवेचन आया है। इसके बाद इसी विषय पर एक पॉराग्राफ बाकी रहता है उसमें भूतकाल के ज्ञानी को पहचानने की क्षमता ज्ञानियों को कैसी होती है उसकी एक विशिष्ट बात है। उसका निरूपण किया है और उसके बाद इसी पत्र में अन्य विषयों का स्पष्टीकरण श्रीसोभागभाई के प्रश्लों का स्वयं ने दिया है। यहाँ तक रखते हैं, समय हुआ है।



प्रवचन-10, पत्रांक-679 (3)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र-679 चलता है)। ज्ञानी की वाणी और अज्ञानी की वाणी में आशय में जो अंतर होता है वह अंतर समझ में आने पर ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है ऐसी एक महत्त्वपूर्ण प्रयोजन की सिद्धि वहाँ होती है। इस पहचान का फल निर्वाणपद है इसीलिये वह अत्यंत प्रयोजनभूत है। और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के कारण का वह कारण है। सम्यग्दर्शन वह मोक्षमार्ग में प्रवेश है। उसका कारण आत्मस्वरूप की पहचान अथवा आत्मस्वरूप का निश्चय है और उसका कारण सत्पुरुष की पहचान है। यह पहचान होने का प्रसंग उनकी वाणी से बनता है। इसीलिये यहाँ, इस पत्र में उनकी वाणी की चर्चा दूसरे की वाणी से वह किस तरह अलग पड़ती है, उसमें कैसे-कैसे गुण होते हैं कि जो समझ में आने से, समझने पर ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है।

उसमें वह विषय भी लिया कि वह पहचान होने के लिये स्वयं की योग्यता विशेष होनी चाहिये। उत्कृष्ट मुमुक्षुता भी आनी चाहिये और ऐसी दशा उत्पन्न न हो तब तक ज्ञानी के वचनों की परीक्षा का बल आता नहीं है, ऐसी शक्ति होती नहीं है, ऐसी योग्यता होती नहीं है और इसीलिये उस प्रकार का अपूर्व लाभ होता नहीं है। अंततः बात तो उपादान की योग्यता ऊपर आती है।

अब, इस विषय के अंतिम पॉराग्राफ में आशय सम्बन्धित थोड़ी विशेष बात करते हैं। 'पूर्वकाल में ज्ञानी हो गये हो, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमानकाल में ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुष की है;..' दो प्रकार से बात ली है। वर्तमान में ज्ञानी हो उनको उनकी वाणी से पहचानने का प्रसंग है और पूर्वकाल यानि भूतकाल में जो ज्ञानी हुये हैं उनकी जो मुखवाणी हो, मुखवाणी यानि original वाणी रही हो। वाणी-मुखवाणी यानि मूल वाणी रहनी एक बात है और उनकी वाणी कोई झेलकर लिख ले, सुनते वक्त लिख ले, झेलकर बाद में लिखे वह उनकी मूल वाणी नहीं है अथवा मुखवाणी नहीं है। उनके श्रीमुख से मुखरित हुयी

वाणी वह मुखवाणी है। अथवा उनकी स्वयं की हस्तलिखित वाणी हो वह मूलवाणी है। ऐसी वाणी रह गयी हो, फिर वह गद्यरूप हो, या काव्य अथवा पदरूप हो, परंतु मूलवाणी (हो), ऐसी वाणी रही हो तो भी 'वर्तमानकाल में ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुष की है;..' ऐसा ज्ञानीपुरुष जान सकते हैं। ज्ञानीपुरुष के अलावा दूसरा ऐसा निर्धार-निर्णय नहीं कर सकता।

कैसे जान सकता है? 'क्योंकि रात्रि-दिन के भेद की तरह अज्ञानी-ज्ञानी की वाणी में आशय-भेद होता है...' आशय की चर्चा यह विषय शुरू करते हुये प्रारंभ में बात आयी थी कि दूसरे की वाणी में और ज्ञानी की वाणी में आशय से तुलना होती नहीं। आशय से बराबरी, आशय बराबर होता नहीं है। आशय क्या है? इतना विचार करना है। यहाँ आशय यानि स्वयं का आत्मकल्याण साधना यह आशय है, अन्य कोई आशय नहीं है। ज्ञानीपुरुष को जो कुछ कहना है वह आत्मकल्याण के अर्थ से कहना है। इस आशय से ही उनकी वाणी प्रकाशित होती है। स्वयं वाणी प्रकाशित करते हैं वह आत्मकल्याण साधते-साधते प्रकाशित करते हैं। इसीलिये उनकी वाणी में आत्मकल्याण रूप आशय हमेशा-हमेशा बना रहता है।

जब ज्ञानीपुरुष न हो, ज्ञानदशा प्रगट नहीं हुयी हो उसे ऐसा आशय उनकी वाणी में आता नहीं, प्रकाशित होता नहीं है। क्योंकि स्वयं आत्मकल्याण को साधता नहीं है, साध नहीं रहा है। जो आत्मकल्याण साध रहे है उसे सहज ही उस आशय का प्रकाश वाणी में प्रकाशित होता है। परन्तु जो साधता नहीं है अथवा साधने से अनजान है, मोक्षमार्ग में प्रवेश नहीं किया है तब तक मोक्षमार्ग से अनजान है, वह आत्मकल्याण को साधने का प्रकाश कैसे कर सकेगा? यदि स्वयं अनजान न होता तो साधता होता, स्वयं साधता नहीं है क्योंकि स्वयं अनजान है।

मोक्षमार्ग यह कोई जानकारी रूप मार्ग नहीं है। आत्मज्ञान यह कोई जानकारी रूप मार्ग नहीं है। अनुभवज्ञान को, आत्मा के अनुभवज्ञान को आत्मज्ञान कहने में आया है और वह तो साधना का विषय है। जो साधना से अनजान है वह आत्मकल्याण रूप साधना को प्रकाशित नहीं कर सकता। इसीलिये 'रात्रि-दिन के भेद की तरह अज्ञानी-ज्ञानी की वाणी में आशय-भेद होता है,..' कितना बड़ा अंतर

कहा? ऊपर-ऊपर से बाह्यदृष्टि से देखने में आये तो वाणी एक समान दिखे कि ज्ञानी भी ऐसा ही बोलते हैं और यह भी ऐसा ही कहता है। इस गाथा का अर्थ जो ज्ञानी करते हैं, उसी गाथा का अर्थ अन्य विद्वान भी करते हैं। बौद्धिक स्तर पर उसकी परीक्षा करने पर दोनों का अर्थ एक समान दिखता है। चिलये, अब क्या करना? बुद्धि को apply करने के सिवाय हम क्या करेंगे? तो कहते हैं कि इससे भी आगे जाने का एक विषय इसमें है। मात्र बुद्धि को लागू करके समझ सके ऐसा यह प्रकार नहीं है, उससे भी आगे जाने का एक प्रकार इसके अन्दर है। और उस प्रकार से क्या समझ में आता है? कि रात्रि-दिन के भेद की तरह उसका अंतर समझ में आता है। बड़ा अंतर लगता है ऐसा कहना है, बहुत अंतर दिखता है।

अब, इस जगह इस विषय में थोड़ी सूक्ष्मता रही हुयी है। क्यों? कि स्थूलरूप से तो शब्दार्थ, भावार्थ, नयार्थ, मतार्थ आदि सब एक समान दिखते है। फिर से, शास्त्र के शब्द का अर्थ, उसमें से छाँटने योग्य भावार्थ, उसमें से कोई मतांतर सम्बन्धित करने में आता है वो मतार्थ और किस नय का यह वचन है उसका नयार्थ वह सब बौद्धिक स्तर पर कोई भी विद्वान कर सकता है। ज्ञानी कर सके ऐसा विद्वान कर सकता है, कदाचित् उससे अच्छा भी कर सकता है, क्योंकि वहाँ विद्वत्ता है। फर्क कहाँ पड़ता है? फर्क पड़ता है परमार्थ में, फर्क पड़ता है रहस्यार्थ में कि उस ही शास्त्र का रहस्य क्या है? उस ही शास्त्र के शब्द का परमार्थ क्या है? परमार्थ और रहस्यार्थ दोनों एकार्थ है। वहाँ फर्क पड़ता है और वहाँ ज्ञानीपुरुष की पहुँच है, दूसरों की पहुँच वहाँ नहीं होती। इसीलिये वह रात्रि-दिन के भेद की तरह ज्ञानी को समझ में आता है।

अभी, यहाँ एक और प्रश्न उत्पन्न होने योग्य है कि ज्ञानी को समझ में आता है, हम तो लाचार हो गये कि हमको समझ में नहीं आता है। तो हमको समझ में आये ऐसा कोई अवकाश है कुछ? इतना अवश्य विचारणीय है। हमें समझ में आये वह किस भूमिका में समझ में आयेगा अथवा किस स्थिति में आये हो तो समझ में आयेगा? इतना यहाँ विचार करना उचित है। कोई भी मुमुक्षु अपने अंतर में अपूर्व जिज्ञासा से मार्ग को खोजता हो, मार्ग की खोज उसे अन्दर में वर्तती हो कि छूटने का मार्ग किस प्रकार है? मुझे किसी भी कीमत पर छूटना है, छूटने का मार्ग मैं अंतर में

खोज रहा हूँ, अपने आप वह मार्ग मुझे मिल नहीं रहा है। अनादि का अनजान ऐसा मैं, मुक्ति के मार्ग से अनजान हूँ, मुझे मुक्ति का-छूटने का मार्ग नही मिल रहा है। उसकी खोज में जो खड़ा है, अपूर्व अंतर खोज ऐसी जिज्ञासा में हैं। ऐसी भूमिका में आये हुये कोई मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष की वाणी में से छूटने की बात मिलती है तब उसके आत्मा में प्रकाश होता है कि जो मैं खोज रहा था ऐसी अपूर्व बात, अपूर्व अर्थ की निरूपण करने वाली (इस पुरुष की वाणी है)। अपूर्व इसीलिये लिया कि अनंत भूतकाल में इस जीव ने पूर्व में कभी भी आत्मिहत साधा नहीं है, आत्मिहत किया नहीं है और आत्मिहत का उपाय-मार्ग भी जानता नहीं है। उपाय यानि मार्ग जानता नहीं है, वह अपूर्व है।

दिशा की अपेक्षा से विचार करने में आये तो जितने साधन अभी तक किये हैं वह जीव ने बिहर्मुख पिरणाम से किये हैं। कभी भी अंतर्मुख पिरणाम से आत्मकार्य किया नहीं है अथवा हुआ नहीं है। ऐसा अंतर्मुख होना वह दिशा की अपेक्षा से अपूर्व है। वहाँ पिरणाम की दिशा बदलती है। वह अंतर्मुख कैसे हुआ जाता है उसकी खोज अन्दर में चलती हो। और वह अंतर्मुख होने का मार्ग दर्शाने वाले कोई सत्पुरुष सामने हो तब उस जीव को अन्दर में प्रकाश होता है कि ये किस तरह अंतर्मुख होना वह दर्शा रहे हैं। और अंतर्मुख होने से हर जगह उपयोग प्रतिबद्धता को प्राप्त हो रहा था वहाँ से छूटता है तब अंतर्मुख होता है। यह बात जब उसको समझने में आती है तब उसे, उस वाणी पर से कहने वाले का जो भाव हैं और कहने वाले के ज्ञान की प्रतीति आती है कि यह ज्ञानीपुरुष है। अन्यथा इतनी हद तक इस आशय से, इस प्रकार से बात कहने की समर्थता नहीं हो सकती है। इस पर से वह ज्ञानी को ज्ञानी की वाणी है ऐसा समझ सकता है। उत्कृष्ट मुमुक्षु को ऐसा प्रकार बनता है।

अब, यहाँ दूसरा एक प्रश्न यदि गहराई से विचार करें तो, कि अंतर्मुख होना-स्वरूपसन्मुख होना-स्वसन्मुख होना ऐसा एक प्रकार का परिणमन है कि जो परसन्मुखता छोड़ता है, परसन्मुखता वहाँ होती नहीं है। अनादि की परसन्मुखता का वहाँ अभाव होता है और स्वसन्मुखता उत्पन्न होती है। उस स्वसन्मुखता का प्रकार वहाँ कैसा है? किस रीति का है? इसमें जो pinpoint बात है वह इतनी ही है कि

इसमें रीत क्या है? काम करने की कार्यपद्धित क्या है? अथवा अंतर्मुख होने की विधि क्या है? उस विधि का विधान-कथन जिनकी वाणी में प्रकाशित होता है उसका स्वयं के आत्मा में प्रकाश होता है वहाँ से tally होता है कि बराबर है, यह वाणी ज्ञानीपुरुष की है। ज्ञानीपुरुष के सिवाय इस विषय को खोलना, जो इस विषय से अनजान हो वह किस तरह समर्थ होगा? किस तरह शक्तिमान होगा? कि हो सकता नहीं। वह जो प्रकरण है वह अनंतकाल से इस संसार में रहस्यभूत रहा है अथवा जिनागम में भी बारह अंग में कोई top secret हो, आखरी हद का रहस्य हो तो वह इस जगह रहा है। यह रहस्य जिसको प्रगट होता है उसको मार्ग हाथ लग जाता है, उसका निवेडा हो जाता है।

अब, यह जो अंतर्मुखता अथवा स्वसन्मुखता है वह परिणाम किस प्रकार के है? क्योंकि यहाँ साधन तो ज्ञान है। श्रद्धा अनंतकाल से विपरीत-उल्टी-मिथ्याश्रद्धा चालू के चालू रही है। वह दर्शनमोह के परिणाम है। दर्शन-ज्ञान-चारित्र के परिणाम की जाँच करने में आये तो अनादि से मिथ्याश्रद्धा है और वह चालू की चालू है। चारित्रमोह के परिणाम में राग-द्वेष चालू की चालू है। कभी राग है, कभी द्वेष है। और उसकी अंतर्गत प्रकृति में अनेक प्रकार के अनेकविध परिणाम भी होते हैं। दोनों गुण विपरीत रूप परिणमन कर रहे हैं। एक ज्ञान गुण ऐसा है कि जो स्व-पर प्रकाशक है, उसमें संपूर्ण रूप से विपर्यास भी नहीं है और उसमें संपूर्ण रूप से अविपर्यास भी नहीं है। ज्ञान की स्थित खुल्ली है।

संक्षेप में कहे तो इतनी बात है कि ज्ञान में स्वभाव अंश खुल्ला है और अज्ञानदशा में भी ज्ञान ऐसा विवेक करता है कि स्व कौन और पर कौन? स्वयं कौन और पराया कौन? अथवा आत्मा का अहित हो रहा है वह नहीं करना है, हित हो वह करना है ऐसा विचार, विवेक प्रथम अज्ञानदशा में उत्पन्न होता है, बाद में ज्ञानदशा की प्राप्ति होती है। इसीलिये ज्ञान सर्वांश रूप से मिलन नहीं है और अज्ञानदशा में ज्ञान सर्वांश रूप से शुद्ध भी नहीं है। यदि सर्वांश से शुद्ध हो तो उसको अज्ञान नहीं कहा जाता, कि जो परिभ्रमण का कारण है, भ्रांतिगतपना नहीं होता। और यदि सर्वांश रूप से मिलन अथवा विपरीत हो तो उसको आत्मिहत का विवेक जागृत होने का

अवकाश नहीं रहता है और अज्ञानदशा को मिटाकर ज्ञानदशा की प्राप्ति करने का विवेक और विवेकपूर्वक का प्रयास संभव नहीं है।

यह परिस्थित होने से मार्ग प्राप्त होता है वह इस जगह से प्राप्त होता है। इसीलिये जो मार्ग को खोजता है-ढूँढता है अथवा अंतर्मुख होने की विधि की जो खोज करता है वह, इस जगह कोई अपूर्व जिज्ञासा में आता है और यह बात उसे मिलती है तब वह पकड़ सकता है। और इतना ही विषय संक्षेप में अनुभवगोचरपने समझना रहता है। मात्र विचारदशा का विषय नहीं रहता है।

यह इस प्रकार से है कि ज्ञान में ज्ञानवेदना है। कहाँ है? ज्ञान में ज्ञानवेदना है वहाँ ज्ञान की परिस्थिति ऐसी है कि वेदक भी ज्ञान है और वेद्य भी ज्ञान है। वेद्य यानि वेदन होने योग्य। वेदन होने योग्य भी स्वयं है और वेदन करने वाला-वेदक भी स्वयं है। ज्ञान में पर्याय में दो अंग है-एक बाह्य अंग है जिसे ज्ञेयाकार ज्ञान कहने में आता है, एक अंतरंग है जिसे ज्ञानाकार ज्ञान कहने में आता है। यदि ज्ञेयाकार ज्ञान स्वयं के ही ज्ञानसामान्य के वेदन पर आ जाये तो वेद्यवेदकता अंतर-बाह्य एकाकार होता है और वहाँ परसन्मुखता मिटकर स्वसन्मुखता होती है।

उपयोग जब तक बाहर है तब तक विशेषज्ञान का आविर्भाव है। विशेषज्ञान का आविर्भाव होने से जिस ज्ञेय को ज्ञान अवलंबता है उस ज्ञेय में वह ज्ञान लुब्ध होता है। ज्ञेय लुब्धता होने के कारण अनेक प्रकार के राग-द्वेष-मोह के परिणाम रोक न सके उस प्रकार से अनिवार्य रूप से उत्पन्न होते हैं। वही ज्ञानविशेष स्वयं में और अपनी पर्याय के अंतरंग में, ज्ञानसामान्य में सूक्ष्म अनुभवदृष्टि से स्वयं को देखने पर सामान्यज्ञान का जो आविर्भाव होता है तब ज्ञान वेद्यवेदकभाव से स्वयं का वेदन करता है। और वह स्वपने अनुभव में आता हुआ ज्ञान ही आत्मा है। आत्मा इसके सिवाय दूसरा कोई पदार्थ नहीं है। जिसको आत्मा कहते है, जो सनातन ज्ञानलक्षण से स्फुरित आत्मा कहते है वह आत्मा यह पदार्थ है कि जो वेद्यवेदकभाव से स्वपने ज्ञान स्वयं स्वयं को वेदता है, वहाँ स्वसन्मुखता उत्पन्न होती है। वहाँ ज्ञान का परसन्मुखता से प्रतिबंध हो रहा था अथवा प्रतिबद्धता को प्राप्त होता ऐसा उपयोग, वह उपयोग वापस मुझ हुआ है और अनुभवांश से स्वयं को, स्वयं के रूप में समझता है,

पहचानता है। ऐसी जो अंतर्मुख होने की विधि, उस विधि के किनारे पर आया हुआ जीव वह बात समझने के लिये, जीव को-स्वयं को स्वयं के प्रति मुड़कर स्वयं समझता है।

कृपाल्देव ने अपने शब्दों में उस विषय का प्रकाश किया है। 438वां पत्र है उसमें वह विषय चला है। 'समता, रमता, ऊर्ध्वता' का पत्र है न? उसमें आखिर में यह बात करते हैं। 'स्पष्ट प्रकाशता,..' प्रकाशशक्ति है न? समयसार में 47 शक्ति में 12वीं प्रकाशशक्ति है-'विशद् स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति'। प्रकाशशक्ति की परिभाषा इस प्रकार है। विशद् यानि स्पष्ट स्वसंवेदनमयी प्रकाशशक्ति है। यहाँ कृपाल्देव प्रकाश से बात करते हैं। 'स्पष्ट प्रकाशता,..' अब, बाहर में जो पुद्गल के प्रकाश हैं उसका वर्णन करते हैं और उससे विलक्षण प्रकार के प्रकाश की बात करनी है। क्योंकि यहाँ चैतन्यप्रकाश लेना है। स्वसंवेदनमय प्रकाश लेना है। 'स्पष्ट प्रकाशता, अनन्त अनन्त कोटी तेजस्वी दीपक,..' अनन्त अनन्त कोटी 'मणि,..' अनन्त अनन्त कोटी 'चंद्र,..' सब को अनन्त कोटी लगाना। अथवा 'सूर्यादि,..' जो प्रकाशमान पदार्थ हैं उसकी 'कांति,..' यानि तेज 'जिसके प्रकाश के बिना प्रगट होने के लिये समर्थ नहीं है,..' जिसके प्रकाश के बिना प्रगट होने के लिये समर्थ नहीं है (अर्थात्) आत्मा ही प्रकाशित न होता हो तो, इन सब पदार्थों के प्रकाश को कौन जाने और कौन नक्की करे? कि जिसके बिना प्रकाश करने के लिये समर्थ नहीं है। यह आत्मा तो अचिंत्य द्रव्य है। अचिंत्य द्रव्य की शुद्ध चितिस्वरूप कांति। यहाँ-833 में सूर्य, चंद्र की कांति नहीं ली। अचिंत्य द्रव्य की शुद्ध चितिस्वरूप कांति अचिंत्यपने प्रगट होकर आत्मा का प्रकाश करती है। 'अर्थात् वे सब अपने आपको बताने अथवा जानने के योग्य नहीं है।' वह सब पदार्थ अंधे हैं। स्वयं स्वयं को जानते नहीं (और) अन्य को भी जानते नहीं।

'जिस पदार्थ के प्रकाश में...' अब आत्मा की बात करते हैं। 'जिस पदार्थ के प्रकाश में चैतन्यता से वे पदार्थ जाने जाते हैं, वे पदार्थ प्रकाश पाते हैं,..' (अर्थात्) उनकी हयाती, विद्यमानता प्रकाशित होती है 'स्पष्ट भासित होते हैं, वह पदार्थ जो कोई है वह जीव है।' वह पदार्थ कौन है? जीव है, आत्मा है। 'अर्थात्...' अब बहुत

अच्छी बात करते हैं, मुद्दे की बात अब आती है। 'अर्थात् वह लक्षण प्रगट रूप से स्पष्ट प्रकाशमान,...' आत्मपदार्थ का लक्षण क्या है? स्पष्ट रूप से प्रकाशमान 'अचल ऐसा...' चिलत न हो ऐसा 'निराबाध...' बाधा को प्राप्त नहीं हो ऐसा, नाश न किया जाये ऐसा टंकोत्कीर्ण 'प्रकाशमान चैतन्य,...' स्वसंवेदनमयी प्रकाशशिक्त है इसीलिये 'प्रकाशमान चैतन्य...' (लिया)। वेदन में आ रहा ऐसा चैतन्य। 'उस जीव का उस जीव के प्रति उपयोग लगाने से प्रगट दिखायी देता है।' सुनने से दिखायी देता है ऐसा नहीं कहा, पढ़ने से दिखायी देता है ऐसा नहीं कहा, चिंतन मनन करने से दिखायी देता है ऐसा नहीं कहा। देखो भाषा देखा, मर्म क्या है? कि 'उस जीव का उस जीव के प्रति उपयोग लगाने से प्रगट दिखायी देता है।'

... उस प्रकरण में जिसका प्रवेश हुआ है वह अच्छी तरह उसे प्रकाशित करते हैं और जब प्रकाशित करते हैं तब उनका अंतर सद्भाव और अभाव, रात्रि-दिन जितना अंतर उसमें ज्ञात होता है।

दूसरे प्रकार से इस बात को कहे तो ऐसा है कि इस जगह खड़ा हुआ मुमुक्षुजीव जो अभी तक अंधकार में खड़ा था, कहाँ खड़ा था? बिल्कुल अंधेरे में खड़ा था उसको प्रकाश होता है कि मोक्षमार्ग प्रति-आत्मा के प्रति जाने की यहाँ पगडंडी मिलती है। कोई पूर्ण अंधकार में खड़ा हो, जंगल में भटक गया हो, पेड़-पौधों में टकराता हुआ भटकता हो, ऐसे में अचानक बिजली हो। वहाँ दूसरा तो कोई प्रकाश होने का घोर अंधकार में अवकाश नहीं है। अपने पास कोई साधन नहीं है। परंतु अचानक बिजली हो और वह पगडंडी देख ले कि इस ओर जाने से मार्ग हाथ लगेगा। ऐसा प्रकाश ज्ञानी की वाणी में से कोई मुमुक्षुजीव को-मार्गशोधक जीव को प्राप्त होता है तब उसको ज्ञानी की वाणी समझ में आती है, पहचान में आती है और उस पर से ज्ञानी की भी पहचान होती है। ज्ञानी की पहचान होती है तब उसका छुटकारा हो जाता है।

'क्योंकि रात्रि-दिन के भेद की तरह अज्ञानी-ज्ञानी की वाणी में आशय-भेद होता है, और आत्मदशा के तारतम्य के अनुसार आशय वाली वाणी निकलती है।'

कृपालुदेव इस पॉराग्राफ में आशय की ही बात करते हैं। ज्ञानी की वाणी में भी आत्मदशा की तारतम्यता अनुसार उस वाणी का प्रकाश होता है। यानि क्या? कि सब ज्ञानी जाति अपेक्षा से एक कोटी के होने के बावजूद तारतम्यता की अपेक्षा से जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट कोटी लागू होती है। तो जो तीव्र ज्ञानदशा में वर्तते हैं उनकी वाणी में आशय की उतनी ही सूक्ष्मता आती है।

जितने आत्मवीर्य से-जितने आत्मिक पुरुषार्थ से उनका परिणमन वर्तता है, वाणी में भी उसी प्रकार का force-उसी प्रकार का बल प्रगट होता है, तारतम्यता आती है। आशय की तारतम्यता वहाँ प्रगट होती है और उस तारतम्यता अनुसार आशय वाली वाणी निकलती है। उस प्रकार का आशय-तारतम्यता युक्त आशय 'वाणी ऊपर से 'वर्तमान ज्ञानीपुरुष' को स्वाभाविक दृष्टिगत होता है।' जो ज्ञानी वर्तमान में, भूतकाल की वाणी को भी ऐसा कह सकते है कि ये ज्ञानीपुरुष एकावतारी होने चाहिये। क्या कह सकते है? ऐसी तारतम्यता युक्त वाणी है, इसमें आशय इतने जोर से प्रकाशित होता है, उनका आत्मवीर्य यहाँ इस वाणी के द्वारा प्रकाशित होता है। उस प्रकाशता को प्राप्त होता हुआ आत्मवीर्य ऐसा सूचित करता है कि इनको कितने भव है? अब कितना बाकी रहा? यह वर्तमान ज्ञानीपुरुष को स्वाभाविक दृष्टिगोचर होता है, सहज मात्र में दृष्टिगोचर होता है। ऐसी ज्ञानीपुरुष के ज्ञान की निर्मलता होती है कि अन्य ज्ञानी को इस प्रकार इतनी हद तक पहचान सकते हैं, परख सकते हैं।

'और कहने वाले पुरुष की दशा का तारतम्य ध्यानगत होता है।' आशय की तारतम्यता ऊपर से कहने वाले की दशा का तारतम्य लक्ष्यगत होता है कि कहने वाले की दशा कितने पुरुषार्थ में वर्तती है, कितने जोर से यह वाणी बाहर आती है। ऐसा भी लक्ष्यगत होता है। इतनी निर्मलता ज्ञानीपुरुष में होती है।

'यहाँ जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है,..' अवतरण चिह्न में लिखा है स्वयं ने। 'वह किसी विशेष प्रज्ञावान, प्रगट बोधबीज सहित पुरुष के अर्थ में लिखा है।' जो 'वर्तमान ज्ञानी' शब्द लिखा है उन्हें प्रगट बोधबीज सहित होना (चाहिये)। उन्हें बीजज्ञान प्रगट हुआ हो, जिसे स्वरूप निश्चय हुआ हो, आत्मा की पहचान जिसे प्रवचन-10, पत्रांक-679 (3)

अनुभवांश से हुयी हो। 751 पत्र अनुसार दूसरा समकित जिसे प्रगट हुआ हो और विशेष प्रज्ञावंत हो। अर्थात् प्रज्ञा भी विशेष निर्मल हो। ऐसा उस शब्द का अर्थ है।

'ज्ञानी के वचनों की परीक्षा यदि सर्व जीवों को सुलभ होती तो निर्वाण भी सुलभ ही होता।' ठीक, ज्ञानीपुरुष के वचनों की परीक्षा जिसे हो उसका निर्वाण होता है ऐसा यहाँ कहना है। सर्व जीव को होती नहीं। यदि सर्व जीव को होती तो सर्व जीव का निर्वाण होता, सुलभ रूप से निर्वाण होता, उसमें दो मत नहीं है। यह बात थोड़ी दुर्लभ है और दुर्लभ इसीलिये है कि उत्कृष्ट मुमुक्षुता वहाँ प्रगट हुयी नहीं है तब तक दुर्लभ है। उत्कृष्ट मुमुक्षुता प्रगट होने पर वह बात सुलभ है। यहाँ इस विषय को कृपालुदेव ने समाप्त किया है।



प्रवचन-11, पत्रांक-674 (1)

(श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-674)। 'देहधारी होने पर भी निरावरणज्ञान सहित रहते हैं ऐसे महानपुरुषों को त्रिकाल नमस्कार' जगत में ऐसा भी अभिप्राय है कि देह छूट जाये तो मोक्ष होता है। जब तक यह देह रहता है तब तक जीव का मोक्ष नहीं होता। तो कहते हैं कि नहीं, अरिहंत अवस्था में सदेह मुक्ति है। देहसहित मुक्तदशा में वे विचरते हैं, ऐसा भी होता है। 'ऐसे महापुरुषों को त्रिकाल नमस्कार' भूतकाल में भी मेरा नमस्कार, वर्तमान में भी मेरा नमस्कार और भविष्य में भी मेरा नमस्कार, तीनों काल में मेरा नमस्कार हो। ऐसे उस दशा के अभिलाषी जीव को इस प्रकार की भावना आती है। कृपालुदेव को भी उस दशा की अभिलाषा थी।

'आत्मार्थी श्रीसोभाग के प्रति, श्री सायला।' उनके जो परम निकटवासी मुमुक्षु थे उनको यह पत्र लिख रहे हैं और उनके एक प्रश्न के प्रत्युत्तर में वे यह पत्र लिख रहे हैं। 'देहधारी होने पर भी परम ज्ञानीपुरुष में सर्व कषाय का अभाव हो सकता है, ऐसा हमने लिखा है, उस प्रसंग में 'अभाव' शब्द का अर्थ 'क्षय' समझकर लिखा है।' आगे एक पत्र में कोई ऐसी बात लिखी है कि सर्व कषाय का अभाव देहधारी परमात्मा को होता है, अरिहंत सर्वज्ञ जिनेन्द्र परमात्मा को होता है। उनको देह है लेकिन कोई कषाय नहीं है। और कोई कषाय वाली प्रवृत्ति भी नहीं है। आहार, निहार, निद्रा कुछ नहीं है, कोई परिग्रह भी नहीं है। वाणी है और विहार है, ये दो बात शरीर की होती है और वचन की होती है, काया की और वचन की होती है तो भी बिना इच्छा होती है, बिना राग होती है। उसमें राग का कोई निमित्त नहीं होता, स्वयं होती है। वाणी स्वयं पैदा होती है और विहार होता है तो स्वतः ही होता है। विकल्प नहीं होता है कि इधर से उधर जाना है, ऐसे ही हो जाता है।

'देहधारी होने पर भी परम ज्ञानीपुरुष में सर्व कषाय का अभाव हो सकता है, ऐसा हमने लिखा है, उस प्रसंग में (अर्थात् उस पत्र में) 'अभाव' शब्द का अर्थ 'क्षय'

समझकर लिखा है।' सर्व कषाय का क्षय हो गया है। उपशम नहीं हुआ है, क्षयोपशम भी नहीं हुआ है, क्षय हो गया है। तीन प्रकार की कषाय की अवस्था होती है-उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक। तो उपशम होती है वहाँ निर्मलता तो होती है, लेकिन वह कषाय दबा हुआ सत्ता में रहता है, योग्यता के रूप में। क्षयोपशम में कुछ कषाय होता है, कुछ कषाय का अभाव होता है। क्षय और उपशम दोनों है उसमें, उसको क्षयोपशम कहते हैं। और क्षय होने से अभाव हो जाता है। मूल में से कोई योग्यता नहीं रहती और कभी दुबारा उसका उत्पन्न होने का प्रसंग भी-अवसर भी नहीं बनता। उसको कहते हैं, क्षय। जल जाना, क्षय हो जाना, नाश हो जाना।

'जगतवासी जीव को राग-द्रेष दूर...' हुये हैं, चले गये हैं, बीत गये हैं, अभाव हो गये हैं उसकी खबर नहीं पड़ती। जगतवासी जीव को यानि सामान्य आम मनुष्य को, आम जनता को दूसरे जीव में राग-द्रेष चला गया है उसकी खबर पड़ती नहीं है। परन्तु जो बड़े पुरुष है, मोटा पुरुष यानि महापुरुष है-ज्ञानुपुरुष है, महापुरुष यानि ज्ञानीपुरुष हैं 'वे जानते हैं कि इस महात्मा पुरुष में राग-द्रेष का अभाव या उपशम है,..' महात्मा पुरुष को मालूम पड़ता है कि इन दूसरे महात्मा पुरुष में भी राग-द्रेष का अभाव हो गया है या उनको उपशम हो गया है। ऐसा दूसरे महापुरुष को-ज्ञानीपुरुष को पता चल जाता है।

'ऐसा लिखकर आपने शंका की...' किसने? सोभागभाई ने ऐसा लिखकर शंका की। यानि वह बात तो वो जानते थे कि लोग ज्ञानी को, वीतराग को पहचानते नहीं है। ज्ञानी हो वह ज्ञानी को पहचानते हैं, वीतराग को पहचानते हैं। तो ऐसा क्यों होता है? ऐसा शंका का एक प्रकार, आशंका का एक प्रकार यहाँ प्रस्तुत किया है।

अब, इसके पीछे थोड़ा स्पष्टीकरण करे कि ये जो राग-द्वेष का अभाव होता है यानि मिलन परिणाम का अभाव होता है और शुद्ध पिवत्र परिणाम होता है। तो मिलन परिणाम है वह स्थूल है और जो शुद्ध परिणाम है वह सूक्ष्म है। स्थूल-सूक्ष्म के बहुत भेद है। मिलनता में भी है और शुद्धता में भी है। जैसे मिलनता में विचार करे तो किसी को मन में कोई मिलन परिणाम होता है तो सूक्ष्म रहता है, पता नहीं चलता है दूसरे को कि इसके मन में क्या चलता है। लेकिन वह मिलन परिणाम अनुसार कोई प्रवृत्ति

कर लेता है तो दूसरे को पता चलता है कि इसका भाव भी मलिन है, तो उसकी प्रवृत्ति भी मलिन है।

जैसे चोरी का भाव हुआ, लेकिन चोरी नहीं किया तो दूसरे को पता नहीं चलता है और चोरी करता है तो पता चलता है कि उसका चोरी करने का भाव है तो चोरी करता है। गुस्सा होता है, मन में गुस्सा होता है तो दूसरे को क्रोध का पता नहीं चलता है। लेकिन वह बोलने लगता है, हावभाव आता है, मारने लगता है, मार डालता है, खून कर देता है, तो जैसे-जैसे तीव्र अशुद्धता आती है तो स्थूलता भी अधिक हो जाती है। मलिन परिणामों में भी तीव्र अशुद्धता हो तो स्थूलता बढ़ जाती है और मंद अशुद्धता हो तो स्थूलता कम होती है। लेकिन ये सब स्थूलता के ही भेद है।

ऐसे ही शुद्ध परिणाम में, ऐसे शुद्ध परिणाम में मुमुक्षुता में निर्मलता आती है वह थोड़ी स्थूल होती है। ज्ञानी को जो शुद्धता होती है वह इससे सूक्ष्म होती है, मुनि को जो शुद्धता होती है वह इससे भी सूक्ष्म होती है और वीतराग जिनेन्द्र परमात्मा को शुक्लध्यान का जो परिणमन होता है वह अत्यंत अतिशय अति-अति सूक्ष्मातिसूक्ष्म होता है। वह आगम प्रसिद्ध है। शुक्लध्यान के परिणाम बहुत सूक्ष्म होते हैं वह आगम में प्रसिद्ध है। वह तो लोग आज कल समझ भी नहीं सकते। वह तो आगम में लिखा है तो थोड़ा-बहुत अर्थघटन विद्वान लोग कर लेते हैं, बाकी समझ में नहीं आता है कि ज्ञिपिरिवर्तन क्रिया क्या है? उसमें ज्ञेय से ज्ञेयांतर, पर्याय से पर्यायांतर, गुण से गुणांतर, द्रव्य से द्रव्यांतर कैसे परिणमन होता है ज्ञान का, समझ में नहीं आयेगा। प्रथम वितर्क विचार, सूक्ष्म वितर्क विचार (आदि) शुक्लध्यान के चार प्रकार के भेद है वह नहीं समझ में आयेगा, क्योंकि बहुत सूक्ष्म है।

अब देखिये, सर्वज्ञ वीतराग परमेश्वर को तिलतुष मात्र परिग्रह नहीं है। बाहर में कषाय की कोई प्रवृत्ति भी नहीं है। तो भी उसकी वीतरागता हमने क्यों नहीं पहचानी? समवसरण में गये तो भी क्यों नहीं पहचानी? विचारने लायक प्रश्न है। ज्ञानी में हम शंका करते हैं कि ज्ञानी है लेकिन खाते हैं, पीते हैं, गृहस्थी चलाते हैं, व्यापार करते हैं, राजपाट चलाते हैं, लड़ाई-झगडा करते हैं, सब होता है। ज्ञानी ऐसे क्यों? उनकी कषाय-प्रवृत्ति देखकर हम शंका करते हैं। मुनि है उनको भी आहार आदि की प्रवृत्ति

होती है, पिरग्रह नहीं है। फिर भी वे बोलते हैं, उपदेश देते है, भगवान की स्तुति आदि करते हैं उतना रागांश उनका भी दिखता है। लेकिन सर्वज्ञ वीतराग को तो कुछ नहीं है। वो तो पिरपूर्ण ध्यानस्थ अवस्था में निरंतर रहते हैं। आँख भी नहीं खोलते, एक सेकेंड के लिये भी आँख नहीं खोलते। 'भले सो इन्द्रोना रतनमय स्वस्तिक बनता' सौ-सौ इन्द्र उनके चरण में नतमस्तक होते हैं, इन्द्राणियाँ नृत्य करती है। 'नथी ए ज्ञेयोमां तुझ परिणित सन्मुख जरा।' उनके सन्मुख नहीं देखते भगवान। आँख उठाकर नहीं देखते कि कौन नृत्य करता है, कैसे नृत्य करता है। समवसरण में उनकी भिक्त करते हैं, नृत्य करते हैं। तो भी हमने नहीं पहचाना इसका कारण क्या? शंका करने की गुँजाईश है? कि नहीं है। बाहर से कोई पहचान होती नहीं। इसका मतलब क्या हुआ? बाह्य कषाय प्रवृत्ति या निष्कषाय प्रवृत्ति या निवृत्ति, जो भी उदय हो, निवृत्ति भी कषाय के अभाव का एक उदय है, उससे अन्दर की पहचान नहीं होती और हमें हुयी भी नहीं है।

भगवान मन्दिर में बिराजमान है, पहचान हो जाती है क्या वीतराग की? नहीं होती है। अनंतकाल में नहीं हुयी है। क्योंकि बहुत सूक्ष्म परिणमन है। ऐसे ही मुनियों का परिणमन भी, मुनियों में भी शंका करने की गुँजाईश बहुत कम है। भाविलंगी मुनि होते हैं उनका दिदार ऐसा होता है कि देखते ही शांति का, दर्शन करने वाले को शांति उत्पन्न हो जाये। इतने शांत होते हैं, तो भी उनकी पहचान नहीं हुयी। ज्ञानी की पहचान होनी तो बहुत कठिन है, क्योंकि उनको तो सकषाय प्रवृत्ति कुछ होती है। और जीव की बाह्य दृष्टि होने से उनका ज्ञान बाह्य कषाय प्रवृत्ति पर जाता है, अंतरंग दशा पर जाता नहीं तो उनकी पहचान होती नहीं। मुमुक्षु का इससे स्थूल परिणमन होता है। तो नीचे वाले मुमुक्षु अपने ऊपर वाले मुमुक्षु को पहचान सकता है और उत्कृष्ट मुमुक्षु ज्ञानी को पहचान सकता है और ज्ञानी तो मुनि को और वीतराग को पहचान लेते है। क्योंकि उनकी जाति परिणमन की एक हो जाती है। चतुर्थ गुणस्थान में वीतरागता की, स्वसंवेदन की, शांति की एक जाति हो जाती है। और उनको पूरे आत्मा की पहचान हो गयी है इसीलिये पूरी दशा की भी पहचान हो ही जाती है।

अब कहते हैं कि 'जगतवासी जीव को...' यानि सामान्य मनुष्य को 'राग-द्वेष दूर होने का पता नहीं चलता,..' वीतराग की खबर पड़ती नहीं है। 'परंतु जो महापुरुष हैं...' ज्ञानीपुरुष हैं 'वे जानते हैं कि इस महात्मा पुरुष में...' यानि ये वीतराग सर्वज्ञदेव हैं उनमें राग-द्वेष का अभाव हो गया है या मुनि होते हैं तो उनके उपशम को भी वे जान लेते हैं। 'ऐसा लिखकर आपने शंका की है कि जैसे महात्मा पुरुष को ज्ञानीपुरुष अथवा दृढ़ मुमुक्षुजीव जानते हैं...' ऐसे महात्मा को ज्ञानीपुरुष भी जान लेते हैं और दृढ़ मुमुक्षु भी जान लेते हैं। देखो, ये अपेक्षा लिया है, दृढ़ मुमुक्षु की अपेक्षा लिया है, उत्कृष्ट मुमुक्षु की अपेक्षा लिया है, ज्ञानी के साथ लिया है उसको। 'वैसे जगत के जीव क्यों नहीं जानते?' किस कारण से वह न जाने? आप जरा स्पष्टीकरण दीजिये न कि ये क्यों नहीं जानते हैं? ज्ञानी और उत्कृष्ट मुमुक्षु जान लेते हैं तो फिर सामान्य मनुष्य क्यों नहीं जानते? किस कारण से नहीं जानते हैं?

और आपने दृष्टांत भी लिखा कि 'मनुष्य आदि प्राणी को देखकर जैसे जगतवासी जीव जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं,..' कुत्ते को कुत्ता जानते हैं, मनुष्य को मनुष्य जानते हैं, बिल्ली को बिल्ली जानते हैं, मक्खी को मक्खी जानते हैं। तो फिर 'महात्मा पुरुष भी जानते हैं कि ये मनुष्य आदि हैं,..' और महात्मा पुरुष भी ऐसा ही जानता है। जैसा सामान्य मनुष्य जानता है ऐसा ही महात्मा पुरुष जानते है कि ये भी मनुष्य है, ये भी कुत्ता है, ये भी फलाना है। 'इन पदार्थों को देखने से दोनों समानरूप से जानते हैं;..' समकक्ष है। ज्ञानी भी मनुष्य को मनुष्य जानते है, तिर्यंच को तिर्यंच जानते है। सामान्य मनुष्य भी मनुष्य को मनुष्य जानता है, तिर्यंच को तिर्यंच जानता है। 'और इसमें भेद रहता है,..' और वीतराग में राग-द्वेष चला गया है, उपशम, क्षय हो गया है उसमें तो ऐसा नहीं जानते हैं। 'वैसा भेद होने के क्या कारण मुख्यतः विचारणीय है?' ऐसा नहीं होने में, जगतवासी जीव को पता नहीं चलता है कि ये ज्ञानी है या वीतराग है, उसके मुख्य रूप से कौन-कौन से कारण है? ये आप बताईये। मेरे ये प्रश्न है। 'ऐसा लिखा उसका समाधान-' क्या प्रश्न उठाया है?

फिर से, ज्ञानी और वीतराग की पहचान क्यों नहीं होती है जगतवासी जीव को? दूसरी-दूसरी बात तो जगतवासी जीव बराबर करता है। यानि जगतवासी जीव

अपने-अपने विषय में expert भी होता है। आश्चर्यकारी इनका उपयोग चलता है। जैसे कोई चावल का परख करने वाला होता है, बारीक चावल देखकर बोल देगा कि ये चावल की quality बराबर नहीं है। उसको पकाने से वह बारीक नहीं रहेगा, मोटा हो जायेगा। और कोई मोटा चावल हो उसको ऐसा बोले कि इसमें पानी इतना अच्छा है, पकाने से बहुत बारीक हो जायेगा। बिना पकाये वह बोल देगा। चावल की परीक्षा करते हैं कि नहीं करते हैं? चावल की परीक्षा करने वाले ऐसे expert होते हैं कि बिना पकाये उनकी मीठास क्या है, वह पकने से कैसा मीठा होगा, कैसा आकृति में होगा, सब बता देगा। (ऐसे ही) चाय की परख करने वाले करते हैं कि नहीं? (एक भाई) करते थे। उन्होंने कभी चाय नहीं पी, जिंदगी में चाय ही नहीं पी। लेकिन चाय देखकर बोल देते थे कि ये quality बहुत बढ़िया है। ज्ञान का सामर्थ्य है कि नहीं है? तो वहाँ आप कर सकते हैं, चाय की परख कर सकते हैं, ज्ञानी की-वीतराग की परख क्यों नहीं कर सकते हैं? समवसरण में गये, भगवान को क्यों नहीं पहचाना? गुरुदेव के पास गये, गुरुदेव को क्यों नहीं पहचाना?

(कहते हैं कि) चाय का हमें परिचय था, लेकिन वीतरागता का हमें परिचय नहीं था। चाय का तो परिचय था तो परीक्षा किया। आप बता सकते हो? मैं तो नहीं बता सकता कि यह चाय अच्छी है या अच्छी नहीं है। आपको परिचय है, मुझे परिचय नहीं है। तो परिचय से जो पहचान होती है ऐसा परिचय नहीं है। वह दृढ़ मुमुक्षु को होता है, ज्ञानी को होता है। सामान्य मनुष्य को इस प्रकार का परिचय नहीं होता है।

ये परिणाम का अवलोकन करने में अपने भावों का परिचय करने का प्रयोग है और practice है। क्या? अपने परिणामों का अवलोकन करना यानि क्या? कि जो परिणाम का अनुभव होता है उस अनुभव को बार-बार देखना और अनुभव का परिचय करना। उस परिचय से कषाय का परिचय होगा, कषाय की तीव्रता-मंदता का परिचय होगा, कषाय के रस का परिचय होगा, कषाय होने के पूर्व क्या अभिप्राय से कषाय हुआ उसका भी परिचय होगा और उसका अभाव होने की सूझ आयेगी। इसीलिये वह प्रयोग करने लायक है। अपने स्वाध्याय में यह विषय लेते हैं इसका यही कारण है। बिना परिचय पहचान होने वाली नहीं है।

क्योंकि ज्ञानी की और वीतराग की पहचान इनके भावों से होती है। अब, अपने में अन्दर में होने वाले भावों का अपने को परिचय नहीं, पहचान नहीं (है) तो दूसरों के भावों की पहचान कहाँ से आयेगी? स्वयं का तो ठिकाना नहीं तो दूसरे की पहचान आने का कोई अवसर आयेगा नहीं। ये बात होती है।

अब समाधान देते हैं। समाधान यानि शंका का उत्तर-जिज्ञासा का उत्तर यानि solution. 'मनुष्य आदि को जो जगतवासी जीव जानते हैं,...' मनुष्य को, तिर्यंच को जगत के जीव जानते हैं यानि उनका परिचय है। 'वह दैहिक स्वरूप से तथा दैहिक चेष्टा से जानते हैं।' अपने देह का भी परिचय है और अपने देह की चेष्टा का भी परिचय है। दूसरे के शरीर का भी परिचय है और उसकी चेष्टा का भी परिचय है, उससे जानते हैं। 'एक दूसरे की मुद्रा में, आकार में और इन्द्रियों में जो भेद है,...' यानि अंतर है, कि मनुष्य को ऐसा होता है, तिर्यंच को ऐसा होता है। मनुष्य के इतने कान होते हैं, गधे को इतने बड़े होते हैं, मनुष्य को ऐसे पैर होते हैं, जब कि मनुष्य को हाथ होते हैं। तो उनकी आकृति, इन्द्रियाँ वगेरे से जानते हैं। 'उसे चक्षु आदि इन्द्रियों से...' किससे जानते हैं? 'चक्षु आदि इन्द्रियों से जगतवासी जान सकते हैं,...' चक्षु इन्द्रिय से यह जानना होता है।

'क्योंकि वह उनके अनुभव का विषय है।' क्या? यह इनका अनुभव का विषय है। जो अनुभव का विषय है वह बता देगा। जिस विषय में अनुभव नहीं है, अनजाने है वह नहीं बता सकते है। सीधी सादी बात principally सिद्धांतिक बात वह आयी कि जिसका जिस line में अनुभव है वो बात वह बता सकेगा। जैसे शरीर विज्ञान के लिये तबीबी विज्ञान है, हम doctor के पास जाते हैं। कुछ गड़बड़ होती है तो doctor के पास जाते हैं, क्योंकि उसको उस ज्ञान का अनुभव है, उसने उसकी practice की है।

मुमुक्षु:- छोटा बालक भी बोल नहीं सकता उसकी चेष्टा से, हावभाव से हम पकड़ सकते हैं। परन्तु ज्ञानी के हावभाव और चेष्टा को हम पकड़ नहीं सकते।

पूज्य भाईश्री:- क्योंकि हमें कषाय का अनुभव है तो कषाय परिणाम और कषाय परिणाम के निमित्त से उत्पन्न होने वाली शरीर की चेष्टा को हम पहचानते हैं। तो बच्चे की भी जो चेष्टा है उनकी इच्छानुसार होगी न? तो उसको हम पहचान लेंगे कि वह ऐसा कहना चाहता है। और ऐसा भाव व्यक्त करता है। जैसे किसी बच्चे का हाथ इधर जाता है, तो अपने को पता चलेगा कि उसको यहाँ कुछ हुआ है। उसका हाथ बार-बार यहाँ क्यों जाता है? उसको खुजली आती है या कुछ होता है, माथे में जूँ पड़ी है या कुछ भी है। बोल नहीं सकता है, लेकिन हम पहचान लेते हैं कि नहीं पहचानते हैं? क्योंकि उस भाव का हमें परिचय है। ज्ञानी के ज्ञानभाव का परिचय नहीं है तो नहीं पहचान सकते हैं, सीधीसादी बात है। वही तो कहा, 'क्योंकि वह उनके अनुभव का विषय है।'

'परंतु जो ज्ञानदशा अथवा वीतरागदशा...' ज्ञानदशा कहो या वीतरागदशा कहो 'वह मुख्यतः दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टा का विषय नहीं है,...' मुख्य रूप से। गौण रूप से है, मुख्य रूप से नहीं है। स्थूल रूप से नहीं है, सूक्ष्म रूप से है, लेकिन स्थूल रूप से नहीं है। तो क्या है? कि ज्ञानदशा और वीतरागदशा तो 'अंतरात्मगुण है,...' कैसा शब्द प्रयोग किया है! आत्मा के अंतर के गुण की यह दशा है। अंतरात्मगुण प्रगट हुआ है। आत्मा के अन्तर के गुण जो प्रगट हुये उसको ज्ञानदशा और वीतरागदशा कहते हैं, उसको आत्मदशा कहते हैं। वह शरीर का गुण नहीं है कि शरीर से जाना जाये कि भाई ऐसा है कि जो ज्ञानी है उसका शरीर ऐसा ही होना चाहिये। ज्ञानी सुरूप हो सकता है, कुरूप नहीं हो सकता ऐसा कोई सिद्धान्त है क्या? नहीं, ऐसा कोई सिद्धान्त नहीं है। कुरूप हो, काणा हो, कुबड़ा हो, कुछ भी हो, ज्ञानदशा हो सकती है। शरीर से इसका कोई लेना-देना नहीं है।

मुमुक्षु:- ज्ञानी का रहन-सहन, खाना-पीना इत्यादि अलग होता है ऐसा कुछ नहीं?

पूज्य भाईश्री:- ऐसा भी नहीं है। ज्ञानी ऐसा खाते होगे या ज्ञानी रोटी नहीं खाते होगे। रोटी की जगह क्या खाते होंगे। दूसरे मनुष्य भी रोटी खाते हैं और ज्ञानी भी रोटी

खाते हैं। तो रोटी की जगह रोटी नहीं खाये वह ज्ञानी है क्या? चलो हमको ज्ञान हुआ है, आज से हम रोटी नहीं खायेंगे। ऐसा लेना है क्या? ऐसी कोई बात ज्ञानी में नहीं है।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु में होती है?

पूज्य भाईश्री:- फिर भी इस कारण से मुमुक्षुता नहीं है। कोई बाहर के खानपान में फेरफार करे इसीलिये मुमुक्षुता है या इसीलिये ज्ञानदशा है ऐसा नहीं है। मुमुक्षु वैरागी होता है, चलो। मुमुक्षु को वैराग्य होता है। तो क्या अन्यमत में वैरागी नहीं होते हैं क्या? अन्यमत में भी वैरागी लोग होते हैं। कबीरपंथ में खास वैरागी होते हैं। इसीलिये कबीरपंथी साधु आये तो कृपालुदेव ने बोला कि वैराग्य देखने के लिये वहाँ जाना। देखना कि कैसा वैराग्य है इसका। देख लेना जरा। अंबालालभाई को भेजा इसका यही कारण था। तो वैराग्य है इसीलिये मुमुक्षु है ऐसा भी नहीं है। यथार्थता में कई और प्रकार भी देखना पड़ता है। केवल वैराग्य से यथार्थता नहीं देखी जाती और वैराग्य नहीं होने से भी यथार्थता नहीं देखी जाती, वैराग्य नहीं दिखने से। वैराग्य तो अन्दर के परिणाम की चीज होती है, बाहर कभी आता है, कभी बाहर नहीं भी आता है।

जैसे कोई पूर्व पुण्य के प्रारब्ध से बहुत से परिग्रह के बीच में कोई मुमुक्षु रहता है, क्या? मकान भी बड़ा हो, सब प्रकार के जो भी पंचेन्द्रिय के विषय के साधन भी अच्छी-अच्छी quality के होते हैं। तो उसको वैराग्य हो सकता है या नहीं हो सकता है? क्या गिने हम? क्या गिने? कि जिसको रस है तो वैराग्य नहीं है और नीरसता है तो वैराग्य है। यहाँ से नापा जाता है। उनके बाह्य संयोग से नहीं नापा जाता है।

ज्ञानी वैरागी होते हैं। जैसे मुमुक्षु वैरागी होते हैं, वैसे ज्ञानी भी वैरागी होते हैं नियम से, क्या? समयसार के निर्जरा अधिकार का कलश है। नियम से उसको वैराग्य होता है, अंतर परिणाम में। ज्ञानी इन्द्र होते हैं। इन्द्र ज्ञानी होते हैं कि नहीं होते हैं? सौधर्म इन्द्र नियम से ज्ञानी होते हैं।

(इसीलिये कहते हैं कि) 'ज्ञानदशा अथवा वीतरागदशा है वह मुख्यतः दैहिक स्वरूप तथा दैहिक चेष्टा का विषय नहीं है, अंतरात्मगुण है, और अंतरात्मता बाह्य जीवों के अनुभव का विषय नहीं होने से,..' अंतरात्मता वो बाह्य जीवों का, अभी

जगतवासी जीव को क्या बोला इधर? वह बाह्य जीव है। ज्ञानी अंतरात्मा है और जगत के जीव बहिरात्मा है तो उसको बाह्यजीव बोलते हैं। जिसकी बाह्य दृष्टि है वह बाह्य जीव है, जिसकी अंतर दृष्टि है वह अंतर जीव है। बाह्य जीव और अंतर जीव, दो भेद कर दिये।

'अंतरात्मता बाह्य जीवों के अनुभव का विषय नहीं होने से, तथा जगतवासी जीवों में तथारूप अनुमान करने के भी प्रायः संस्कार न होने से...' बहुभाग ज्ञानी और वीतराग को वो पहचान सकते नहीं है। क्या लिखा? कि एक तो अपना अनुभव नहीं है और बिना अनुभव वह अनुमान से पकड़ सके ऐसी भी जीव की, बहुभाग जीवों की योग्यता नहीं है। कुछ एक जीव की योग्यता होती है तो वह उस line में चढ़ जाता है। उसकी line बदल जाती है। बाकी बहुभाग जीवों को तो ये अनुमान करने की भी योग्यता नहीं है कि वह अनुमान से भी पकड़ सके कि ये ज्ञानी है।

हम एक प्रश्न उठाये कि गुरुदेव ज्ञानी थे हम मानते हैं और इसीलिये गुरुदेव का जो statue है-प्रतिकृति को बहुमान से विराजमान करेंगे। गुरुदेव ज्ञानी क्यों थे? ये हमारा प्रश्न है, क्या? क्यों ज्ञानी थे? उनका शरीर प्रभावशाली था, तेजस्वी शरीर था इसीलिये वो ज्ञानी थे? नहीं? दिखने में ही महापुरुष दिखते हैं, देखो। प्रभावशाली दिखते हैं कि नहीं दिखते हैं? दिखते है इसीलिये वो ज्ञानी थे? अन्यमत में ऐसे नहीं हो सकते हैं? अब वो त्यागी थे, कुर्ता-टोपी नहीं पहनते थे इसीलिये ज्ञानी थे? अन्यमत में भी त्यागी होते हैं। प्रवचन बहुत बढ़िया देते थे, क्या? गुरुदेव की वाणी जो है वह आज भी tape में सुनने में आती है। बहुत अच्छे प्रवचन देते थे, इसीलिये वो ज्ञानी थे? इससे भी अच्छा orator मिल सकता है दुनिया में। आचार्य रजनीश था न? Class one orator था। Fine oratory! लोग एकदम चक्कर खाकर उनके चरण में पड़ते थे। इसीलिये वह ज्ञानी थे (ऐसा कह नहीं सकते)। तो फिर ज्ञानी होने का कारण क्या है? वह बात जब तक पहचानने में नहीं आती है वहाँ तक हमारी समझ में ज्ञान क्या है, वीतरागता क्या है, मोक्षमार्ग क्या है, आत्मा क्या है, आत्मा के गुण क्या है, स्वभाव क्या है वह बात समझ में आने वाली नहीं है। चाहे हम कुछ भी करे। पूरी जिंदगी गुरुदेव को सुनते रहे और अभी भी tape सुनते रहेंगे, जहाँ तक हमको

विश्वास है कि ये ज्ञानी है। ऐसा विश्वास तो है, अविश्वास नहीं है। वो बात नहीं है कि हमको अविश्वास है, लेकिन पहचान नहीं है। पहचान अलग चीज होती है, विश्वास अलग चीज है। पत्र में बहुत मुद्दे की बात की है। इस पत्र में कृपालुदेव ने बहुत मुद्दे की बात की है।

मुमुक्षु:- क्या कैसेट के द्वारा पहचान नहीं होती?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, वह बात तो स्पष्ट हो गयी थी। वह तो बहिनश्री के पास वह प्रश्न चला था, (एक मुमुक्षु ने) चलाया था। चलो, जब थे तब तो हमारी पहचान नहीं हुयी, लेकिन अब गुरुदेव की वाणी सुनते-सुनते तो गुरुदेव की पहचान कर सकेंगे कि नहीं कर सकेंगे? और बहिनश्री को भिक्त भी बहुत थी गुरुदेव के प्रति, तो हाँ भर देंगे। लेकिन हाँ नहीं भरी कि ऐसे केसेट सुनते-सुनते पहचान होती नहीं है। तो फिर और प्रश्न चला कि केसेट में तो वाणी सुनने में आती है, गुरुदेव तो दिखने में नहीं आते हैं और प्रत्यक्ष में तो दिखने में आता है, तो विडीयो केसेट में तो दिखने में भी आता है, हावभाव भी आता है, वाणी जैसे प्रत्यक्ष हो ऐसा ही दिखता है। लेकिन प्रत्यक्ष है नहीं वहाँ। वहाँ टीवी का परदा है, लेकिन गुरुदेव नहीं है। तो बोले कि इससे भी पहचान नहीं होती है। पहचान होने में साक्षात् चाहिये।

मुमुक्षु:- सोगानीजी को तो आत्मधर्म पर से पहचान हो गयी थी।

पूज्य भाईश्री:- आत्मधर्म पर से विश्वास आया था, पहचान तो सोनगढ़ आये? तब हुयी। अगर जो आत्मधर्म में से पहचान हो गयी थी तो फिर क्यों सोनगढ़ आये? पहचान तो हो गयी, हो गया काम। पहचान का काम तो हो गया। ज्ञानी की पहचान होती है तो आत्मा की पहचान होती है और आत्मा की पहचान होती है तो अनुभव हो जाता है। तो फिर तो आने की जरूरत भी नहीं थी। लेकिन उनको तो जल्दी से जल्दी आने की जरूरत महसूस हुयी थी। भाई, ऐसे परोक्ष में कभी किसी व्यक्ति की पहचान नहीं आती है। परोक्ष में नहीं आती।

मुमुक्षु:- गुरुदेव को समयसार मिला और आत्मानुभव हुआ तो कुन्दकुन्दाचार्य तो परोक्ष ही थे।

पूज्य भाईश्री:- स्वभाव का संस्कार लेकर जो जीव आता है उनको पहले प्रत्यक्ष मिल गये है, और उसने वह पहचान का काम वहाँ कर लिया है। वह काम करके आये थे। वह बात हमको पता नहीं है तो हम समझते हैं कि गुरुदेव को समयसार से ज्ञान हुआ तो हमको भी समयसार से ज्ञान हो सकता है, वह गलत बात है। हमको समयसार से ज्ञान होता तो जैसे गुरुदेव को हो गया था वैसे हमको भी हो जाना चाहिये था।

मुमुक्षु:- गुरुदेव को जब पहली बार समयसार हाथ में आया तब ही अनुभव हो गया था।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, तभी अनुभव हो गया।

मुमुक्षु:- हम लोग बार-बार पढ़ते हैं, फिर भी अनुभव नहीं होता है उसका अर्थ क्या हुआ?

पूज्य भाईश्री:- उसका मतलब यह है कि वो जो काम करके आये थे वो काम हमने नहीं किया। एक काम आगे का बाकी है। आगे का काम हम छोड़ देते हैं, पीछे का काम पहले करते हैं तो क्रम विपर्यास होता है। रोटी बनाना है तो उसको बेलण घुमाये बिना आटे को तवा पर लगा देने से रोटी बन जायेगी क्या? कैसे बनेगी?

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- प्रश्न इतना है कि पहचान करने के लिये प्रत्यक्ष परिचय चाहिये। लेकिन ऐसा नहीं है कि जिसको प्रत्यक्ष मिले उसको पहचान हो ही जाती है। वहाँ तो (सोनगढ़ में तो) पिछले तीस-तीस साल से बैठे थे। वे तो 2002 में आये थे। उस वक्त तो तीस साल नहीं हुये थे। दस-बार साल हुये थे गुरुदेव को वहाँ पधारने में। दस साल वाले को पहचान नहीं हुयी और (इनको) दस घंटे भी नहीं हुआ थे। एक ही घंटे में पहचान लिया। पहले घंटे में पहचान लिया, दूसरा घंटा भी नहीं। योग्यता का सवाल है। (यहाँ) इसकी तो चर्चा करेंगे। इसी बात की ही चर्चा करनी है कृपालुदेव को, इसीलिये यह बात कर रहे हैं।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- उसमें क्या है कि पहले तो गुरुदेव के विषय में इतना ख्याल नहीं पड़ता था। अब हम गुरुदेव के विषय में चर्चा करते हैं इसीलिये ठीक, चलो ज्यादा विश्वास आता है। उसमें क्या होता है? दो बात अलग-अलग है। विश्वास आना एक बात है, पहचान होना दूसरी बात है। विश्वास आने में बौद्धिक स्तर से हमको लगता है कि ये ज्ञानी है। और पहचान होने में feeling stage से हमको लगता है कि ये ज्ञानी है।

मुमुक्षु:- पहले तो बौद्धिक स्तर पर आकर, बाद में गहराई में जायेगा।

पूज्य भाईश्री:- बौद्धिक स्तर पर तो हम लोग आ गये, अब गहराई में जाईये। बौद्धिक स्तर से जो समाधान होता है हर बात का, कोई भी प्रश्न हम गुरुदेव को पूछते थे, अभी भी गुरुदेव की चर्चा करते हैं कि ये कोई प्रश्न उठा तो हम कहेंगे कि देखो, गुरुदेव ने ऐसा उत्तर दिया है। इस जगह इस प्रवचन में, इस शास्त्र की इस गाथा के प्रवचन में वह बात उन्होंने की है। देखो, गुरुदेव से स्पष्टीकरण आ गया है। हमको विश्वास आता है। तो विश्वास आना बौद्धिक स्तर में एक बात है और पहचान होना वह दूसरी बात है।

देखो, सोना है, हम विश्वास करके सोनी से सोना लेते हैं न, बौद्धिक स्तर पर? इसका घाट है, colour है, देखने वाला है, कौन है, कैसा है, क्या है, सब बौद्धिक स्तर से हम कर लेते हैं। विश्वास करके पैसा दे देते हैं। देखो, िक पचास हजार का जेवर लिया, आभूषण लिया, ये ले लो पचास हजार रुपया आपका। तो इतनी सी चीज का हम पचास हजार रुपया हम दे देते हैं। देते हैं िक नहीं देते हैं? दस तोले का एक आभूषण है, पचास हजार दे देंगे। लेकिन हमको सोने की पहचान है क्या? वह तो जो कसौटी पर घिसकर पहचानते हैं उनको ही सोने की पहचान है। हम सोने को सोना जानते हैं, विश्वास भी करते हैं लेकिन पहचानते नहीं है। पहचान की चीज ही अलग है।

मुमुक्षु:- यदि हम परख किये बिना सोना लेते हैं और यदि कोई दूसरा ऐसा कहे कि इसमें तो आपको झूठ बोला गया है। तो हमारे परिणाम विचलित हो जाते हैं। यह क्या साबित करता है?

पूज्य भाईश्री:- यह साबित करता है कि बिना पहचान वाले की परिस्थिति चल-विचल/विचलित हो ही जायेगी। कभी भी बिगड़ सकती है। जैसे हम पचास हजार देकर लाये। फिर हमारे दूसरे कोई समधी आये, जो सोने की पहचान वाले हैं, उनको बतायेंगे कि अरे, अच्छा हुआ आप आ गये। आज हमने पचास हजार की यह चीज ली है। बताईये, बात तो बराबर है? हमने तो विश्वास करके लिया है। वह जेब में से कसौटी निकालकर मुँह बिगाड़ देगा। क्यों मुँह बिगाड़ा? देखिये, माफ करिये, मेरा नाम मत देना। मैंने बताया ऐसा मत बोलना। लेकिन इसमें गड़बड़ है। आप तो जानते नहीं, आपके परिणाम विचलित हो जायेंगे, शंका हो जायेगी कि इस आदमी ने हमारे साथ धोखा कर दिया। ऐसे बिना पहचान, हमको कहीं भी ज्ञानी में अविश्वास आ जायेगा।

अच्छा है, गुरुदेव के साथ ऐसा कोई व्यवहार का प्रसंग किसी को नहीं था, लेकिन गुरुदेव ने कभी अपने ऊपर गुस्सा कर लिया हो और वह भी कोई हमारा कसूर न हो फिर भी गुस्सा कर लिया हो तो? (ऐसा लगेगा कि) ऐसे ज्ञानी होते हैं? अन्याय करते हैं। हमारा कोई कसूर नहीं था, हम बिल्कुल निर्दोष थे, फिर भी हमारे ऊपर आरोप लगाकर हमको ऐसा बोल दिया, गुस्सा कर दिया। ऐसे ज्ञानी होते हैं? शंका हो ही जायेगी। ज्ञानी तो शांत होते हैं। ज्ञानी गुस्सा करते हैं कि ज्ञानी शांत होते हैं? कैसे ज्ञानी को पहचानेगे? गुस्सा करे वह ज्ञानी नहीं। चलो (कर ली) शंका, अन्याय करे वह ज्ञानी नहीं। न्याय, नीति तो होती है कि नहीं होती है? सज्जन को भी होती है, ज्ञानी को तो होती ही होती है। यह गड़बड़ होने वाली ही है। पहचान नहीं है तो विश्वास, अविश्वास में कब पलटेगा (उसका ठिकाना नहीं रहेगा)।

जैसे गुरुदेव ने कुछ ऐसा समझाया और दूसरे कोई विद्वान ऐसा भी हो, वह ऐसा कहे कि गुरुदेव ने ऐसा समझाया ऐसा नहीं है, लेकिन ऐसा है। और उनकी दलील कोई ठोस लगी अपने को, और कितनो को लगती भी है। सही बात है, गुरुदेव की

बात से तो ये बात बराबर है। गुरुदेव में विश्वास था वह कहाँ चला गया? चला गया कि नहीं चला गया? क्यों चला गया? क्योंकि हमें पहचान नहीं थी। ये सब बात होने वाली है, पहचान नहीं है तो। तो जो विश्वास है उस विश्वास के भरोसे में रहकर विश्वास के विश्वास में रहना नहीं है।

मुमुक्षु:- ज्ञान में विश्वास आये वह पहचान नहीं है? ज्ञान में पक्का विश्वास आये कि अहो, यह अद्भुत वचन है! तो वह पहचान नहीं है?

पूज्य भाईश्री:- वह बौद्धिक स्तर का है। वह level बौद्धिक level है।

मुमुक्षु:- अन्दर से प्रतीति आये तो?

पूज्य भाईश्री:- अन्दर से प्रतीति किस आधार से आयी? इसका आधार क्या है?

मुमुक्षु:- अनुभव साक्षी देता है कि यह बात यथार्थ है।

पूज्य भाईश्री:- अनुभव की बात अलग हो गयी। अनुभव साक्षी दे तो पहचान हो गयी, तो विश्वास की बात नहीं रही। अनुभव feeling stage का विषय है।

मुमुक्षु:- गुरुदेव का बाह्य देह नहीं है, परन्तु उनका अक्षरदेह तो मौजूद है।

पूज्य भाईश्री:- उनका शब्ददेह तो मौजूद है। परन्तु पहचान होने में अनादि मिथ्यादृष्टि को शब्ददेह से काम होता नहीं। प्रत्यक्ष चाहिये। वह तो बहिनश्री ने अच्छा उत्तर दे दिया है कि इससे नहीं होता। ना बोला। बहुत पूछा, घुमा-फिराकर वह प्रश्न पूछा। हाँ भरी नहीं। नहीं, नहीं, ऐसे नहीं होता है, ऐसे पहचान नहीं होती, हो नहीं सकता।

मुमुक्षु:- ज्ञानी की पहचान होने के पूर्व जो यथार्थ प्रतीति आती है उसमें मुमुक्षुजीव का किस प्रकार का परिणमन होता है कि जिस कारण से वह यथार्थ प्रतीति आती है? उसके अन्दर ऐसा कैसा फेरफार होता है कि जिस कारण से उसे अन्दर में यथार्थ प्रतीति होती है?

पूज्य भाईश्री:- उसमें क्या है कि उसको जो विश्वास आता है, अंतर से कोई असमाधान की गुत्थीयाँ है उसका परिवर्तन समाधान से होकर वह हल्का सा हो जाता है और भविष्य में ऐसा असमाधान उसको अन्दर में से आयेगा भी नहीं। तब तो विश्वास का stage यथार्थ है। इसके पहले ऊपर-ऊपर का विश्वास है वह भी गड़बड़ वाली चीज है। विश्वास में भी दो स्तर है। ऐसा होता है वह भी आगे बढ़कर अपनी योग्यता को बढ़ाकर पहचान करेगा, अनुभव से मिलान करके। वह बात तो कहेंगे। उसकी तो चर्चा करेंगे कि वह कैसे अनुभव से मिलान करता है। अनुभव से मिलान करना इतनी बात हो गयी, लेकिन अनुभव से कैसे मिलान करता है? कि स्वयं प्रयोग करता है तो उसमें अनुभव से मिलान होता है। प्रयोग नहीं करता है उसको अनुभव का मिलान होता नहीं है। वह चर्चा करेंगे।

मुमुक्षु:- प्रयोग करके मिलान करने के लिये भी पात्रता चाहिये।

पूज्य भाईश्री:- पात्रता चाहिये। पात्रता बिना तो कोई प्रयोग का पुरुषार्थ नहीं कर सकता क्योंकि प्रयोग में पुरुषार्थ चाहिये। प्रयोग विचारदशा से (आगे की चीज है)। विचारदशा अपुरुषार्थ से होती है। पुरुषार्थ उल्टा चले और विचारदशा हो सकती है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है और पुरुषार्थ उल्टा चलता हो। मैं ज्ञायक हूँ, लेकिन पुरुषार्थ उल्टा चलता हो। यह हो सकता है विचारदशा में, विकल्प चल सकता है। प्रयोग में ऐसा नहीं चलता है। प्रयोग में पुरुषार्थ जुड़ता है, तब प्रयोग होता है। उनको पहचान होती है, वह बात करेगे।

जरा विस्तार से लेने योग्य विषय है। यहाँ से आगे लेंगे कि यह दैहिक चेष्टा का विषय नहीं है, अंतरात्मगुण है और वह अंतरात्मगुण बाह्य जीवों का अनुभव का विषय नहीं है। क्योंकि उसको प्रयोग नहीं है और अनुमान कर सके ऐसी योग्यता जब तक नहीं है, ऐसा बहुभाग जीव को संस्कार यानि योग्यता नहीं है तो वह पहचान कर सकता नहीं है।

'कोई जीव...' कोई जीव पहचान कर सकता है। बहुभाग जीव पहचान नहीं कर सकता है। कोई जीव योग्यता वाला है तो पहचान कर सकता है। वह कोई जीव कैसा होता है? उसकी चर्चा यहाँ चलेगी, वह करेंगे। यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन-12, पत्रांक-674 (2)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-674। पत्र का विषय है ज्ञानीपुरुष की पहचान अभी तक क्यों नहीं हुयी? और ज्ञानीपुरुष की पहचान होती है तो किस प्रकार की योग्यता में यह पहचान होती है, यह पत्र का विषय है। यह विषय प्रयोजनभूत इसीलिये है कि मुमुक्षुजीव को मोक्षमार्ग की प्राप्ति में मूल कारण यह है। मूल का भी बीजभूत कारण यह है। ऐसे तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति में स्वरूप की पहचान मूल कारण है। लेकिन स्वरूप की पहचान का मूल कारण सत्पुरुष की पहचान है।

मुमुक्षुजीव दूसरा कोई धर्मसाधन करे या नहीं करे, वह प्रयोजनभूत नहीं है। उसने समयसार पढ़ा कि नहीं पढ़ा, प्रयोजनभूत नहीं है। या फलाना कोई ग्रन्थ पढ़ा कि नहीं पढ़ा वह प्रयोजनभूत नहीं है। जिन मन्दिर गया कि नहीं गया, भगवान का दर्शन सुबह-सुबह किया कि नहीं किया, वह प्रयोजनभूत नहीं है। व्रतादि, उपवास किया कि नहीं किया, दया-दान किया कि नहीं, सम्मेदिशखर की यात्रा किया की नहीं किया, कोई प्रयोजनभूत नहीं है। प्रयोजनभूत यह है कि उसने सत्पुरुष की पहचान किया या नहीं किया। वह सब कर चूके हैं हम लोग। हमने शास्त्र भी पढ़े, व्रतादि भी करे, पूजा-भक्ति भी किया और कर रहे हैं। ये सब तो हम कर भी रहे हैं और यात्रा आदि भी समय-समय पर करते हैं। दया-दान भी करते हैं समय-समय पर। फिर भी मोक्षमार्ग की प्राप्ति नहीं है। और सत्पुरुष की पहचान हुयी तो guaranteed मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है। इसीलिये ये प्रयोजनभूत कारण है। यानि मोक्षमार्ग का अंगभूत कारण है। इसका एक अंग है, एक अवयव है ऐसा कहा जाये वह बिल्कुल समुचित है।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष मिले फिर भी पहचान नहीं की।

पूज्य भाईश्री:- अनन्तबार मिले। अभी अभी तो मिला, इस भव में तो मिला, ऐसे अनन्तबार मिला है। एक बार भी पहचान नहीं किया।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष की पहचान होने के लिये मुमुक्षु में कौन-कौन से factor होना जरूरी है?

पूज्य भाईश्री:- यही विषय अभी चलेगा। प्रस्तुत विषय यहाँ पर आया है कि बहुभाग जीवों को तो अपना अनुभव का विषय नहीं है और अनुमान कर सके ऐसी योग्यता नहीं है इसीलिये नहीं पहचानते हैं। क्योंकि बाह्य दृष्टि है। कुछ एक जीव, यहाँ से लेना है, कौन पहचानता है? कि कोई एक जीव, 'कोई जीव सत्समागम के योग से,...' पहली बात यह लिया कि उनको सत्पुरुष का प्रत्यक्ष समागम होना जरूरी है, नंबर एक और सत्समागम में भी इसका योग होना जरूरी है।

मुमुक्षु:- संयोग का योग रूप होना?

पूज्य भाईश्री:- समागम भी एक संयोग है और इस संयोग में भी योग होना एक अलग बात है। कोई जीव को प्रत्यक्ष सत्पुरुष का संयोग मिलता है, समागम मिलता है और उनके प्रति उनका योग यानि अपनी भावना से उपयोग जुड़ता है। किस प्रकार की भावना से उपयोग जुड़ता है? कि आत्मकल्याण की भावना से उपयोग जुड़ता है, इसको कहते हैं योग।

संसार की किसी भी प्रकार की कामना के वश नहीं या आत्मकल्याण को छोड़कर कोई दूसरी अपेक्षा रखकर नहीं। जो जीव सत्पुरुष के सत्समागम में आत्मकल्याण की भावना से आता है उसको समागम का योग प्राप्त हुआ ऐसा कह सकते हैं। वरना सत्समागम तो मिला लेकिन अयोग हुआ है, योग नहीं हुआ है किन्तु अयोग हुआ है। एक गाथा भी लिखी है कृपालुदेव ने, 'विषय कषाय सहित जे रह्या मितना योग' मित यानि बुद्धि। जिसकी बुद्धि में कोई न कोई विषय कषाय सहित की मिलनता रहती है, 'परिणामनी विषमता...' उसका परिणाम विषम है। सत्समागम के लिये सुयोग्य परिणाम नहीं है, अयोग्य परिणाम है, विषम परिणाम है। विषम कहो या अयोग्य कहो, एक ही बात है। ऐसे योग से कोई सत्समागम करता है तो उसको योग कहते हैं, वरना अयोग कहते हैं। तो अभी तक पहचान नहीं हुयी उसका एक कारण

यह हुआ कि कुछ न कुछ हमको दूसरी कामना रही है। आत्मकल्याण की 'मोक्ख कामेण' मोक्ष की कामना को छोड़कर, दूसरी कामना से हमने सत्समागम किया है।

मुमुक्षु:- दूसरी कामना में कौन-कौन सी बातें होती है?

पूज्य भाईश्री:- दूसरी कामना में मुख्य रूप से तो जीव को अनुकूलता की प्राप्ति हो और प्रतिकूलता का वियोग हो। अनुकूलताओं का संयोग हो और प्रतिकूलता का वियोग हो। एक अनुकूलता में पाँचों इन्द्रियों का विषय आ जाता है। एक अनुकूलता शब्द में पाँचों इन्द्रियों के इष्ट विषय और पाँचों इन्द्रियों के अनिष्ट विषय का वियोग की भावना-ये सब बात उसमें आ जाती है। ऐसे भाव लेकर, ऐसा अभिप्राय लेकर सत्समागम हुआ है तो वह सत्समागम सफल नहीं हुआ।

'कोई जीव सत्समागम के योग से, सहज शुभकर्म के उदय से,...' सहज शुभकर्म के उदय में, ऐसा योग होना भी बहुत महत् पुण्य का उदय है। संसार में जीव अनन्तबार जमीनदार हुआ, श्रीमंत हुआ, राजा हुआ, prime minister हुआ यानि लक्ष्मी मिली, सत्ता मिली और आगे बढ़कर अनन्तबार देवलोक का देव भी हुआ। सब कुछ मिल चुका है। वह साधारण सांसारिक पुण्य है। यह पुण्य कैसा है? सामान्य पुण्य है। लेकिन सत्पुरुष का सत्समागम रूप योग होना ये एक अलौकिक विशिष्ट प्रकार काखास प्रकार का-विलक्षण प्रकार का शुभकर्म का उदय है। और वह भी शुभकर्म का उदय उसको तब कहा जायेगा जब वह आत्मकल्याण की भावना से उस समामग में रहता हो तो। वरना वह शुभकर्म उसके लिये शुभकर्म है ऐसा कहना मुश्किल है, कठिन है।

मुमुक्षु:- सत्संग में किस तरह कुसंग होता है? पंचेन्द्रिय के विषय का सत्संग में कैसे पोषण होता है?

पूज्य भाईश्री:- ऐसा है कि जीव सत्संग में उपस्थित रहता है तो आत्मकल्याण की भावना से ही रहता है, इसकी प्रमाणिकता को-ईमानदारी को check करना जरूरी है। कि शुद्ध अंतःकरण से आत्मकल्याण के सिवाय कोई भी हमारी इच्छा, कोई

आशा, कोई अपेक्षा बिल्कुल नहीं है, ये बात अपने को भीतर में अपनी आत्मा को टटोलकर, पूरी-पूरी check कर लेनी चाहिये।

संसार में दो कषाय की मुख्यता ऐसे प्रसंगों में रह सकती है-एक लोभ और एक मान। अनुकूलता की प्राप्ति, प्रतिकूलता का वियोग ये लोभ है, लोभ कषाय है। और जिस समाज में मेरा आना-जाना है उसमें मेरा कोई स्थान है, ये मान है। स्थान का मान है। कुछ भी कल्पना किया है कि मेरा भी कोई स्थान है। और ये दोनों के कारण से सहज माया के परिणाम होना संभवित है, सहज हो जायेगा। और धर्म का क्षेत्र है, क्रोध करने की जरूरत नहीं है फिर भी अपनी इच्छा के अनुकूल नहीं बनेगा तो क्रोध भी करेगा। लेकिन वह कम जीवों को होता है, इसका कम अवसर है। लेकिन मान और लोभ, दो की अपेक्षा सत्समागम में भी रहे तो आत्मकल्याण की भावना का खून हो गया। खून तो जो विद्यमान होता है इसका होता है, लेकिन विद्यमान ही नहीं है उसका खून भी क्या कहे? जो भावना पैदा ही नहीं हुयी उसका खून भी क्या हुआ?

(यहाँ कहते हैं कि) 'सहज शुभकर्म के उदय से, तथारूप कुछ संस्कार प्राप्त करके...' तथारूप यानि कुछ योग्यता विशेष प्राप्त करके, आत्मकल्याण की भावना से कुछ पात्रता में आने से 'ज्ञानी या वीतराग को यथाशक्ति...' यानि जितनी योग्यता है उतना 'पहचान सकता है।' ये first stage में प्रवेश है, पहले stage में आता है तो क्या होता है? कि सत्समागम के योग में कई प्रकार के पूर्वग्रहीत विपरीत संस्कार को निकालने के लिये, मिटाने के लिये उनको असमाधान जो भी होता है उस असमाधान का उसको वहाँ समाधान प्राप्त होता है।

असमाधान का विषय भी दो प्रकार का है, उसमें भी दो भेद है। एक तो ऊपर-ऊपर से असमाधान होता है और उसका ऊपर-ऊपर से समाधान मिल जाता है तो फिर वहीं का वहीं प्रश्न खड़ा हो जाता है। हमने देखा है कि बहुभाग मुमुक्षुओं को पुराना प्रश्न मिटता नहीं है। वो का वो प्रश्न फिर-फिर से सामने आता है। तो उसको समाधान उस वक्त बौद्धिक स्तर पर तो लगता है कि हमको जो उत्तर मिला, ठीक लगता है। अन्दर से उस बात का समाधान नहीं हुआ है तो फिर वह प्रश्न सामने आ जाता है, ऐसा होता है। तो उसको तो यथाशक्ति भी पहचान नहीं है। उसको ये बात

लागू नहीं पड़ती है, यथाशिक्त पहचान वाली। लेकिन जिसको अंतरंग से कुछ प्रयोजनभूत विषय में असमाधान वर्तता हो उसका समाधान मिलने से अंतरंग में उसको ऐसा समाधान मिल जाता है कि फिर से उसको इस प्रकार का असमाधान उत्पन्न ही नहीं हो। तब ऐसे मुमुक्षु को अन्दर से विश्वास आता है कि मेरी उलझन थी बहुत काल की, यहाँ मिटी, लगता है कि कुछ दम है बात में। आगे बढ़ने के लिये विश्वास करने योग्य है, सत्संग करने योग्य है ऐसा उनको विश्वास आता है। अभी वास्तविक पहचान नहीं आयी।

मुमुक्षु:- ...वह सीधा feeling stage में आता है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, जो दो प्रकार के समाधान है उसमें भी एक बात-एक अपेक्षा-एक पहलू ऐसा है कि बौद्धिक स्तर से समाधान होना एक बात है और अनुभव के स्तर से समाधान होना-, feeling, to feel, लगना, वह समाधान होना दूसरी बात है। जो अप्रयोजनभूत विषय में प्रश्न कर-कर के ऊपर-ऊपर का समाधान करता है उसको तो वास्तव में अप्रयोजनभूत विषय में अपने परिणाम और अपनी रुचि लगती है तो उसको तो स्वलक्ष नहीं है और आत्मरुचि भी नहीं है। तो उसका समाधान, असमाधान का कोई ठिकाना नहीं है। अब बात रही प्रयोजनभूत विषय की, उसमें भी दो प्रकार है-एक बौद्धिक स्तर का और एक अनुभव के स्तर का। अनुभव को छोड़कर जो केवल बौद्धिक स्तर से असमाधान को समाधान कर लेते हैं, उसका भी समाधान ऊपर-ऊपर का रहता है। उसमें कोई गहराई नहीं है, उसका उंड़ान नहीं है। और जो कोई अपने परिणमन के साथ समाधान-असमाधान को मेल खाता है कि नहीं खाता है, परिणमन के साथ जो मिंढवणी (मिलान) करता है, ये थोड़ी गुरुदेव की भाषा है। मिंढवणी करे, अपने अनुभव के साथ मिंढवणी करता हो। हिन्दी में उसका (मिंढवणी का) कोई खास शब्द नहीं है। मिलान करना appropriate नहीं है। तुलना करना कुछ ठीक है। अनुभव से तुलनात्मक परीक्षा करता हो वह ठीक बात है।

मिंढवणी का दृष्टान्त दूँ? कि दो चीज एक समान लगती हो। लेकिन एक सही हो, असली हो (और) एक उस पर से बनाई हुयी हो, लेकिन वैसी की वैसी दिखती हो। तो पास में रखकर उसका मिलान करे, तुलना करे उसे मिंढवे ऐसा कहते है, क्या?

बराबर ऐसा ही बना है कि नहीं बना है? इसी प्रकार से जो अंतरंग से असमाधान हो, अपना परिणमन चलता हो उसके साथ उसको मिंढवे-उसकी तुलना करे-मिलान करे कि मेरे साथ मेल खाता है कि नहीं खाता है। और उसमें उसका असमाधान छूट जाये, अंतरंग से समाधान हो जाये तो उसे सत्पुरुष में विश्वास आयेगा। ये विश्वास है उसमें उसकी योग्यता बढ़ती है, इस विश्वास में उसका दर्शनमोह मन्द होता है। सबसे बड़ा काम होता है तो उसका दर्शनमोह मन्द होता है। यह प्रथम चरण है-सत्पुरुष की पहचान का यह प्रथम कदम है-प्रथम चरण है।

अब यहाँ से आगे बढ़कर 'तथापि सच्ची पहचान तो...' ये वास्तविक पहचान नहीं है, विश्वास आया वो भी। उसमें कभी बदल जाने का अवकाश है, गड़बड़ होने का अवकाश है, यदि आगे नहीं बढ़ा तो। 'सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुता के प्रगट होने पर,..' दृढ़ मुमुक्षुता किसको कहते हैं? 254 पत्र में जाना पड़ेगा अपने को, coordination करने के लिये। कि जिसको मोक्ष के सिवाय आत्मकल्याण के सिवाय कोई भी कामना नहीं है, उसी को ही मुमुक्षुता या दृढ़ मुमुक्षुता होती है। दृढ़ मोक्षेच्छा। मोक्षेच्छा नहीं, दृढ़ मोक्षेच्छा। ऊपर-ऊपर की मोक्षोच्छा तो सब कहेंगे। जितने मुमुक्षु है वह कहेंगे, हमको तो मोक्ष चाहिये। हमको तो मोक्ष चाहिये लेकिन मुफत में।

गुरुदेव एक दृष्टान्त (देते थे)। मजाक का, थोड़ी joke जैसी बात है, लेकिन बहुत मार्मिक बात है। एक साधु था। दुकान-दुकान पर भीख माँगता है। उसकी जो हुंडी होती है, अपने क्या कहते हैं भीख माँगने की? तुंबडी...तुंबडी, तुंबडी में भीख माँगता है। हर दुकान में जाकर कहता है कि कुछ दे दो। हलवाई की दुकान पर गया तो उसने एक मुट्ठी भर के भुजिया रख दिया। बगल में सोने की दुकान थी। तो उसने (हलवाई ने) तो मुट्ठी भर के भुजिया दे दिया, गाठीया दे दिया, सोनी की दुकान पर आया और कहा कि तुम भी मुट्ठी भर के सोना दे दो हमको। उसने भुजिया दिया क्योंकि वह भुजिया का व्यापार करता है, तुम सोने का व्यापार करते हो तो मुट्ठी भर के सोना दे दो। ऐसे यह चीज मिलने वाली नहीं है। सोना-बोना कोई मुट्ठी भरकर बाबा की तुंबडी में दे दे, वह बात नहीं होती है।

ऐसे यह (जीव) भी बाबा (साधु) है। संसार में भीख माँगता है। दुकान पर जाता है, व्यापार करता है तो क्या है? पैसों की भीख माँगता है। अब मन्दिर में आया तो मोक्ष की भीख माँगेगा, तुम भी दे दो हमको मुफत में। वहाँ तो जितनी लगन से व्यापार करता है, जितनी सावधानी से करता है उतनी सावधानी से यहाँ सत्समागम नहीं करता है। तो जीव को मुफत में चाहिये।

जगत का सर्वोत्कृष्ट पद मोक्ष है। ऐसे ही ऊँचाई में भी तीन लोक के शिखर पर है। द्रव्य से भी ऊपर है और भाव से भी ऊपर है। पूर्ण सुख-सुख का पूर्ण भाव, ज्ञान का पूर्ण भाव, पूर्ण ज्ञान का भाव। ऐसा पद लेने के लिये हमारी तैयारी कितनी? हमको unconditional surrender होना है तो मिल सकता है। ऐसी कोई चीज मिलती हो तो हमारे लिये कोई condition नहीं है। हम सर्व प्रकार से तैयार है। उतनी तैयारी होनी चाहिये। डॉक्टर मृत्यु से बचाये तो उसको पूरा charge देता है कि नहीं देता है? Bypass operation का आजकल दो-तीन लाख लग जाता है, heart surgery करते हैं न? और foreign में बीस-पच्चीस लाख लग जाता है। फिर भी guarantee नहीं है। Operation करने के बाद दूसरे दिन जा (मर) सकता है। यहाँ तो अभिप्राय की तैयारी चाहिये, लेना-देना कुछ नहीं है। लेना-देना कुछ नहीं है यहाँ तो। अभिप्राय की तैयारी चाहिये कि हमारी पूरी तैयारी है। किसी भी कीमत पर हमें हमारा आत्मकल्याम कर लेना है। इसके लिये हमें कोई बहानाबाजी नहीं करनी है। ये कारण से ऐसा हुआ और वो कारण से ऐसा हुआ, वह कुछ नहीं चलता।

मुमुक्षु:- पूर्व में जिस-जिस विषय में तीव्र रस लिया है उसे छोड़ने का प्रयास करेंगे तो धीरे-धीरे ही चालू होगा। जोर से तो कैसे होगा? यदि ऐसा विचार करे तो?

पूज्य भाईश्री:- उसको पूर्ण नहीं होना है। जिसको पूर्ण नहीं होना है, उसका ध्येय है वह गलत है। धीरे-धीरे काम करेंगे, क्या करें? धीरे-धीरे होगा। उसको करना ही नहीं है। जिसको करना है वो जोर से प्रवेश करता है।

मुमुक्षु:- 128 नंबर के पत्र में वह बात ली है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, 128 नंबर के पत्र में वो बात लिया है, पॉराग्राफ लिया है। चाहे कुछ भी हो जाये...225 पृष्ठ है। पहला पॉराग्राफ है। 'चाहे जो हो, चाहे जितने दुःख सहो, चाहे जितने पिरषह सहन करो, चाहे जितने उपसर्ग सहन करो, चाहे जितनी व्याधियाँ सहन करो, चाहे जितनी उपाधियाँ आ पड़ो, चाहे जितनी आधियाँ आ पड़ो, चाहे तो जीवनकाल एक समय मात्र हो, और दुर्निमित्त हो,..' अनुकूलता कुछ भी न हो, 'परंतु ऐसा करना ही। तब तक हे जीव! छुटकारा नहीं है।' इस प्रकार के भाव में आये बिना दृढ़ मुमुक्षुता नहीं है-दृढ़ मोक्षेच्छा नहीं है।

प्रश्न तो वो पूछने का विचार आया था कि पूरे संसार को आग लगाने की तेरी तैयारी है क्या? कि जलकर खाख हो जायेगा, तुम अकेले रह जाओगे। कोई नहीं, परिवार के कोई नहीं, घर नहीं, मकान नहीं, आश्रय नहीं, कुछ नहीं। (ऐसी) एक कल्पना कर लो कि प्रलय हो गया। कोई मनुष्य नहीं दिखता है, कोई प्राणी नहीं दिखता है। पानी.. पानी.. पानी. बीच में एक खड़क पर अकेला है। कोई आधार नहीं है, संयोग का आधार सब छूट गया। अब महसूस होता है कि मेरे आत्मा को मेरा आधार है? मेरा आधार मैं ही हूँ। मैं एक संसार का अविनाशी तत्त्व हूँ, मुझे कुछ होने वाला नहीं है। पूरे संसार को जोर से एक ऐसी लात लगा दे कि मुझे मेरे आत्मकल्याण के सिवाय कुछ चाहिये नहीं। संसार का कुछ भी हो जाये, हो जाये तो हो जाने दो, कुछ भी हो जाये तो हो जाने दो। इतना तो सँभालना कि नहीं? उतना तो सँभालना कि नहीं?...

(यहाँ) प्रथम बात वह ली है, क्रम से लिया है। हाँ, यह पहला क्रम है कि 'सच्ची पहचान तो दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होने पर,..' यदि दृढ़ मोक्षेच्छा नहीं है तो पहचान की योग्यता नहीं है। बौद्धिक स्तर पर मानेंगे कि हमारे गुरुदेव थे। ज्ञानीपुरुष थे, महाज्ञानी थे, (परन्तु) पहचान नहीं होगी। आज उनकी बात को हाँ करेगा, कल उनकी बात को ना करेगा। या एक बात की हाँ करेगा, दूसरी बात की ना करेगा। ये बात आये बिना नहीं रहेगी।

'दृढ़ मुमुक्षुता प्रगट होने पर, तथारूप सत्समागम से प्राप्त हुये उपदेश का अवधारण करने पर...' तथारूप यानि ज्ञानीपुरुष का, दूसरे का नहीं। प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष

का सत्समागम से जो उपदेश प्राप्त हुआ, उस उपदेश का अम्लीकरण करने का जिसने शुरू कर दिया हो, उसको उपदेश का अवधारण किया (ऐसा कहने में आता है)। वरना तो जीव उपदेश सुनता है एक कान से, दूसरे कान से निकाल देता है। और उपदेश सुनता है बैठकर, खड़ा होता है तो वहाँ के वहाँ जैसे धूल को झटक देते है, उपदेश के शब्द की रज को झटक देगा। वह वहाँ की वहाँ बात रह जायेगी। अन्दर में नहीं आयेगी।

मुमुक्षु:- इतने साल ऐसा ही किया?

पूज्य भाईश्री:- थोड़ी तलाश कर लेना, तलाश करने जैसी चीज है कि क्या हमारी दृढ़ मोक्षेच्छा थी कि नहीं थी? और जो उपदेश हमको मिलता था, उसका हम अम्लीकरण करने लगते थे कि नहीं लगते थे? या सुनने से संतोष मानते थे? बहुभाग क्या होता है? बहुत अच्छा व्याख्यान (था), गुरुदेव का व्याख्यान बहुत बढ़िया, अरे..! इतना सूक्ष्म व्याख्यान, आज तो इतना सूक्ष्म था, इतना सूक्ष्म था। उसमें क्या लगे? कि देखो, हम भी सूक्ष्मता को पकड़ते हैं। अपना दिखाव करता है कि आज मैंने व्याख्यान सुना, उसकी सूक्ष्मता मैंने पकड़ी वह बताने के लिये मैं क्या कहूँगा? आज बहुत सूक्ष्म आया, हाँ? बहुत सूक्ष्म था आज, इतना सूक्ष्म था गुरुदेव का व्याख्यान... ओहो..! अहो..! वह ओहो..हो...! करने में स्वयं का दिखाव करने की बात है। जीव के अपलक्षण का भी पार नहीं है, ऐसी बात है। ये सब अनुभवगगोचर-अनुभवसिद्ध बाते है।

यहाँ तो (ऐसा कहना है कि) प्राप्त उपदेश (यानि) गुरुदेव के या ज्ञानी के वचनों में बहुत सी बातें आती है, उस उपदेश का अवधारण कौन करता है? कि जिस जीव को अपने प्रयोजन पर दृष्टि होती है और अपना प्रयोजन पकड़ में आता है कि ये बात मेरे लिये आयी। सौ बात में से एक बात मेरे काम की आ गयी बराबर। बाकी तो अलग-अलग योग्यता वाले को अलग-अलग माल मिलता है, मेरे काम की बात, मेरी योग्यता में वह बात बराबर लागू होती है। और वह बात मेरे को अंगीकार कर लेना है। उस बात को वह अवधारण कर लेता है, अमल में ले लेता है। तो जहाँ उसकी अटक है वह निकल जाती है, वो आगे बढ़ सकता है।

जिसको अभिप्राय पूर्वक अम्लीकरण करने का प्रयास नहीं हो, पहले ये अभिप्राय होना चाहिये कि हमको अमल करना है और उसका प्रयास चलना चाहिये। वो जिसको नहीं है, उसको सिर्फ सुनकर कर्णेन्द्रिय के विषय का पोषण करना है, और कुछ नहीं। सुनकर राजी हो गया। बहुत प्रसन्नता आ गयी, बात पूरी हो गयी। परन्तु ये मनोरंजन का बिल्कुल विषय नहीं है। हम मनोरंजन के लिये यहाँ नहीं आते। जगत में मनोरंजन के बहुत स्थान है, वहाँ चले जाना।

'तथारूप सत्समागम से प्राप्त हुये उपदेश का अवधारण करने पर...' ऐसा अम्लीकरण करने वाले की योग्यता में उसका मितज्ञान और निर्मल हो जाता है। तो वो निर्मलता के कारण से अपने प्रयोजन वाली बात को पकड़कर अमल में लेता है और निर्मलता उसकी बढ़ती है। अब आगे उसको जो ज्ञानी की पहचान करने का प्रयोजन है वो भी पकड़ने की योग्यता में वह आ जायेगा।

फिर से, विषय का अनुसंधान कैसे है? कि जो मुमुक्षु ज्ञानी के अनेक वचनों में से अपने को लागू होने वाली बात को पकड़कर अपना प्रयोजन को ठीक करता है और आगे बढ़ता जाता है, अम्लीकरण करके। उसको उतनी निर्मलता आयी है कि प्रयोजन की तो पकड़ बहुत अच्छी है। और जब उसको प्रयोजन की पकड़ है तो ज्ञानी का परिणमन को देखने का जो उसका प्रयोजन है उसकी पकड़ में वह आ जायेगा, इसकी योग्यता में वह आ जायेगा। ऐसा प्रयोजन के साथ इसका अनुसंधान है।

फिर से, ये बहुत महत्त्वपूर्ण मुद्दा है। मुमुक्षु की भूमिका में आगे नहीं बढ़ने का कारण यही है, नास्ति से ले ले तो स्पष्ट करने के लिये, िक अपना प्रयोजन की पकड़ नहीं है िक मेरा प्रयोजन कहाँ है? ये प्रयोजन की दृष्टि सूक्ष्म और तीक्ष्ण नहीं होती है तो आगे बढ़ने का या मुमुक्षुता में विकास होने का कोई chance नहीं है, कोई अवसर नहीं आयेगा। इसीलिये जिसको प्रयोजन का दृष्टिकोण है वो अम्लीकरण में आयेगा, अपने प्रयोजन की बात को अंगीकार करके। और वही प्रयोजन की दृष्टि आगे बढ़कर ज्ञानीपुरुष की पहचान तक चली जायेगी, वह इसके प्रयोजन का विषय है। इसीलिये प्रयोजन की दृष्टि के साथ इसका अनुसंधान है। और ये प्रयोजन की दृष्टि की बात करने के लिये कृपालुदेव ने इतनी बात लिखी कि 'तथारूप सत्समागम से प्राप्त…'

तथारूप यानि अपनी योग्यता के प्रयोजन की बात, 'उपदेश का अवधारण करने पर...'

'अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होने पर...' तीसरा मुद्दा लिया। योग्यता में तीन बात ली है। क्रम से दृढ़ मोक्षेच्छा पहली होनी चाहिये, दृढ़ मोक्षेच्छा बिना अम्लीकरण का stage भी आना मुश्किल है। प्रयोजन की दृष्टि होना भी मुश्किल है, नामुमकीन है, शक्य ही नहीं है। जिसको पूर्णता का लक्ष्य नहीं है उसको प्रयोजन का दृष्टिकोण तीक्ष्ण, सूक्ष्म नहीं है। प्रयोजन की दृष्टि साध्य करने के लिये दृढ़ मोक्षेच्छा होना पहले जरूरी है। इसके बिना प्रयोजन की दृष्टि नहीं है। और प्रयोजन की दृष्टि नहीं है तो प्राप्त उपदेश को अवधारण करने का, अमल करने का प्रयास होगा भी नहीं। ये दो बात होने पर भी एक तीसरी बात है।

'अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होने पर...' अंतर्मुख होने की वृत्ति हो। हर जगह से उपयोग को सिमटकर अन्दर में ले जाना है। तो जहाँ-जहाँ उपयोग बाहर जाता है उसका उसको निषेध आयेगा। कोई भी प्रसंग हो उसका, उपयोग बाहर जाने का कोई भी प्रसंग हो।

मुमुक्षु:- मात्र निषेध होगा कि निषेध के साथ और भी factors मौजूद होते हैं?

पूज्य भाईश्री:- उसमें अस्ति-नास्ति से कुछ बात ऐसी है कि नास्ति से क्या बात है? कि बहिरात्मवृत्ति है उसका अभाव होने पर। शब्द तो वो पड़ा है, अस्तिवाला कि 'अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होने पर...' तो उसकी नास्ति क्या है? कि बहिरात्मवृत्ति का अभाव होने पर। बहिरात्मवृत्ति यानि क्या? कि आत्मा से, अंतरात्मा से-अपने स्वरूप से-अंतर स्वभाव से जो भी बाह्य है, उस बाह्य विषय में अपनी वृत्ति में रुचि नहीं है।

समर्थ दृष्टान्त ले लेंगे तो नीचे की बात सब आ जायेगी। जैसे कि हम शास्त्र पढ़ते हैं। शास्त्र स्वाध्याय करते हैं मुख्य रूप से। तो हमारा क्षयोपशमज्ञान बढ़ता है। कई प्रकार की बातें हमारे सामने आती है। क्षयोपशमज्ञान जो बढ़ता है, बाह्य ज्ञान बढ़ता है उसकी रुचि हो गयी उसको अन्तरात्मवृत्ति का परिणमन नहीं है। उसको जोर प्रवचन-12,

से इसका निषेध आना चाहिये कि नहीं, मुझे क्षयोपशमज्ञान नहीं बढ़ाना है। और क्षयोपशमज्ञान बढ़ाने के लिये न मुझे कोई शास्त्र पढ़ना है, न मुझे कोई सत्संग भी करना है। यह हुआ ज्ञान का परिणमन।

और दूसरा होता है, चारित्र का परिणमन (यानि) बाहर में बाहर की सावधानी। मुमुक्षु के योग्य बाह्य क्रिया कुछ त्याग की, कुछ ग्रहण की, कुछ लेना, कुछ नहीं लेना, कुछ वो करना, कुछ वो करना, उस time में वो करना, उस time में वो करना। ये जो बाह्य क्रियायें है उसकी महिमा छूट जानी चाहिये। तो बहिरात्मवृत्ति छूटेगी। बहिरात्मवृत्ति के साथ इसका सम्बन्ध है, उसका वजन रहा तो। और वही क्रिया अन्तरात्मवृत्ति से होती है तो उस पर वजन नहीं रहता है। तो वह उनके लिये अनुकूल है। क्रिया तो क्रिया है, बाह्य क्रिया तो बाह्य क्रिया है, परिणाम दो प्रकार के होते हैं जीव के। एक बहिरात्मवृत्ति वाला परिणाम, एक अन्तरात्मवृत्ति वाला परिणाम।

मुमुक्षु:- इन दोनों में भेद कैसे छाँटे?

पूज्य भाईश्री:- वजन कहाँ है? पकड़ कहाँ है? उस पर उसका भेद छाँटा जाता है। कि हमारी क्रिया पर पकड़ है या हमारे परिणाम पर पकड़ है हमारी? परिणाम अन्दर की चीज है, क्रिया बाहर की चीज है। जो परिणाम को गौण करता है या नहीं देखता है वो बाहर की क्रिया की पकड़ करेगा। उनके लिये ज्ञानी की पहचान होना मुश्किल है। और जिसको अपनी बाह्य क्रिया पर वजन है, उसका मूल्य है, उनको भटकने का अवसर इसीलिये है कि दूसरे की वो बाह्य क्रिया देखकर उनकी महिमा करने लगेगा कि वो ज्ञानी है, वो कोई विशिष्ट है, उनका आदर-सत्कार करना चाहिये।

हमारे यहाँ ऐसा बना था, एक मुमुक्षु थे। वो दिन में एक ही बार खाना खाते थे और पानी पीते थे। चौबीस घंटे में मुनि की तरह, मुमुक्षु होने पर भी। जबिक इनको मानते थे पंचम गुणस्थान, अपने मुमुक्षु लोग। अपने दूसरे मुमुक्षु लोग जो इनका अनुसरण करते थे, वो लोग इन्हें पंचम गुणस्थानवर्ती मानते थे। देखो भाई, सारे चौबीस घंटे में एक बार खाना खाते हैं और पानी भी उसी वक्त एक बार लेते हैं। चौबीस घंटे में न खाना, न पीना, कुछ नहीं। ये जो बाह्य त्याग पर वजन है उसको

बहिरात्मवृत्ति है। वो आत्मा के अंतर में से प्रगट होने वाले गुण को पहचान सकेगा नहीं या ज्ञानीपुरुष को नहीं पहचानेगा। क्योंकि ज्ञानी होते हैं वो अविरित होते हैं। उसको विरित की महिमा आ गयी। पंचम गुणस्थान में ऐसा हो सकता है, लेकिन आत्मा के गुण प्रगट होने के बाद की बात है। सहज वृत्ति जिसकी, विकल्प जिसका छूट जाता हो, वह अलग बात है।

इस प्रकार से 'अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होने पर...' यानि आत्मा के श्रद्धा, ज्ञान जो अन्दर के गुण है, स्वभाव के गुण है, जिसकी दृष्टि अनन्त शांति के पिंड पर है उसको हमें देखना है। वो क्या खाता है, पीता है, बोलता है, चलता है, क्या उसका उदय है, उदय में क्या चलता है वह कुछ देखना नहीं है। दृष्टि उनकी अनन्त शांति का पिंड जो अपना आत्मा है उसके उपर है कि नहीं? (इतना देखना है)।

मुमुक्षु:- अर्थात् बाह्य उदय को नहीं देखना है। बाह्य क्रिया को नहीं देखनी है।

पूज्य भाईश्री:- नहीं देखना है। गुरुदेव एक संस्कृत का श्लोक बोलते थे ऐसे विषय में। 'बालानाम् पश्यन्ति लिंगाः' लिंग यानि चिह्न। बाह्य चिह्न कौन देखते हैं? 'बालानाम्' जो बालक बुद्धि वाले होते हैं। उसको ज्ञानी क्या कहते हैं? वह बालबुद्धि जीव है। वह त्याग को देखेगा कि उसने कितना छोड़ा? उसका दिखाव त्यागी का है कि नहीं है? जो तत्त्वदृष्टि जीव होता है वह सामने वाले की दृष्टि को देखेगा कि इसकी दृष्टि कहाँ पड़ी है? घुम-फिरकर बात कहाँ आती है? आत्मस्वरूप पर बात आती है कि नहीं आती है? या उसके सर्व कथन का केन्द्रस्थान आत्मस्वरूप और आत्मकल्याण है कि नहीं है? वह देखने की दृष्टि होनी चाहिये। और अन्दर में अपने आत्मस्वभाव के अंतर के गुण प्रगट होने का अभिप्राय होना चाहिये। उसको कहते हैं 'अन्तरात्मवृत्ति परिणमित होने पर...' अभिप्राय होना चाहिये कि मेरे अंतर का गुण मुझे प्रगट करना है। आत्मस्वभाव में से मुझे गुण प्रगट करना है, अंतर्मुख होकर मेरे गुण प्रगट करने की बात है। ऐसे अभिप्राय से 'जीव ज्ञानी या वीतराग को पहचान सकता है।' ऐसा जीव ही ज्ञानी और वीतराग को पहचान सकता है। ऐसी योग्यता के बिना कोई ज्ञानी और वीतराग को पहचान सकता है। है।

मुमुक्षु:- यहाँ ज्ञानी और वीतराग को अलग-अलग क्यों लिया है?

पूज्य भाईश्री:- ऐसा है, कल थोड़ी चर्चा चल गयी थी कि वीतराग जिनेन्द्र सर्वज्ञ परमात्मा है उसमें तो शंका करने की कोई गुँजाइश नहीं है। क्योंकि विषय कषाय की कोई प्रवृत्ति सर्वज्ञ वीतराग को नहीं होती। ज्ञानी तो अटपटी दशा में है, उनको तो कई प्रकार के विषय कषाय के उदय होते हैं। तो ज्ञानी को तो नहीं पहचान सके, लेकिन वीतराग को तो पहचान सके न? क्योंकि उनमें तो कोई शंका करने का स्थान नहीं है। वह तो बिल्कुल केवली परमात्मा है, वीतराग हो गये हैं। तो उनको भी हमने नहीं पहचाना है। समवसरण में गये लेकिन हमने पहचाना नहीं है। इसीलिये दोनों बात ले लिया, ज्ञानी और वीतराग दोनों को पहचानने की बात ले लिया है।

मुमुक्षु:- जो ज्ञानी को पहचान सकता है वही वीतराग को पहचान सकता है।

पूज्य भाईश्री:- वही वीतराग को पहचान सकता है। जो ज्ञानी को नहीं पहचान सकते, वो वीतराग को भी नहीं पहचान सकते। उस विषय में एक 504 नंबर का पत्र है। पृष्ठ संख्या-413 है। 'किसी प्रगट कारण का अवलंबन लेकर, विचारकर, परोक्ष चले आते हुये सर्वज्ञपुरुष को मात्र सम्यग्दृष्टि रूप से भी पहचान लिया जाये तो उसका महान फल है; और यदि वैसे न हो तो सर्वज्ञ को सर्वज्ञ कहने का कोई आत्मा संबंधी फल नहीं है, ऐसा अनुभव में आता है।' वह परोक्ष की बात ली। अब प्रत्यक्ष (की बात करते हैं)। 'प्रत्यक्ष सर्वज्ञपुरुष को भी यदि किसी कारण से, विचार से, अवलंबन से, सम्यग्दृष्टि रूप से भी न जाना हो तो उसका आत्मप्रत्ययी फल नहीं है। परमार्थ से उसकी सेवा-असेवा से जीव को कोई जाति ()-भेद नहीं होता।' अंतर नहीं है, फर्क नहीं है। 'इसीलिये उसे कुछ सफल कारण रूप से ज्ञानीपुरुष ने स्वीकार नहीं किया है, ऐसा मालूम होता है।' सर्वज्ञ को भी सम्यग्दृष्टि रूप से आपने पहचाना? ऐसा कहते हैं।

सम्यग्दृष्टि, मुनि और सर्वज्ञ में common factor क्या है? सम्यग्दर्शन। केवलज्ञान common factor नहीं है। क्योंकि दो को नहीं है, एक को है। वीतरागता नीचे (के गुणस्थान में) नहीं दिखने में आती है। सम्यग्दर्शन common है तो पहचान

तो सम्यग्दर्शन से होती है ऐसा कहते हैं। वीतरागता से नहीं होती है। वीतरागता पहचान में आयेगी नहीं, वह तो बहुत सूक्ष्म परिणाम है।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु तो जो ज्ञानी है, ज्ञानी के सम्यक्त्व की पहचान करता है।

पूज्य भाईश्री:- मुनि में भी सम्यक्त्व की पहचान करता है और भगवान में भी सम्यक्त्व की पहचान करता है, ऐसा कहने का अभिप्राय है। क्योंकि दूसरे परिणाम तो बहुत सूक्ष्म है। उसे समझने के लिये योग्यता मुमुक्षु में नहीं होती। शुक्लध्यान का परिणाम कहाँ से पहचानेगा मुमुक्षु? भगवान को तो तेरहवें गुणस्थान में शुक्लध्यान वर्तता है। बहुत सूक्ष्म है वह तो।

मुमुक्षु:- सम्यक्त्व की पहचान में क्या होता है?

पूज्य भाईश्री:- वह एक बहुत गहरा विषय है। कभी-कभी इसकी चर्चा करना योग्य है और उसको छेड़ना योग्य है, तभी वो बात निकल सकती है।

सम्यक्तव यानि क्या? बहुत पहलू से इसका विचार करने योग्य है। कुछ अंतर के परिणामों से उसका मिलान करने योग्य है और उसकी पहचान करने योग्य है। वह बहुत अलग subject है, थोड़ा सूक्ष्म भी है, फिर भी उहापोह करने लायक है। वह बात छेड़ने लायक है।

इस तरह से ज्ञानी को कौन पहचान सकता है? ऐसा जो प्रश्न हमारे यहाँ बार-बार उठता है इसका उत्तर ठीक ये 674 पत्र में कृपालुदेव ने दिया है। जगतवासी जीव को पहचान नहीं होती है इसका क्या कारण है? उसकी logic से बात की है, वह अगले स्वाध्याय में लेंगे। यहाँ तक रखते हैं।



प्रवचन-13, पत्रांक-674 (3)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र 674 चल रहा है। किस प्रकार की योग्यता वाला जीव ज्ञानी या वीतराग को पहचान सकता है, यह बात चली। उस पर थोड़ा और स्पष्टीकरण देते हैं। 'जगतवासी अर्थात् जो जगत दृष्टि जीव हैं,..' जगतवासी यानि जो जगत दृष्टि जीव है अर्थात् जिसकी लौकिक दृष्टि है ऐसे जीव। 'उसकी दृष्टि से ज्ञानी या वीतराग की सच्ची पहचान कहाँ से हो?' वो तो ज्ञानी को पहचान नहीं सकेंगे क्योंकि उनकी दृष्टि ही दूसरी तरह (अलग जाति) की है।

दृष्टान्त देते हैं कि 'जिस तरह अंधकार में पड़े हुये पदार्थ को मनुष्य चक्षु देख नहीं सकते, उसी तरह देह में रहे हुये ज्ञानी या वीतराग को जगत दृष्टि जीव पहचान नहीं सकता।' अधंकार में चीज़ पड़ी है तो दिखती नहीं, उसके लिये प्रकाश चाहिये। चक्षु है, चीज भी है लेकिन प्रकाश के बिना दिखती नहीं है। उसी तरह, जीव को ज्ञान भी है और सामने ज्ञानी भी है, लेकिन देखने का प्रकाश नहीं है। जो प्रकाश होना चाहिये (अर्थात्) जो दृष्टिकोण होना चाहिये वह नहीं है।

'जैसे अंधकार में पड़े हुये पदार्थ को मनुष्य चक्षु से देखने के लिये किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा रहती है,...' प्रकाश के बिना देख नहीं सकते 'वैसे जगत दृष्टि जीव को ज्ञानी या वीतराग की पहचान के लिये विशेष शुभ संस्कार और सत्समागम की अपेक्षा होना योग्य है।' यह उनके लिये प्रकाश है। सत्समागम से मालूम पड़ सकता है कि ज्ञानी कैसे होते हैं और वह भी तब ही मालूम पड़ सकता है कि जब ऐसी कुछ योग्यता आती है तब। और उस योग्यता का (यहाँ पर) वर्णन किया है कि दृढ़ मुमुक्षुता होने पर, सत्समागम से प्राप्त हुये उपदेश का अवधारण करने पर, और अंतरात्मवृत्ति का परिणमन होने पर-ये सब संस्कार की बात चली।

'यदि वह योग प्राप्त न हो तो जैसे अंधकार में रहा हुआ पदार्थ और अंधकार दोनों एकाकार भासित होते हैं,..' अंधकार और पदार्थ में कोई अंतर दिखाई नहीं देता,

प्रवचन-13,

एकाकार भासित होता है। 'भेद भासित नहीं होता, वैसे तथारूप योग के बिना ज्ञानी या वीतराग और अन्य संसारी जीवों की एकाकारता भासित होती है;..' जैसे जगत के अन्य जीव दिखते हैं, वैसे ही ज्ञानी दिखते हैं। कोई अंतर नहीं दिखता। ज्ञानी भी सामान्य मनुष्य जैसे ही दिखते हैं। सत्समागम का योग हो और पहचानने की कुछ योग्यता हो तब ही वह अंतर मालूम पड़ता है। 'देहादि चेष्टा से प्रायः भेद भासित नहीं होता।' शरीर, वस्त्र, खाना-पीना, रहन-सहन सब सामान्य मनुष्य जैसा होता है।

मुमुक्षु:- खाना-पीना, रहन-सहन उसमें कोई अंतर नहीं होता?

पूज्य भाईश्री:- एक ही रसोई घर में सबका खाना बनता है। दूसरे घर वाले जो खाना खाते हैं वही वे खाते हैं। उनके लिये क्या कोई special item बनती होगी क्या?

मुमुक्षु:- किसी प्रकार की सादगी नहीं होती?

पूज्य भाईश्री:- हो तो हो, न भी हो। कोई जरूरी नहीं है। ये तो कहा न चक्रवर्ती का आहार कैसा होता है? चक्रवर्ती का आहार ऐसा होता है कि जिसमें हीरे की भस्म होती है, मोती की भस्म होती है। उसमें बहुत कीमती-कीमती वस्तुएँ होती है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- भोजन पर से मालूम नहीं पड़ता कि ज्ञानी हो वह इतनी रोटी खाता है और अज्ञानी हो वह इतनी रोटी खाता है। ऐसा कुछ होता है? ऐसा कुछ नहीं है। खीचड़ी में घी नहीं लेते, ऐसा कुछ होता है? ऐसा कुछ नहीं है।

उसका कारण है कि बाह्य संयोग ज्ञानी-अज्ञानी के एक समान होने का कारण है। कि अज्ञानदशा में बाँधे हुये कर्मों का उदय ज्ञानदशा में आता है। और दूसरे संसारी जीवों को भी अज्ञानदशा में बाँधे हुये कर्मों का उदय ही आता है। तो दोनों को-ज्ञानी को और अज्ञानी को कर्म का उदय तो अज्ञानदशा में बाँधे हुये जो कर्म है उसका ही आयेगा। इसीलिये समान उदय होगा, उदय में कोई अंतर नहीं होगा। अब, उदय में कोई अंतर नहीं होता है तो उदय से कैसे समझोगे? उदय से कुछ नहीं समझ में आयेगा।

उनका लक्ष्य समझना, उनकी वृत्ति समझना, उनकी नीरसता समझना वह तो उनके अन्दर के परिणाम पकड़ में आये तब होगा न? अन्दर के परिणाम पकड़ने की शक्ति हो ऐसे जीव को मालूम पड़ेगा न? दूसरों को कैसे मालूम पड़ेगा?

मुमुक्षु:- जैसे कि हम मुमुक्षु है तो मुमुक्षु क्या करता है कि मैं मुमुक्षु हूँ तो मेरा व्यवहार अमुक-अमुक होना चाहिये। मेरी रहन-सहन अमुक-अमुक होना चाहिये अथवा मेरा खाना-पीना अमुक-अमुक होना चाहिये, नहीं तो लोग क्या बोलेंगे? धर्म के लिये क्या समझेंगे? इस प्रकार की यदि भावना चलती हो तो उसमें किस बात का पोषण होता है?

पूज्य भाईश्री:- उसमें लोकसंज्ञा का पोषण होता है।

मुमुक्षु:- इतनी सादगी रखे तो भी?

पूज्य भाईश्री:- वह simplicity (सादगी) रखता है लेकिन किसके अवलम्बन से (रखता है)? कि लोगों के अवलम्बन से, लोगों की दृष्टि का अवलम्बन लिया कि लोग क्या कहेंगे? लोगों के कहने, नहीं कहने से कोई धर्म होता है क्या? लोगों के कहने, नहीं कहने से क्या फर्क कहने, नहीं कहने से क्या फर्क पड़ता है? दूसरों के कहने, नहीं कहने से क्या फर्क पड़ता है? हमारे परिणमन से हमारा लाभ-नुकसान है। दूसरों के कहने से थोड़े ही हमारा लाभ-नुकसान होता है? यह बात है।

मुमुक्षु:- ऐसा भाव रहता हो कि कोई खाने का पदार्थ है, जिसमें जीव की उत्पत्ति होती है, तो भक्षण नहीं करे तो भी चलता है, इसीलिये नहीं करे?

पूज्य भाईश्री:- नहीं करे तो अच्छी बात है।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- जितना भी निर्दोष व्यवहार हो, ऐसा विकल्प सहज रहा करेगा, और इस विकल्प के अनुसार प्रवृति रहती है तो ठीक है। लेकिन इससे कोई ज्ञानी या प्रवचन-13, पत्रांक-674 (3)

अज्ञानी का माप थोड़ी निकलता है, ये तो अज्ञानी भी ऐसा कर सकता है, ज्ञानी भी ऐसा कर सकते है।

मुमुक्षु:- इस पर यदि वजन चला जाता है तो?

पूज्य भाईश्री:- वजन चला जायेगा तो आत्मा ऊपर वजन नही रहेगा।

मुमुक्षु:- पकड़ हो जाये तो?

पूज्य भाईश्री:- पकड़ हो जाये तो आत्मा की पकड़ छूट जायेगी। परपदार्थ की पकड़ में आत्मा की पकड़ छूट जायेगी। दो पकड़ साथ में नही रहती। आत्मा की पकड़ रखनी है या परमाणु या दूसरे जीव के पर्याय की पकड़ रखनी है?

मुमुक्षु:- भाईश्री, suppose हम कोई item नहीं खाते हैं, किसी ने खाना खाने बुलाया और वो item ही बना दिया और हम खाना खाने गये हमको वो चीज मिला नहीं, तो फिर परिणाम बिगड़ने की संभावना रहती है, अगर क्रिया की पकड़ रहेगी तो?

पूज्य भाईश्री:- क्रिया की पकड़ रहेगी तो परिणाम बिगड़ेंगे ही बिगड़ेंगे। और परिणाम की पकड़ होगी तो परिणाम स्वस्थ रखने के लिये जैसा भी हो चला लेंगे सरलता से। सरलता वो है, कि हम ये नहीं कहेंगे कि हमको ये item नहीं चाहिये। तो अगले को परिश्रम बढ़ेगा कि नहीं बढ़ेगा? तो इसमें हमारी सरलता कहाँ रही? कोई भी चीज पुद्गलात्मक है, पुद्गल के परमाणु जो भी थाली में आयें है, उसमें इष्ट-अनिष्ट हम क्यों करते है, क्यों करना चाहिये? पुद्गल ही पुद्गल है सब, थोड़ा पेट में ड़ाल दो, बात खतम। उसमें चिकचिक करने की जरुरत क्या है? ये ठीक है, ये ठीक नहीं है, चलेगा-नहीं चलेगा क्या जरुरत है?

'जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायों से रहित हुये हैं, उन देहधारी महात्मा को त्रिकाल परम भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो!' 'जो देहधारी सर्व अज्ञान और सर्व कषायों से रहित हुये हैं,..' देहधारी होने पर भी, अरिहंत अवस्था में ऐसा होता है। 'उन देहधारी महात्मा को त्रिकाल परम भक्ति से नमस्कार हो! नमस्कार हो! वे प्रवचन-13, पत्रांक-674 (3)

महात्मा जहाँ रहते हैं, उस देह को,..' जहाँ रहते हैं उस 'भूमि को,..' उस 'घर को,..' जहाँ चलते हैं उस 'मार्ग को,..'। अरे.., मार्ग में रही धूल को! उसमें सब बात आती है। उस 'आसन आदि...' यानि जहाँ बैठते हो, जहाँ सोते हो आदि 'सबको नमस्कार हो! नमस्कार हो!' वह (ज्ञानी के प्रति) भक्ति का विषय है।

मुमुक्षु:- जड़ पदार्थ को भी नमस्कार किया।

पूज्य भाईश्री:- जड़ पदार्थ को भी नस्कार किया है।

गुरुदेव तो सम्यग्दर्शन की महिमा इतनी करते थे कि सम्यग्दृष्टि कोई बैल होता है, जो बैलगाड़ी खींचता है न? वह सम्यग्दृष्टि बैल हो उसके पैर के नाखून जिसे गुजराती में खरी कहते हैं, पैर के नाखून को क्या कहते हैं? खरी। यदि (वह) चलते-चलते कोई विष्टा को स्पर्श हो जाये तो वह विष्टा धन्य हो गयी, वे क्या सम्यग्दर्शन की महिमा करते थे। सम्यग्दर्शन की क्या महिमा करते थे, इतनी महिमा करते थे! वह बात अलग है। जिसको वह गुण समझ में आता है कि जिस गुण से जीव के अनन्त संसार का नाश हो जाता है और परमानंद की प्राप्ति में वह अनन्तकाल बिराजमान रहता है। उस गुण का मूल्यांकन कैसे करना? यह सब मूल्यांकन करने की बात है। कैसे-कैसे मूल्यांकन करते थे।

'श्री डुंगर आदि सर्व मुमुक्षुजन को यथायोग्य।' ये 674 पत्र समाप्त हुआ।

(इस प्रवचन में बीच में दस मिनिट विषय के अनुसंधान में प्रश्नोत्तर नहीं हुये होने से लिया नहीं गया है)।



प्रवचन-14, पत्रांक-416 (1)

'ज्ञानीपुरुष की पहचान नहीं होने में मुख्यतः जीव के तीन महान दोष जानते हैं।' ४१६ में से यह पॉराग्राफ 'ज्ञानामृत' में लिया गया है। 'एक तो 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ' इस प्रकार का जो मान जीव को रहा करता है, वह मान।' आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होने पर भी शास्त्रज्ञान से धारण की हुयी बात, समझी हुयी बात और पहले नहीं समझा था और बाद में समझा हूँ, ऐसा प्रकार उत्पन्न होता है इसीलिये उसे ऐसा लगता है कि मैं जानता हूँ और मैं समझता हूँ। परन्तु अनुभव की बात बाकी है इसीलिये अभी मैं कुछ नहीं जानता और समझता नहीं ऐसे लेता नहीं है, उसके बजाय मैं जानता हूँ और मैं भी समझता हूँ, ऐसे प्रकार का जो मान (उसका सेवन करता है)।

मुमुक्षु:- यही सबसे बड़ी भूल है।

पूज्य भाईश्री:- बहुत बड़ी भूल है। यह क्षयोपशम में फँसना है और उसको भी मान कहा है। क्योंकि यह जो क्षयोपशम हुआ, शास्त्र के विषय को जानते हुये, समझते हुये जो क्षयोपशम हुआ-रहा उसमें अहंपना आया है, इसीलिये 'मान' शब्द का प्रयोग किया है।

मुमुक्षु:- जीव का मान के अलावा दूसरा कोई सबसे बड़ा दुश्मन होगा?

पूज्य भाईश्री:- नहीं, मनुष्यगित में यह मान ही (मुख्य है)। 'मान नहीं होता तो मोक्ष हथेली में होता'। यह उनका ही प्रसिद्ध वाक्य है कि 'मान न होता तो मोक्ष हथेली में होता'। बहुत बड़ा दुश्मन है, इसीलिये यहाँ सावधान रहने जैसा है। मुख्य तो मिथ्यात्व को अनुसरण करती-मिथ्यात्व की प्रकृति माया में से आती है परन्तु मान है वह पहले आड़े आता है। फिर मिथ्यात्व जाने का प्रसंग आता है। पहले तो जीव को मान आड़े आता है। ऐसी परिस्थिति है, खासकर मनुष्य भव में।

मुमुक्षु:- ऊँचे से ऊँचा दृष्टान्त बाहुबली भगवान का है।

पूज्य भाईश्री:- वह तो चारित्रमोह का मान था, इसीलिये केवलज्ञान अटका था। वहाँ दर्शनमोह नहीं था, यहाँ तो दर्शनमोह सिहत का जो मान है वह सत्पुरुष की पहचान नहीं होने देता। सत्पुरुष यानि क्या? कोई व्यक्ति की बात नहीं है। सत्पुरुष यानि जिसे सत् प्रगट हुआ है, जिसे सत् प्रगट रूप से वर्तता है। प्रगट सत् को जिसने पहचानने नहीं दिया। व्यक्त सत् है। तो अव्यक्त सत् निजस्वरूप है उसे कैसे पहचानेगा? कोई ऐसा कहे कि मैं दीपक को नहीं देख सकता, परन्तु धुएँ को देख सकता हूँ। ऐसा हो सकता है? वह धुएँ को नहीं देख सकता। जो दीपक को नहीं देख सकता, वह धुएँ को कैसे देख सकेगा? दीपक तो प्रकाशित वस्तु है, धुआँ तो काला है, सूक्ष्म है, क्या देखेंगे?

मुमुक्षु:- आठ मद है उसमें इसे ज्ञान का मद कहेगें?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, ज्ञानमद है।

'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ' इस प्रकार का जो मान जीव को रहा करता है, वह मान।' पहला कारण यह है। दूसरा कारण 'ज्ञानीपुरुष के प्रति राग की अपेक्षा परिग्रहादिक में विशेष राग।' अर्थात् अपने संयोगिक कारणों को लेकर जो ज्ञानीपुरुष को गौण करता है, ज्ञानीपुरुष के समागम को गौण करता है, सत्संग को गौण करता है। ऐसा कारण आ गया न, ऐसा कारण आ गया न, आज तो ऐसा कारण आ गया, आज ऐसा कारण आ गया। उसको सत्संग की, ज्ञानीपुरुष के समागम की महत्ता भासित नहीं हुयी है। इसीलिये विभिन्न कारणों को लेकर, कारण यानि उसका राग तीव्र है उस विषय के कारण, अधिकता भासित होती है इसीलिये वहाँ रुकता है और सत्समागम को टालता है, सत्समागम को गौण कर देता है।

इस प्रकार उसकी अर्पणता भी ले सकते हैं कि उसकी जितनी अर्पणता कुटुम्ब-परिवार और परिग्रहादि में है, ऐसी अर्पणता उसे देव, गुरु, शास्त्र एवं सत्पुरुष के प्रति विशेष अर्पणता आनी चाहिये। उतनी विशेष अर्पणता उसको नहीं आती है, 'ज्ञानीपुरुष के प्रति राग की अपेक्षा परिग्रहादिक में विशेष राग,..' (है)।

'तीसरा, लोकभय के कारण, अपकीर्ति भय के कारण और अपमान भय के कारण ज्ञानी से विमुख रहना,..' यह लोकसंज्ञा में जाता है। लोगों का भय लगे कि बहुत लोग विरुद्ध हो जायेंगे, स्वयं की अपकीर्ति होगी, स्वयं का अपमान होगा ऐसा लगने से जो ज्ञानी से विमुख रहता है, वह भी ज्ञानी को पहचानता नहीं है और उसने भी ज्ञानी को पहचाना नहीं है कि ज्ञानी का स्वरूप क्या है? और उसका आकर्षण जो है वह आत्महित में कितना कार्यकारी है, यह बात उसे समझ में नहीं आयी है। यह प्रकार है।

संप्रदाय में से बहुत लोग छूट नहीं सकते हैं। भिन्न-भिन्न संप्रदाय में होते है न? हमारा संप्रदाय छोड़कर वहाँ आयेंगे तो लोग हमारी बातें करेंगे कि ये तो वहाँ चले गये। अपने बाप-दादा का छोड़कर वहाँ चले गये। इस तरह से कई लोग सत्समागम नहीं करते हैं। कोई संख्या के नाप से नहीं करते हैं कि इतना बड़ा समाज इस ओर है, ज्ञानी को तो इतना बड़ा कोई समाज है नहीं। अपने को कहाँ सब की नजर में विरोध अपना लेना है? (ऐसा सब) क्यों करना? ऐसा भी विचार करते हैं।

मुमुक्षु:- बच्चों का विवाह करने में उपाधि होगी।

पूज्य भाईश्री:- उसका स्वयं का लौकिक स्वार्थ हो तो किसी की शर्म नहीं रखता है। जीव क्या करता है? लौकिक स्वार्थ थोड़ा हो तो भी किसी की शर्म नहीं रखता। लेकिन उसको आत्महित की कीमत समझ में नहीं आयी है, भवभ्रमण नष्ट होने की कीमत समझ में नहीं आयी है इसीलिये वहाँ शर्म आने की बात खड़ी हो जाती है। वास्तव में तो क्या है कि वहाँ भी उसके मान का पोषण होता है। बहुभाग यह बात होती है। जिस समूह से उसको दूर होना है, जो लोग विरुद्ध होने वाले हैं, वह उसको मान देने वाले होते हैं। उसका मान खोना नहीं है और निर्मानी होकर ज्ञानी के चरण में जाना नहीं है। यह प्रकार उत्पन्न होता है इसीलिये भी ये लोकसंज्ञा चालू रहती है।

उनसे 'विमुख रहना, अथवा उनके प्रति जैसा...' अर्थात् जितने प्रमाण में 'विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना।' कोई ऐसा कहते हैं कि हम कहीं विमुख

नहीं होते हैं, हम भी मानते हैं। आप ज्यादा मानते होंगे, हमारा कम दिखता होगा, आपका ज्यादा दिखता होगा, लेकिन हमारे मन में कम बात नहीं है। ऐसा करके भी स्वयं को जितनी विनय पहचानकर आना चाहिये, जो बहुमान आना चाहिये अथवा परम प्रेम से, सर्वार्पणबुद्धि से आना चाहिये वह प्रकार उत्पन्न नहीं होता, तब भी वह स्वयं ठगा जाता है कि नहीं, हम भी मानते हैं। अतः 'उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना।' उसमें क्षति रहती है। विमुख होना वह भी दोष है और विनयान्वित होने में अल्पता होनी वह भी दोष है, इस प्रकार दो बात ली है। यह बात उन्होंने थोड़ी सूक्ष्म की है।

विमुख होता है उसको तो कोई सावधान करता है कि यह विमुखता बराबर नहीं है, ज्ञानी से विमुख नहीं होना चाहिये। तो वह मनुष्य वापस मुड़ सकता है, परन्तु जो मानता है और उसमें क्षित रह जाती है और मानता है, उसको बाहर निकलना मुश्किल पड़ता है। क्योंकि वह तो ऐसे भ्रम में रहता है कि मैं कहाँ विमुख हूँ, मैं कहाँ विरोध करता हूँ, मैं तो मानता हूँ, मैं तो मानता हूँ, मैं तो मानता हूँ। यह बात उन्होंने थोड़ी सूक्ष्म की है और दो-चार जगह पर ऐसी बात उन्होंने ली है, बहुत ध्यान खीँचा है।

(पूर्ण समर्पणता नहीं आती) ऐसा होने का कारण क्या है? उसका कारण क्या है? स्वयं का पिरभ्रमण छूटे ऐसा एकमात्र कारण जो जगत में है वह कारण उसे भासित नहीं हुआ है। अर्थात् स्वयं का हित होने का जो विषय है वह भासित नहीं हुआ है और वह भासित नहीं होने के कारण (पूर्ण समर्पणता नहीं आती है)। अन्यथा तो क्या है कि जीव का ऐसा स्वभाव है कि उसको जितना लाभ दिखे उतना जोर से वह ढ़लता है। कहाँ ढ़लता है? जहाँ जितना लाभ दिखे उतना वहाँ ज्यादा से ज्यादा ढलता है। तो ये तो सर्वोत्कृष्ट लाभ का कारण है, फिर भी वहाँ क्षति रहती है उसका अर्थ है कि उसे जो दिखना चाहिये वह दिखता नहीं है, अभी ओघे-ओघे चलता है।

मुमुक्षु:- लाभ दिखे तो पूरा-पूरा समर्पण आये।

पूज्य भाईश्री:- आये बिना रहे ही नहीं, आये बिना रहे नहीं, क्या?

मुमुक्षु:- करना न पड़े, हो जाये।

पूज्य भाईश्री:- करना नहीं पड़ता, सहज हो ही जाता है। वह तो बहुत बार व्यापारी का दृष्टान्त देते हैं कि आदित्य बिरला, घनश्यामदास तो बेचारे चल बसे न, आदित्य बिरला ऐसा कहे कि मेरी १५०-२०० industry है उसमें से बहुभाग industry की agency आपमें से एक को देनी है। आपको कुछ नहीं करना है, सिर्फ staff लगा देना, आपको commission मिलता रहेगा। लाखो, करोड़ों का सालियाना (वार्षिक) बाँध दे।

मुमुक्षु:- आरती लेकर खड़ा रहेगा।

पूज्य भाईश्री:- उसको भगवान ही दिखेगा या दूसरा कुछ दिखेगा? हमने कुछ कहा नहीं है, अपनी कोई पहचान नहीं है, िकसने ऐसी सिफारिश की होगी? करोड़ो रूपयों का सालियाना यूँ ही आता रहे। पैसे की नदी, रुपये की नदी उसे दिखती है, क्या? फिह वह ऐसा कहे कि मुझे दो-चार दिन वहाँ से निकलना है, आपके यहाँ उहरूँगा। तो उसके लिये कितनी व्यवस्था करेगा? उसका जो खास secretary हो उसको पूछे कि साहब को उनके घर में कैसी-कैसी व्यवस्था है? कैसी-कैसी आदत है? क्या-क्या खाते हैं? क्या नहीं भाता है? क्या भाता है? रहन-सहन से लेकर, घर के वातावरण से लेकर उसकी बारीक से बारीक सब जानकारी इकट्ठी करके सब व्यवस्था बनी रहे उस प्रकार का प्रबंध करे। किस तरह करे? करे कि न करे? उसकी पत्नी को पूछना पड़े तो उसको पूछ ले, उनके secretary से पूछना हो तो उसको पूछ लेगा, उसके नौकरों को पूछना हो तो उनको पूछ लेगा, पाँच-दस लोगों को पूछ लेगा। साहब की कहीं भी प्रतिकूलता भूल से भी नहीं होनी चाहिये। एक भव के, अल्प आयुष्य के शेष काल के लिये इतनी बात है। कितनी? अनन्त भवभ्रमण साफ कर दे उसकी क्या बात होगी? ये तो आयुष्य के चालू भव के बाकी बचे शेष काल की बात है कि और कुछ है?

इसीलिये (यहाँ ऐसा कहते हैं कि) जितना उनके प्रति विनयान्वित होना चाहिये ऐसा न होना। 'ये तीन कारण जीव को ज्ञानी से अनजान रखते हैं;..' ज्ञानी का स्वरूप

कैसा? उनकी परिणति क्या? उस परिणति को समझने से इस आत्मा को लाभ क्या? कि भवभ्रमण छूट जाये। इस विषय से उसको अनजान रखता है। उस विषय से जीव बिल्कुल अनजान होता है।

'ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है;..' (अर्थात् उसको ऐसा लगता है कि) शास्त्र का अर्थ तो हम उनसे भी अच्छा कर सकते हैं, उनसे भी ज्यादा सूक्ष्म बात कर सकते हैं, अभी तो उनकी सब बातें स्थूल आती है, ऐसा है, वैसा है। अपने समान कल्पना करता है। हमको भी उतना तो आता है, ऐसी पूजा, ऐसी भक्ति, ऐसा शास्त्र वांचन, ऐसा अर्थघटन, वह सब में उसे अपने समान कल्पना रहा करती है। बाह्य त्याग हो तो स्वयं भी ऐसा त्याग करता है इत्यादि, क्या?

'अपनी कल्पना के अनुसार ज्ञानी के विचार का, शास्त्र का तोलन किया जाता है;...' उनके कहे हुये शास्त्र का, उनके विचारों की तुलना भी अपने समान करता है। स्वयं की योग्यता अनुसार सब नाप करता है। उसको जिज्ञासा नहीं रहती है। यह तो मुझे भी मालूम है, यह तो मुझे भी मालूम है। मैं भी ऐसा ही कहता था, मैं भी ऐसा ही कहता हूँ, क्या?

'थोड़ा भी ग्रंथ संबंधी वांचनादि...' थोड़ा भी ग्रंथ संबंधी वांचनादि (यानि) पुस्तक-शास्त्र पढ़े (उसका) 'ज्ञान मिलने से...' वर्तमान में तो कितने रहे हैं? अल्प शास्त्र रहे हैं। उसमें से थोड़े पढ़े हो, सब तो पढ़े नहीं हो। 'वांचनादि ज्ञान मिलने से अनेक प्रकार से उसे प्रदर्शित करने की जीव को इच्छा रहा करती है।' अपने पास है उसकी महत्ता दिखाने के लिये उसमें से मानों स्वयं नयी-नयी बातें निकालता हो, ऐसा बहुत प्रदर्शन करने की उसे इच्छा रहा करती है।

मुमुक्षु:- वर्तमान परिस्थिति का सौ साल पहले कैसे ख्याल आया होगा?

पूज्य भाईश्री:- सर्व काल में ऐसा सब होता ही है। अज्ञानियों के ये लक्षण ज्ञानियों के ख्याल में आ जाते है और अज्ञानी किस काल में नहीं है? विद्वान अज्ञानी जो होते हैं, जो शास्त्र पढ़कर गड़बड़ करते हैं, शास्त्र की धारणा से जो अहंभाव में आ गये होते हैं, वह सर्व काल में होते ही है।

मुमुक्षु:- २५ वर्ष की आयु में इतना सब...

पूज्य भाईश्री:- उपयोग बहुत सूक्ष्म है न। अनुभवज्ञान किसको कहे? बहुत सूक्ष्म बातें की है। इसमें क्या है कि आत्मार्थी जीव हो और वह यदि स्वलक्ष से स्वाध्याय करता हो तो वह अपने आपमें देखता है कि इसमें मैं कहाँ हूँ? कहीं मैं अटका तो नहीं हूँ न? इसमें से कहीं भी मैं अटकता नहीं हूँ न? ऐसा खोजकर निकाल देता है। इसीलिये कहने का कारण यह होता है कि कभी स्वयं को ध्यान में न आये ऐसी बात सत्पुरुष के वचन पर से ध्यान में आ जाती है और वह छोड़ देता है।

'इत्यादि दोष उपर्युक्त तीन दोषों में समा जाते हैं,..' बाद में जो बात कही न कि ज्ञानी से अनजान रखता है, ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है, उसकी तुलना अपनी कल्पनानुसार करता है, स्वयं का क्षयोपशम दर्शाने की इच्छा रहा करती है, ये सब दोष भी उपर्युक्त तीन दोषों में से 'मैं समझता हूँ' उसमें सब आ जाता है।

'और इन तीनों दोषों का उपादान कारण...' अब इन तीनों दोषों का बाप कौन है? कहाँ से उनका जन्म हुआ? 'इन तीनों दोषों का उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नाम का महादोष है;..' यह स्वच्छंद है, क्या? इस प्रकार से करता है उसे स्वच्छंद का महादोष कहा है तो जो ज्ञानी का अवर्णवाद बोले, ज्ञानी के विषय में दोषारोपण करे वह तो कितना स्वच्छंद होगा? वह तो स्वच्छंद हाथ से निकल गया हो तब वह प्रकार उत्पन्न होता है।

'और इन तीनों दोषों का उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नाम का महादोष है; और उसका निमित्त कारण...' उपादान स्वयं का 'निमित्त कारण असत्संग है।' उसका जो संग है वह खोटा (खराब lenge क्या) है। खोटे (खराब?) संग में रहे हुये जीव को ऐसा प्रकार बनता है और कहाँ का कहाँ परिभ्रमण के बवंडर में चढ़ जाता है कि जिसका अनन्तकाल पर्यंत पता नहीं लगता। (प्रवचन अंश)।



प्रवचन-15, पत्रांक-416 (2)

(श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र-४१६) चल रहा है। पृष्ठ-३५७, फिर से लेते हैं। आगे से यह बात ली है कि ज्ञानीपुरुषों का संग दुर्लभ होने पर भी अनंतकाल में अनेक बार ऐसा योग बना है। ऐसा योग बनने पर भी 'ये ज्ञानीपुरुष ही है, सत्पुरुष ही है' ऐसी पहचान पूर्वक, उनका आश्रय ग्रहण करना और आश्रय ग्रहण करना वही मुमुक्षु का कर्तव्य है, ऐसा जीव को पहचान पूर्वक आया नहीं, ऐसा कहते हैं। आश्रय किया है ओघसंज्ञा से, पहचान पूर्वक आश्रय नहीं किया है। और वही जीव को पिरभ्रमण का कारण हुआ है। पिरभ्रमण जो चालू रहा है उसका कारण यह है। योग नहीं हुआ है ऐसा नहीं, आश्रय नहीं किया है ऐसा भी नहीं है, परन्तु पहचान नहीं की वह पिरभ्रमण का कारण खड़ा रहा है, नाश नहीं हुआ है। ऐसा हमें दृढ़ता पूर्वक लगता है, निश्चित ही हमें ऐसा लगता है कि यह एक ही कारण है। यह एक कारण यदि न रहा होता तो पिरभ्रमण का नाश हुआ होता। अतः सब बात पहचान पर आकर खड़ी रहती है। तो वह पहचान जीव को क्यों नहीं होती है? योग होता है फिर भी पहचान क्यों नहीं होती है? प्रत्यक्ष समागम तो मिलता है। उसके तीन कारण है, वह इस पॉराग्राफ में लिये हैं।

'ज्ञानीपुरुष की पहचान नहीं होने में मुख्यतः जीव के तीन महान दोष जानते हैं।' फिर बाकी सब दोष उसके अन्दर आ जाते हैं, उसके बाद उत्पन्न होते हैं, मूल दोष यह है। 'एक तो 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ' कुछ शास्त्र संबंधी जानकारी होने से, कुछ अपेक्षाएँ और विवक्षाएँ समझ में आने से 'मैं भी जानता हूँ, मैं भी समझता हूँ' इस प्रकार का जीव को मान कहो, अभिमान कहो (रहा करता है), वह प्रकार स्वच्छंद का है, वह प्रकार रह जाता है। किसी को स्थूलरूप से, किसी को सूक्ष्मरूप से। वह, ज्ञानीपुरुष के वचन में रहा हुआ जो रहस्य, उस रहस्य तक उसे पहुँचने नहीं देता है। वहाँ वह अटका हुआ है, वह प्रतिबंधक भाव है।

दूसरा लोभ लिया है। 'दूसरा, ज्ञानीपुरुष के प्रति राग की अपेक्षा परिग्रहादिक में विशेष राग।' ज्ञानीपुरुष के प्रति जो सर्वार्पणबुद्धि आनी चाहिये उसके बदले ऊपर-ऊपर से कुछ राग आता है। सर्वार्पणबुद्धि से आश्रय होना चाहिये, ऐसा नहीं होकर ऊपर-ऊपर का थोड़ा राग आता है और जीव अनुसरता है, वह भी स्वयं का मन माने तब तक अनुसरण करता है, स्वयं का मन न माने वहाँ वह अनुसरण करता नहीं है। वह भी ज्ञानीपुरुष के अंतरंग परिणाम को पहचाने, उसको ऐसा नहीं होता है। उनके प्रति वास्तविक बहुमान आये तब ऐसा नहीं होता है। इस प्रकार में जीव खड़ा है। वही मुख्य हो और अपने सर्व उदय गौण हो, ऐसा प्रकार (पहचान होने पर) उत्पन्न होता है। यह प्रकार नहीं हुआ इसीलिये वह भी प्रतिबंधक कारण है।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष मुख्य हो तो अपने जो उदय है वह गौण हो जाये।

पूज्य भाईश्री:- वह सब गौण हो जाते है। उसमें कुछ भी चलता है, इतनी उपेक्षावृत्ति हो जाती है। एक सत्पुरुष का संग करने में, आश्रय करने में इतनी सावधानी आती है, इतनी तत्परता आती है, इतना आकर्षण होता है कि अन्य सभी जगह से उसकी उपेक्षावृत्ति सहज हो जाती है।

मुमुक्षु:- सर्वभाव से अर्पणता आये।

पूज्य भाईश्री:- ६०९ (पत्र में) उसको सर्वार्पणबुद्धि कही है। सोगानीजी के पत्र में ले तो 'सर्वस्व के देने वाले श्री गुरुदेव', क्या कहा? 'सर्वस्व के देने वाले' कहा। उन्होंने मुझे सर्वस्व दे दिया तो उनके प्रति कैसी बुद्धि आती है? ऐसी बुद्धि-उपकारबुद्धि किसी के प्रति नहीं आती। अनन्त जन्म-मरण से बचाने वाले परमात्मा के स्थान पर, अनन्त तीर्थंकर से अधिक देखे हैं, गुरुदेव को तो। यह प्रकार उत्पन्न होता है। ऐसा प्रकार न आये तब तक उसे परिग्रहादिक यानि अपने उदय के प्रति उसको विशेष आकर्षण रहता है। उस ओर का राग और रागरस तीव्र रहता है, इस ओर जितना चाहिये उतनी मात्रा में ढ़लता नहीं है, वह भी जीव को प्रतिबंध का कारण है। किसमें प्रतिबंध का कारण है? उनकी पहचान होने में प्रतिबंध का कारण है। पहचान होने में

प्रतिबंध का कारण होने से, परिभ्रमण का कारण जो मिटना चाहिये वह नहीं मिटने की परिस्थिति चालू रह जाती है।

'तीसरा, लोकभय के कारण, अपकीर्ति भय के कारण और अपमान भय के कारण ज्ञानी से विमुख रहना,..' चाहे जैसी परिस्थित में भी ज्ञानी के प्रति बहुमान की वृत्ति छूटे नहीं ऐसी अनन्य भक्ति सत्पुरुष के प्रति होती है, तब उसे ज्ञानी की सच्ची पहचान होती है। अपनी मुख्यता कम हो, अपना अपमान हो, अपनी अपकीर्ति हो ऐसा प्रकार उत्पन्न होने पर उसे मुख्य करे और ज्ञानी के समागम को गौण करे, सत्संग को गौण करे और 'उनके प्रति जैसा विनयान्वित होना चाहिये वैसा न होना।' जो बहुमान में आकर, जो सर्वार्पणबुद्धि से विनयान्वित होना चाहिये उतना विनयान्वितपना न आये, परन्तु थोड़ा-थोड़ा ऊपर-ऊपर से आये। 'ये तीन कारण जीव को ज्ञानी से अनजान रखते हैं;..' (अर्थात्) उनकी पहचान नहीं होने देते, ये तीन कारण है।

मुमुक्षु:- सोभागभाई ने जो उत्तर दिया कि अपक्षपात रूप से सत्संग का सेवन करे और फिर सत्पुरुष मिले तो पहचान ले। उस बात का किस प्रकार से अनुसंधान है?...

पूज्य भाईश्री:- ये तीनों दोष हैं वह, अपक्षपातबुद्धि हो तो अपने दोष मालूम पड़ जाते है। अपने दोष मालूम नहीं पड़ते हैं उसका कारण क्या है? कि स्वच्छंद के कारण दोष को गौण करता है। दोष को जाँचना, दोष को देखना यह प्रकार जो मुमुक्षु की भूमिका में सहज होता है, वह उसको नहीं रहा। इसीलिये दोष को इस तरह गौण कर लेता है, अवगणना करता है कि उसको दिखते ही नहीं है कि मेरे में दोष है। इसीलिये उसको दोष का पक्षपात कहा। जो दोष का पक्षपात करता है वह ज्ञानीपुरुष को नहीं पहचानेगा। अपने दोष का पक्षपात नहीं करते, अन्य किसी के भी दोष का पक्षपात नहीं करते। जिसे आत्मिक गुण प्रगट करने हैं, उसे इस प्रथम सीढ़ी पर, दोष में खड़ा है उसे यह परिस्थिति अनिवार्य रूप से आती है। क्योंकि वहाँ वह खड़ा है। वही भूमिका साफ करने की परिस्थित उत्पन्न न हो, तो किसी को सीधे गुण प्रगट हो जाये, दोष की गंदगी हो और उसमें कोई सुगंध मिलाये, उसे सुगंध उत्पन्न हो ऐसा

तो बनता नहीं। वह खा जाती है। दूसरी सब बातों को वर्तमान परिस्थित खा जाती है, चबा जाती है, ऐसी स्थित (होती है)। अन्यथा अध्यात्म की बात कहाँ नहीं मिलती है? ऊँचे से ऊँचे कोटि की अध्यात्म की बात मिलने पर भी जीव को गुण क्यों प्रगट नहीं होता? कि अविधि से वह कार्य करना चाहता है, वह विधि से कार्य करना नहीं चाहता है। अतः उन्होंने यह सब विधि ली है।

मुमुक्षु:- कोई एक बात में सब बात आ जाती है।

पूज्य भाइश्री:- हाँ, सब आ जाती है। क्योंकि ये तो तीनों दोष है। तो अपक्षपातरूप से-निष्पक्ष होकर अपने दोष देखता हो, क्योंकि ये सब स्वच्छंद में आते हैं, नीचे कहा न, ये तो स्वच्छंद नाम का महादोष है, तो वहाँ स्वच्छंद दबता है। स्वयं के दोष का अभाव करने के दृष्टिकोण से दोष को जाँचता है, देखता है, उसका स्वच्छंद दबता है। जहाँ स्वच्छंद दबता है वहाँ बोधबीज के योग्य भूमिका तैयारी होती है। उसके पहले बोध मिले तो निष्फल जाता है। बोध मिले वह इतना महत्वपूर्ण नहीं है, बोध के योग्य भूमिका हो वह महत्वपूर्ण है। क्योंकि वह उपादान के साथ सम्बन्ध रखता है। बोध तो निमित्त के साथ सम्बन्ध रखता है, ऐसा है।

मुमुक्षु:- बोध मिले लेकिन गुण नहीं करता।

पूज्य भाईश्री:- गुण नहीं करता उसको, असर ही नही करता। एक बड़ा अवरोधक प्रतिबंधक बल आड़े खड़ा है, वह उसको असर नहीं करने देगा, बोध निष्फल जायेगा।

मुमुक्षु:- दिखता नहीं है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, यह बहुत बड़ी तकलीफ है कि स्वयं को स्वयं का स्वच्छंद नहीं दिखता है। इसीलिये उसे ऐसा लेना कि मैं कुछ नहीं समझता, ऐसा समझकर ज्ञानी के आश्रय में चले जाना। स्वयं तो देखता नहीं है, तो देखने वाले को तो कम से कम साथ में रखे। स्वयं तो नहीं देखता है किस ओर, किस दिशा में कदम रखना, तो देखने वाले को साथ में रखे कि मुझे ले चलो। इतनी बात है। और प्रथम भूमिका में

जिसे इतना विवेक नहीं आता, उसे आगे का कोई विवेक आता है (ऐसा नहीं बनता है)। क्योंकि आगे जो सिद्धांतिक विषय है और उसको जो ग्रहण करना है, सिद्धांतिक बोध ग्रहण करना है वह आगे का विवेक है। जिसके पास पहले का, स्थूल विवेक नहीं है, उसे सूक्ष्म विवेक कैसे उत्पन्न होगा? उत्पन्न नहीं होगा। बहुत पद्धित से स्वयं बात करते हैं।

मुमुक्षु:- भूल मूल में से जाये।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, समझ में आये ऐसी बात है।

'ये तीन कारण जीव को ज्ञानी से अनजान रखते हैं; ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है;..' बाद में ऐसा सब होता है कि स्वयं को भी शास्त्रज्ञान, पूजा, भिक्त, बाह्य त्याग ऐसे अनेक प्रकार के परिणाम होते हो तो अपने साथ तुलना होती है कि वे करते हैं वैसा मैं करता हूँ, उनको मैं अनुसरता हूँ, उनके जैसा ही मैं करता हूँ। इसीलिये मैं भी उनकी line में अब आ जाऊँगा। 'ज्ञानी के विषय में अपने समान कल्पना रहा करती है;..'

'अपनी कल्पना के अनुसार ज्ञानी के विचार का, शास्त्र का तोलन किया जाता है;..' ज्ञानी जो कहे उसको भी अपनी कल्पना के अनुसार कल्पना करता है, उसके रहस्य तक पहुँचता नहीं। शास्त्रवचन का भी अपनी कल्पना के अनुसार अर्थघटन करता है, ज्ञानी कहते हैं उस तरह नहीं करता है।

'थोड़ा भी ग्रंथ संबंधी वांचनादि ज्ञान मिलने से...' पुस्तकीय ज्ञान मिलने से 'अनेक प्रकार से उसे प्रदर्शित करने की जीव को इच्छा रहा करती है।' प्रदर्शन करने की इच्छा रहा करती है। हर किसी को समझाने लग जाता है। स्वयं को जो कुछ जानने मिला है वह दूसरों को बताने के लिये, दूसरों को समझाने के लिये, दूसरे को उपदेश देने के लिये उसकी बारंबार इच्छा रहा करती है।

'इत्यादि दोष...' इस प्रकार के जो दोष है 'उपर्युक्त तीन दोषों में समा जाता हैं,..' उपर्युक्त तीन दोष में वह सब आ जाते हैं और उन तीनों दोषों को एक में ले तो,

उसके एक उपादान का विचार करे तो वह 'उपादान कारण तो एक 'स्वच्छंद' नाम का महादोष है;..' यह बड़ा दोष है, स्वच्छंद महादोष है। उस दोष में से दोष की परंपरा का जन्म होता है, उतनी हद तक जन्म लेती है कि कहाँ जाकर अटकेगी यह कहना मुश्किल है। और यह स्वच्छंद नाम का महादोष है 'उसका निमित्त कारण असत्संग है।' उपादान कारण असत्संग में प्रीति और रुचि स्वयं की है वह उपादान कारण है और यह रुचि और प्रीति स्वयं को समझ में नहीं आती है इसीलिये उसको स्थूल निमित्त से समझाया जाता है कि इस असत्संग के कारण इसे ये सब नुकसान है।

इसीलिये श्रीमद्जी ऐसा कहते हैं कि किसी का भी संग करने में तू बहुत विचार करना, अत्यंत गंभीरता से विचार करना, चाहे जिसका सत्संग करने जैसा, चाहे जिसका संग करने जैसा नहीं है। और असत्संग से जीव को बहुत बड़ा नुकसान होता है, ये सब दोष उत्पन्न होते हैं। क्योंकि सत्संग का विवेक चूक गया है, इसीलिये असत्संग में स्वयं रुचि और प्रीति रखता है तभी वह सत्संग का विवेक चूक गया है, यह बात स्पष्ट होती है।

मुमुक्षु:- असत्संग किसको कहना यह समझ में नहीं आता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उसमें ऐसा है कि विपरीत रुचि वाले, विपरीत अभिप्राय वाले, दोष का पक्षपात करने वाले, क्या? उन्मार्ग पर चलने वाले जीवों का संग नहीं करना चाहिये।

मुमुक्षु:- स्थूल रूप से तो बंद कर देते हैं, लेकिन सूक्ष्म रूप से जो बंद हो जाना चाहिये, वह नहीं होता।

पूज्य भाईश्री:- उसमें क्या है कि विशेष परिचय होने पर सब ख्याल आ जाता है, जब भी ख्याल आये तब, संग छोड़ देना चाहिये। या तो स्वयं का संबंध हो तो स्पष्ट कहे कि ये करने जैसा नहीं है, यह नहीं करना चाहिये, आत्मा को बहुत बड़ा नुकसान का कारण है। फिर भी न छूटे तो संग छोड़ देना चाहिये। नहीं तो बहुत बड़ा नुकसान स्वयं को होगा, कितना होगा यह कहना मुश्किल है। ऐसा है।

मुमुक्षु:- जिन मुमुक्षुओं के साथ सत्संग में आते हैं उसमें भी यह ध्यान रखना?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उसमें यह सब विचार करने जैसा है। कहने से सब यहाँ आते हैं इसीलिये सब मुमुक्षु हो जाते हैं, ऐसा कुछ नहीं है। संग करने के लिये तो विशेष गुणी का संग करना, ज्ञानी-सत्पुरुष का संग करना, वह उपलब्ध न हो तो समान गुणी का संग करना, वहाँ बहुत विचार आवश्यक है। वहाँ असत्संग तो नहीं होता? इतना बारीकी से जाँचकर नक्की करना पड़ता है, क्या?

जैसे लोग विषैली दवाईयाँ घर में लाते हैं। कोई जरूरत पड़ने पर poisonous medicine भी घर में लाते हैं। परन्तु बहुत दूर रखते है उसको कि ये रसोईघर है, रसोईघर से यह कबाट थोड़ा दूर रखना। भूल से कोई भी (उसका उपयोग न कर ले)। ये सब आता है न? Ointment लगाते हैं। वह सब poisonous होते हैं-antibiotic, जरूरत पड़ी कि यहाँ लगाना है तो ऊँगली से लगा देता है। फिर साबुन से क्यों धो देता है? ऐसे ही कपड़े से हाथ पोंछ ले। बराबर घिसकर पोंछ दे तो फिर कोई दिक्कत आये? उसके बारीक से बारीक particles है, परमाणु है, वह भी यदि ऊँगली की रेखाओं में कही रह गये हो और फिर कोई खाने की वस्तु को भोगते समय, स्पर्श करने पर लग जायेंगे तो उसकी विकृति पेट में जाने से शरीर को असर हो जायेगी। कितना दूर रहता है? कि बराबर lifebuoy (साबुन) से उसे धो डालो, कहीं भी थोड़ा भी नहीं रहना चाहिये। Poison तो थोड़ा भी नहीं रहना चाहिये, ये सब poison है।

मुमुक्षु:- ... उसके बगल में टिंक्चर की बोतल पड़ी थी। एक व्यक्ति पी गया।

पूज्य भाईश्री:- फिर क्या दशा हो? दशा बन जाती है। (shastraji में ये highlighted lines नहीं है, audio में है।)उसमें जैसे सावधानी रखी जाती है, वैसे संग में अत्यंत सावधानी जरूरी है। इस विषय पर इनका बहुत वजन है। और वास्तव में जीव को बहुत नुकसान होता है, क्या?

मुमुक्षु:- स्वच्छंद, दर्शनमोह के परिणाम है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, तीव्र दर्शनमोह है। स्वच्छंद के साथ दर्शनमोह तीव्र होता है। सामान्य नहीं होता है, परंतु तीव्र हो जाता है। यानि अज्ञान एवं मिथ्यात्व को दृढ़ करने की यह सब परिस्थितियाँ है। मिथ्यात्व का, दर्शनमोह का बड़ा जहर है, कातिल जहर है ऐसा समझकर उसका असर भी कहीं आता हो, ऐसे आनुशंगिक परिणाम हो, उन सबसे स्वयं को सावधान रहना चाहिये, उन सबसे दूर रहना चाहिये। और उस प्रकार में सावधानी, जागृति बराबर आनी चाहिये।

मुमुक्षु:- कोई विपरीत समझ वाला हो तो उसके प्रति करुणा रखनी या करुणा का अभाव करना?

पूज्य भाईश्री:- तिरस्कार करने योग्य तो कोई नहीं है।

मुमुक्षु:- तिरस्कार नहीं, परंतु जो संग छोड़ने की बात है तो उसमें ऐसा विचार करना कि आज नहीं तो कल समझेगा। ऐसा समझकर करुणा रखनी या उसके साथ बातचीत, सम्बन्ध सब बंद कर देना?

पूज्य भाईश्री:- उसमें क्या है कि करुणा रखना एक बात है, प्रीति और अपेक्षा रखनी दूसरी बात है। करुणा में तो ऐसा है कि उसका हित हो, तो कभी भी मिलना हो तो उसका हित हो ऐसी ही बात स्वयं करे। परन्तु स्वयं कोई अपेक्षा बुद्धि से वर्ते, संग में नहीं जाये, कि उसके प्रति कोई ऐसा अनुराग न करे कि जिससे उसे प्रोत्साहन मिले, उसको अनुमोदना मिले। यह बात थोड़ी सूक्ष्म पड़ती है। अनुमोदना पहुँचनी एक बात है, करुणा होना एक दूसरी बात है। करुणा में तो स्पष्ट कहे, फिर उसे थोड़ा कठोर लगे तो भी उसके पीछे करुणा का भाव होता है। यह बात तो बहुत भयंकर है मुमुक्षु के लिये, ये तो किसी भी प्रकार से कोई परिस्थिति में किसी भी कीमत पर नहीं होना चाहिये, ऐसा तो होना ही नहीं चाहिये। और हम तो ऐसे व्यक्ति का, ऐसे जीवों का संग भी नहीं करते है, भले संग करते-करते कह दे कि हम तो ऐसे का संग भी न करे, ऐसा चाहते हैं। क्या? तो ख्याल आ जाता है। सामने वाले को बदलना हो तो ख्याल आ जाता है। न बदलना हो, ऐसा लगे कि ये स्वयं अभिप्राय पूर्वक बदलना नहीं

चाहता है, तो फिर उसको करुणा मात्र भाव में रह जाता है फिर प्रवृत्ति का सवाल वहाँ गौण हो जाता है।

करुणा का भाव और करुणा पूर्वक की प्रवृत्ति। प्रवृत्ति तो जब होती है कि सामने वाले को बदलने का कोई scope हो तो। परन्तु सामने वाला अभिप्राय निश्चित करके बैठा हो कि नहीं, आप जिसको सत्पुरुष मानते हो वह सत्पुरुष ही नहीं है। आप नहीं समझते हो। वहाँ फिर करुणा का प्रश्न भाव में रह जाता है, प्रवृत्ति में चलता नहीं, चल नहीं सकता। भाव में तो करुणा सर्व जीवों के प्रति रहती है। क्योंकि यह एक ऐसा निर्दोष मार्ग है कि एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत सर्व जीवों को आत्मिक सुख की प्राप्ति हो, कोई जीव को बाकी रखने का सवाल नहीं है। अरे..., वहाँ तो अभवी का विचार नहीं आता। सर्व जीवों को सुख की प्राप्ति हो उसमें अभवी का विचार गौण है। ये तो इतनी बड़ी बात है, क्या? ऐसी करुणा भी इस मार्ग में बेहद है। परन्तु जहाँ तक प्रवृत्ति एवं संयोग का सम्बन्ध है, वहाँ तक वह करुणा ऐसी नहीं होती कि जिसके कारण उसके दोष में वृद्धि हो जाये, उसे दोष की अनुमोदना मिल जाये, उसका अभिप्राय अधिक सुदृढ़ हो जाये, उस अभिप्राय को बल मिल जाये ऐसा कुछ नहीं होना चाहिये।

अब, जिस व्यक्ति को यह पत्र लिखा है उसे सीधा लिखते हैं, श्रीमद्जी ने बहुत करुणा की है। 'जिसे आपके प्रति...' यानि मैं। जिसे यानि मुझे। जिसे यानि मुझे 'आपके प्रति, आपको किसी प्रकार से परमार्थ की कुछ भी प्राप्ति हो, इस हेतु के सिवाय दूसरी स्पृहा नहीं है,..' कितना स्पष्ट कहते हैं। यह एक प्रवृत्ति है, देखो, जिस प्रवृत्ति की चर्चा की, वहीं प्रवृत्ति करते हैं। मुझे अन्य कोई स्पृहा नहीं है। यह मैं आप को कहता हूँ, अथवा आप मेरे संग में आये इसीलिये हम दोनों का संग हुआ, तो कोई अपेक्षा से, कोई स्पृहा से मेरा संग नहीं है। मेरा संग है उसमें मुझे इतनी ही बात है कि आपको परमार्थ मार्ग की प्राप्ति हो। प्रारंभ में, जघन्य अंश में भी आपको उसकी प्राप्ति हो जाये। यह line आपको मिल जाये तो आप आगे बढ़ पाओगे। इसके सिवाय मुझे अन्य कोई स्पृहा नहीं है। कितना स्पष्ट कहा है, कितना स्पष्ट किया है! 'आपके प्रति,

आपको किसी प्रकार से परमार्थ की कुछ भी प्राप्ति हो, इस हेतु के सिवाय दूसरी स्पृहा नहीं है, ऐसा मैं यहाँ स्पष्ट बताना चाहता हूँ,..' देखो।

मुमुक्षु:- स्पष्ट वक्ता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, स्पष्ट वक्ता है। आपको बहुत स्पष्ट कहता हूँ। इसमें गोल-गोल नहीं रखता हूँ, बहुत स्पष्ट कहता हूँ। 'और वह यह कि उपर्युक्त दोषों में अभी आपको प्रेम रहता है;..' आपके दोषों की आप रक्षा करते हो। इस दोष को अभी आप सँभालते हो, रखते हो, संग्रह करते हो, यह बात आपके हित में नहीं है। जिसमें 'अभी आपको प्रेम रहता है; 'मैं जानता हूँ,' 'मैं समझता हूँ,' यह दोष बहुत बार वर्तन में रहता है...' आपकी जो प्रवृत्ति है उसमें इस दोष में आप वर्तते हो, प्रवर्तते हो यह स्पष्ट लगता है।

'असारभूत परिग्रह आदि में भी महत्ता की इच्छा रहती है,..' कि यदि अपनी परिस्थित कुछ अच्छी हो तो अपनी महत्ता बढ़े, समाज में अपनी महत्ता कुछ बढ़े यह जरूरी है, अमुक महत्ता तो होनी चाहिये वरन लोग पहचानेंगे नहीं, गिनेंगे नहीं, फलाना-ढिकना कुछ न कुछ बहाने 'परिग्रह आदि में भी महत्ता की इच्छा रहती है,..' (अर्थात्) परिग्रह से महत्ता, क्या? ऐसी जो इच्छा रहती है 'इत्यादि जो दोष हैं वे ध्यान, ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष...' ज्ञानीपुरुष को कैसा कहा? ज्ञान और ध्यान का कारण कहा। 'ध्यान, ज्ञान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष और उनकी आज्ञा का अनुसरण करने में आड़े आते हैं।' वे आड़े आते है। इनको बड़ा प्रतिबंध है, इस प्रकार की प्रवृत्ति वह बड़ा प्रतिबंध है। ज्ञान भी नहीं मिलेगा, ध्यान होने का प्रश्न ही नहीं है।

'इसीलिये यथासम्भव आत्मवृत्ति करके उन्हें कम करने का प्रयत्न करना,..' (अर्थात्) आत्मिहत की वृत्ति तीव्र करके, तीव्र आत्मिहत की बुद्धि से, उसे कम करने का (प्रयत्न करना)। वह रस टूट जायेगा, आत्मिहत की बुद्धि तीव्र होने पर दोष का रस नीरस हो जाता है। इस प्रकार कम करने का प्रयत्न करना। 'और लौकिक भावना के प्रतिबंध से उदास होना,..' लोगों के सामने देखना बंद कर देना। लोग क्या विचार करेंगे (यह बात छोड़ देनी)।

आगे एक जगह कहा है कि मुमुक्षु जीव-आत्मार्थी जीव लोगों की-समाज की निंदा-प्रशंसा अर्थ कोई प्रवृत्ति नहीं करता। शुभयोग की प्रवृत्ति नहीं करता। अशुभ की प्रवृत्ति तो विचित्र बात है, परन्तु शुभयोग की प्रवृत्ति नहीं करता। दान दूँगा तो मेरी कीर्ति होगी, यह बात मुमुक्षु को नहीं होती। उसमें दर्शनमोह की सीधी वृद्धि होती है। 'लौकिक भावना के प्रतिबंध से उदास होना, यही कल्याणकारक है, ऐसा समझते हैं।' इस जीव को यही कल्याण का कारण है, यह हम जानते हैं।

कोई महाभाग्य जीव को यह बहुत स्पष्ट पत्र लिखा है। उन्हें स्पष्ट लिखा कि यहाँ हम आपको स्पष्ट बताना चाहते हैं कि ये प्रकार आपको हमारी पहचान नहीं होने देगा। ज्ञानीपुरुष की पहचान नहीं होने देगा यानि हमारी ही पहचान नहीं होने देगा। इस काल में आपको ये योग हुआ है, निष्फल हो जायेगा। योग, अयोग के बराबर हो जायेगा। और फिर पीछे तो परिभ्रमण की खाई इतनी बड़ी है कि उस खाई के अंधेरे में किसी का पता नहीं लगता कि कौन कहाँ गया।

मुमुक्षु:- ज्ञान, ध्यान इन सबके कारणभूत ज्ञानीपुरुष है।

पूज्य भाईश्री:- सर्व का कारण ज्ञानीपुरुष है। और ज्ञानी और उनकी आज्ञा का अनुसरण करना वह है। ज्ञानीपुरुष यानि उनकी आज्ञा का अनुसरण करना वह है।

मुमुक्षु:- बहुत अच्छा पत्र है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, बहुत अच्छा पत्र है। मुमुक्षु के लिये पुनः-पुनः लक्ष्य में रखने जैसा विषय है। (४१६ पत्र पूरा हुआ)।



प्रवचन-16, पत्रांक-522 (1)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र-५२२, पृष्ठ-४२६। अंबालालभाई पर लिखा गया पत्र है। 'जीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान होने पर, तथा प्रकार से अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया और लोभ का मंद हो जाना योग्य है कि जिससे अनुक्रम से वे पिरक्षीणता को प्राप्त होते हैं।' यदि जीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान हो तो उसके अनंतानुबंधी के क्रोध, मान, माया, लोभ के कषाय की जो चौकड़ी है उसका रस कम होता है, होता है और होता ही है, उसका अनुभाग घटता है। कषाय स्थूल है, दर्शनमोह है वह सूक्ष्म है। दर्शनमोह के पिरणाम स्वयं को सीधे पकड़ में नहीं आते, परन्तु कषाय के पिरणाम पकड़ में आते हैं इसीलिये चारित्रमोह के पिरणाम से बात करते हैं। साथ-साथ यह समझने योग्य है कि अनंतानुबंधी और दर्शनमोह अविनाभावी है। यदि सद्भाव हो तो अविनाभावी (रहते हैं)।

दर्शनमोह के परिणाम जीव को सीधे पकड़ने में नहीं आते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ पकड़ में आ सकते हैं (क्योंकि) स्थूल परिणाम है इसीलिये समझाने में वह शैली अपनायी जाती है। परन्तु ऐसी बात साथ-साथ समझने योग्य है कि यहाँ दर्शनमोह का अनुभाग भी कम होता है, रस टूटता है।

फिर से, 'जीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान होने पर,..' अर्थात् पहचान होने से, पहचान होने के कारण 'तथा प्रकार से...' यानि यथायोग्य प्रकार से, यह योग्य प्रकार है। 'अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का मंद हो जाना योग्य है...' होता ही है, न हो ऐसा नहीं है और ऐसा होने से 'अनुक्रम से वे परिक्षीणता को प्राप्त होते हैं।' यानि उसका नाश भी होता ही है। जब उसका नाश हो तब मोक्षमार्ग की प्राप्ति होती है।

मुमुक्षु:- पहचान न हो तो अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ होते ही है?

पूज्य भाईश्री:- हाँ, होते ही है, चालू ही रहते है। यदि सत्पुरुष को पहचान न सके तो उसका अनंतानुबंधी जाता नहीं, उसका दर्शनमोह जाता नहीं। ऐसा समझने योग्य है। न पहचान सके तो भी इतने लाभ से वंचित रहता है, तो विमुख होगा तब क्या दशा होगी? उपेक्षा हो तब क्या दशा होगी? यह विचारणीय है। तब तो तीव्र दर्शनमोह होता है और तीव्र अनंतानुबंधी होता है, तो ही उपेक्षा होती है और तो ही अवगणना होती है। (इसीलिये) पहचाने नहीं तो भी मिटेगा नहीं, यह रोग मिटेगा नहीं, पहचानने से यह रोग मिटेता है, ऐसा कहना है।

यह विषय उन्होंने बहुत स्पष्ट किया है। कोई भी ग्रंथ में यह विषय इतना स्पष्ट नहीं है जितना उन्होंने अपने वचनों में स्पष्ट किया है कि अनंतकाल में जीव ने अनंतबार मनुष्यदेह और अनंतबार सत्पुरुष से लेकर सर्वज्ञ पर्यंत का संयोग हुआ है। सत्पुरुष से लेकर सर्वज्ञ पर्यंत का संयोग होने पर भी एक बार भी उसने सम्यग्दृष्टि रूप से न तो सर्वज्ञ को पहचाना है, सर्वज्ञ रूप से तो पहचाना ही नहीं है, परन्तु सम्यक्दृष्टि रूप से भी नहीं पहचाना है और सत्पुरुष को भी सत्पुरुष के रूप में एक बार भी नहीं पहचाना। यदि पहचाना होता तो उसका अनंतानुबंधी और दर्शनमोह का नाश होता, होता और होता ही। इसीलिये उसमें से अपने आप ही साबित हो गया कि मिलने पर भी पहचाना नहीं है इसीलिये नाश नहीं हुआ है। यह तो अपने आप (सिद्ध) हो जाता है।

'ज्यों-ज्यों जीव को सत्पुरुष की पहचान होती है त्यों-त्यों मताभिग्रह, दुराग्रहता आदि भाव शिथिल होने लगते हैं,..' अब, जो मताभिग्रह है और दुराग्रह है उसमें सामान्य परिणाम क्या है? हठ का परिणाम है, ज़िद्द का परिणाम है अथवा माया का परिणाम है। वह माया में जाता है। क्रोध, मान, माया और लोभ में वह माया में जाता है और माया की प्रकृति वह मिथ्यात्व की प्रकृति है। मिथ्यात्व की प्रकृति को यदि खाते में डालना पड़े तो माया के खाते में डालना पड़ेगा। इसीलिये वह चिह्न लिया, कौन-सा चिह्न लिया इसमें? कि यदि जीव को सत्पुरुष की पहचान होगी अथवा ज्यों-

ज्यों सत्पुरुष की पहचान होती है। ज्यों-ज्यों सत्पुरुष की पहचान होना यानि क्या? एक साथ पूरी नहीं होती। पहले कुछ विश्वास आता है, फिर अधिक विश्वास आता है। पिरचय करने पर और विश्वास आता है, कोई एक भूमिका में उसे पक्की, सीधी पहचान होती है कि यह सत्पुरुष है। अब मेरे ज्ञान से बराबर नक्की होता है और किसी को पूछने का उसमें प्रश्न रहता नहीं। ऐसे ज्यों-ज्यों जीव को (पहचान) होती है, त्यों-त्यों उसका फायदा क्या हुआ? (यह) नगद का व्यापार है। सत्पुरुष की पहचान हो तो उसे त्यों-त्यों, ज्यों-ज्यों पहचान होती है त्यों-त्यों, उसके प्रमाण में अन्दर ले लिया कि सामने उतना फायदा। पूरी पहचान होने के बाद फायदा शुरू होता है ऐसा नहीं। पहचान की दिशा में जीव आगे बढ़ा तो जितना आगे बढ़ा उतना उसे लाभ (होता है), यह सीधी बात है।

त्यों-त्यों उसका मताभिग्रह कम होता है यानि मताग्रह कम होता है और दुराग्रह भी कम होता है। दुराग्रह किसे कहते हैं? आग्रह और दुराग्रह में अंतर है। आग्रह दो प्रकार (के होते है) सत्य के लिये आग्रह और असत्य के लिये आग्रह। न्याय के लिये आग्रह और अन्याय के लिये आग्रह। आग्रह तो दोनों को कहते हैं परन्तु जो असत्य और अन्याय के लिये आग्रह है वह दुराग्रह है। सत्य के लिये आग्रह है उसको दुराग्रह नहीं कह सकते, उसको हठ नहीं कह सकते। नहीं तो उन दोनों को एक में डाल देगा कि इसको भी आग्रह है और इसको भी आग्रह है। हमारी नजर में तो दोनों समान हैं, ऐसा नहीं है।

'ज्यों-ज्यों जीव को सत्पुरुष की पहचान होती है, त्यों-त्यों मताभिग्रह,..' (यानि) मत संबंधी का आग्रह कम होता है। (अर्थात्) ये जो मत का प्रकार उत्पन्न होता है (कि) हमारे मत में ऐसा है, क्या? हमारे मत में ऐसा है। वह मत का-रूढ़ि का, संप्रदाय के अन्दर चलती रूढ़ि का आग्रह, संप्रदाय के अन्दर चलता मत का आग्रह कि हमारे में ऐसा ही होता है, ऐसा नहीं होता (यह सब मताभिग्रह है)। सत्य क्या है?

आत्मा को लाभकारक क्या है? आत्मा किससे निर्मल होता है, शुद्ध होता है? इस मार्ग का यह एक ही दृष्टिकोण है।

जिसका नाम 'जैनमार्ग' ऐसा लोक में आज प्रसिद्ध है, उस जिनमार्ग को यिद गुण अपेक्षा से कहने में आये तो वह मात्र आत्मशुद्धि का मार्ग है। िकसका मार्ग है? मात्र आत्मशुद्धि का मार्ग है। कोई संप्रदाय का, वाड़ा का, समूह का मार्ग नहीं है िक अमुक समूह उसके ऊपर अधिकार है। अमुक कुल वाले का अधिकार है, ऐसा इसमें नहीं है। जिसे आत्मशुद्धि करनी हो, वह तिर्यंच से लेकर कोई भी इसमें आ सकता है और पिरपूर्ण आत्मशुद्धि की इसके अन्दर पूरी line है। प्रथम जघन्य अंश से आत्मशुद्धि शुरू होती है, फिर वहाँ से पूर्ण आत्मशुद्धि हो उसके लिये यह मार्ग है। उसे नाम भले ही जैनमार्ग दो या कोई भी नाम दो, परन्तु आत्मशुद्धि का लाभ इसके अन्दर है और उसके उपाय को मार्ग कहने में आता है। आत्मशुद्धि के उपाय को ही मार्ग कहने में आता है।

क्या कहते हैं? कि त्यों-त्यों मताभिग्रह और दुराग्रह आदि भाव शिथिल होने लगते हैं। जीव में होते तो है, परन्तु उसके अन्दर उसका जोर टूट जाता है, शिथिल होने लगते हैं। (और) यदि शिथिल न पड़े तो समझ लेना कि उसे सत्पुरुष का, सत्पुरुष के रूप में कोई योग हुआ नहीं है। सबके पीछे ओघे-ओघे चलता है, भेड़चाल की भाँति एक भेड़ के पीछे दूसरा भेड़ चले, ऐसे स्वयं भी चलता है। उसे पहचान हुयी नहीं है। अथवा तो कुलधर्म से चलता है अथवा तो बाप-दादा चलते थे इसीलिये चलता है। इस तरह चलने का यह मार्ग नहीं है।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष थे तब तो पहचाना नहीं, अब हमें क्या करना?

पूज्य भाईश्री:- अब पहचानने के लिये तैयारी करना। उस दिन तैयारी नहीं थी, अब तैयारी है या नहीं? यह सवाल है। (उसे) तैयारी करना चाहिये, तैयारी करके और उसमें कोई सत्पुरुष मिले तो उसके आश्रय में रहना है, उनकी आज्ञा में रहना है, उनके

चरण में निवास करना है, उसको आश्रय भावना कही है, आगे पत्र आ गया। ५२१ पत्र की प्रथम पंक्ति। 'जिस पत्र में प्रत्यक्ष आश्रय का स्वरूप लिखा है वह पत्र यहाँ प्राप्त हुआ है। मुमुक्षुजीव को परम भिक्त सिहत उस स्वरूप की उपासना करना योग्य है।' (इसीलिये) उसको इस प्रकार का भाव आना चाहिये कि यदि कोई सत्पुरुष मिले तो मैं पहचाने बिना नहीं रहुँगा, मेरी नजर से वे बाहर नहीं जायेंगे। उतना उसको आत्मविश्वास आता है। और यदि मिले तो उनके चरण में निवास करना है, उनकी आज्ञा में मुझे आत्महित साधना है। ऐसा प्रकार उसके भाव का उत्पन्न हो तो उस भाव के फल में, कि जिस भाव के साथ कुदरत बँधी हुयी है, क्या? उसको जो वियोग है वह संयोग हुये बिना नहीं रहेगा। कोई भाव निष्फल तो नहीं जाता। तो उसने सत्पुरुष के आश्रय की भावना भायी, उसकी यह भावना अवश्य सफल होगी, ऐसा है। और ऐसा अनेक के साथ हुआ है। ऐसा अनेक के साथ हुआ है।

वह भाव (मताभिग्रहादि भाव) 'शिथिल होने लगते हैं, और अपने दोषों को देखने की ओर चित्त मुड़ जाता है;..' क्या होता है? उसका ज्ञान सर्वप्रथम कैसे काम करने लगता है? कि अपने दोष देखने की ओर ज्ञान मुड़ता है कि मेरे आत्मा में अभी कितनी मिलनता है? मुझे कैसे-कैसे मिलन परिणाम होते हैं? ये जो नुकसानी का व्यापार चलता है उसको तो मैं देखूँ, मुनाफे की बात बाद में। नुकसान बंद होने के बाद मुनाफा शुरू होगा न? कि नुकसान भी चालू रहे और मुनाफा भी चालू हो जायेगा? तो सर्वप्रथम उसको यह होता है, एक (तो) आग्रह, दुराग्रह, मताग्रह शिथिल होने लगते हैं और अपने दोष देखने की ओर चित्त मुड़ जुता है। 'मुड़ जाता है।' यह एक वाक्य ऐसा लिया है कि सहज ही ऐसा होता है। सुना है, शास्त्र आज्ञा है कि सत्पुरुष का वचन है इसीलिये मैं मेरे दोष देखुँ ऐसा नहीं। क्या? 'मुड़ जाता है।' उसका अर्थ यह है कि उसकी योग्यतावश उसको यह प्रकार उत्पन्न होता है। ऐसा कहा कि अवलोकन में आना चाहिये, अपने दोष के अवलोकन में आना चाहिये। ऐसा समझा इसीलिये मैं अवलोकन करूँ (ऐसा) नहीं चलेगा। क्योंकि (वह) कृत्रिम प्रयत्न है, लंबे समय नहीं चलेगा। परन्तु योग्यता उत्पन्न होगी तो सहज-सहज उसका चित्त उस ओर

मुड़ जाता है। अपने दोष देखने की ओर चित्त मुड़ जाता है, ऐसा उसके अन्दर tone है।

मुमुक्षु:- अपने दोष देखने की बात बार-बार आती है कि अपने दोष देखना।

पूज्य भाईश्री:- 'दीठा नहीं निज दोष तो तरीये कोण उपाय?' ऐसा कहते हैं। क्योंकि उस दोष को नाश करने का उसे ख्याल ही नहीं होता है। उसमें क्या होता है कि तत्वज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करने के बाद यह भूल कोई जीव की होती है कि अपने को तो अस्ति को पकड़ना है, मात्र ज्ञायक स्वभाव को पकड़ना है। लेकिन ज्ञायक स्वभाव को पकड़ने की वर्तमान पर्याय में (जो) योग्यता (है) उसमें अस्ति-नास्ति क्या होती है उसका कोई विज्ञान उसकी समझ में न हो, उस सम्बन्धित कोई ख्याल नहीं हो और कृत्रिम विकल्प करते रहने से उसे ज्ञायक स्वभाव का पता लग जाये, उस बात में कोई दम नहीं है। यह इसका प्रारंभ है। यहाँ योग्यता के लक्षण बताते हैं कि जीव की योग्यता शुरू हुयी यह कैसे मालूम पड़ा? कि प्रारंभ में ही उसे अपने दोष देखने की ओर चित्त मुड़ जाता है।

'विकथा आदि भाव में नीरसता लगती है,..' आत्मकथा के सिवाय सब कथा विकथा है। चार कथा के नाम तो प्रसिद्ध है परन्तु ये चार कथा कहो या आत्मकथा के अलावा की सब कथा कहो, वह सब विकथा है अथवा संसार की कथा है। संसार बढ़ाने की कथा है। उससे संसार बढ़ाने के सिवाय दूसरा कोई लाभ होता नहीं। मात्र संसार बढ़ाने का, कर्मबंधन उत्पन्न होता है। उस 'विकथा आदि भाव में नीरसता लगती है, जुगुप्सा उत्पन्न होती है।' अथवा घृणा होती है, ये बात कहाँ शुरू की। अरुचि होती है। जुगुप्सा क्या दर्शाती है? अरुचि दर्शाती है। ऐसी बातों में हमें रस नहीं है, ऐसी बात हमें सुहाती भी नहीं है। बात करनी हो तो आत्मा की कोई बात करो, आत्मा का हित हो ऐसी कोई बात करो, आत्मा के निर्मल और पवित्र स्वरूप की कोई कथा करो। पवित्रता प्राप्त हो ऐसी कोई बात करो। इसके अतिरिक्त कोई बात में हमें रस नहीं है। जाने दो, वह सब अनन्तबार कर चुका। इसी प्रकार जीव परिभ्रमण

करता रहा है, जब तक उसमें घृणा न हो, जब तक उसकी अरुचि न हो, तब तक भी उसे योग्यता प्राप्त हुयी नहीं है। 'जुगुप्सा उत्पन्न होती है।' यह पत्र बहुत अच्छा है।

'जीव को अनित्य आदि भावना का चिंतन करने के प्रति बलवीर्य के स्फुरित होने में जिस प्रकार से ज्ञानीपुरुष के समीप सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणाम से वह पंचिवषयादि में अनित्यादि भाव को दृढ़ करता है।' मुमुक्षु क्या करता है? कि 'जीव को अनित्य आदि भावना का चिंतन करने के प्रति बलवीर्य के स्फुरित होने में...' बलवीर्य स्फुरायमान होना यानि पुरुषार्थ करना। देह से लेकर सभी संयोग अनित्य है, ऐसी अनित्यता की भावना बारंबार होना उसको भावना का चिंतवन कहने में आता है अथवा अनुप्रेक्षा कहने में आता है। और बारंबार ऐसी भावना होने के लिये जो पुरुषार्थ चाहिये, उस विषय में जो ज्ञानीपुरुष के समीप सुना है, ज्ञानीपुरुष ने जो वैराग्य का बोध दिया है उससे भी विशेष बलवान परिणाम से (भाता है)। सुनते समय जो परिणाम हुये कि श्रीगुरु कहते हैं, सत्पुरुष कहते है, वास्तव में सब अनित्य है, संसार में कुछ सार नहीं है। एकान्त दुःख का ही वह स्थान है और उससे जीव को वापस मुड़ने जैसा है। ऐसा जो वैराग्य का विषय उसने सुना है, उससे भी विशेष बलवान परिणाम से स्वयं अकेला पुरुषार्थ करता है ऐसा कहते हैं।

'उससे भी विशेष बलवान परिणाम से वह पंचविषयादि में अनित्यादि भाव को दृढ़ करता है।' समस्त संयोग, वियोग सिहत है, अनित्य है और वह अनित्य संयोग प्राप्त होने पर उसको नित्य मानकर यह जीव उसमें रस लेता है अथवा राग-द्वेष करता है, वह इस जीव की ही भ्रमणा है, इस जीव का ही दोष है। इस प्रकार अपने दोषित परिणाम को निंदे, निंदा करता है, गृहा करता है, पश्चाताप करता है और दृढ़ करता है कि पुन:-पुन: इसमें भूलावे में नहीं पड़ना है। इस प्रकार वह दृढ़ करता है।

'अर्थात्...' इसका अर्थ क्या? कि 'सत्पुरुष की प्राप्ति होने पर, ये सत्पुरुष है, इतना जानकर, सत्पुरुष को जानने से पहले जिस तरह आत्मा पंचविषयादि में रक्त था, उस तरह उसके पश्चात् रक्त नहीं रहता,..' रस से परिणाम होना उसे रक्तपना कहने प्रवचन-16, पत्रांक-522 (1)

में आता है। रस उड़ गया उसको विरक्तपना कहने में आता है। सत्पुरुष के मिलने से पहले उन अनित्य संयोगों में, पंच विषय में इस जीव का रस था और सत्पुरुष मिलने के बाद उसका जो रस है, उसमें कोई फर्क पड़ा कि नहीं पड़ा? यदि उनको पहचाना हो तो फर्क पड़े बिना रहेगा नहीं और यदि न पहचाना हो तो फर्क नहीं पड़ता यह बहुत स्वाभाविक है। इसीलिये उसको मिले, वह नहीं मिलने के बराबर है। ये तो क्या करता है कि शास्त्र पढ़ता है, शास्त्र के विषय में बुद्धि लगाता है, अनेकानेक बातें समझता है और बाकि का जो उदय का प्रकार है उसमें उसका रस रह जाता है। अरे, उसका ध्यान तक नहीं होता कि रस बढ़ रहा है कि कम हुआ है, यह भी उसे मालूम नहीं होता, क्योंकि उसको अवलोकन नहीं है। (इसीलिये) उसको सत्पुरुष मिले हैं यह बात रहती नहीं है। उसको मिले, नहीं मिले सब समान ही है। यहाँ तो ऐसा कहना है।

मुमुक्षु:- पहले भी सादा भोजन लेते थे और अब भी सादा भोजन ही लेते हैं।

पूज्य भाईश्री:- रस का क्या? भोजन सादा लेता है। पहले हम सादा भोजन लेते थे और सत्पुरुष मिलने के बाद भी सादा भोजन ही लेते हैं। उसके रस का क्या है? सवाल रस का है। भोजन (लेना-नहीं लेना) तो कहाँ उसके अधिकार की बात है? भोजन उसके अधिकार की बात नहीं है। अपना घर छोड़कर दूसरी जगह खाने जाना होता है तो वहाँ कहीं आपकी इच्छा के अनुसार थोड़े ही बनने वाला है। आप ऐसा कहो कि हम मिठाई नहीं खायेंगे (तो सामने वाला ऐसा कहेगा कि) 'आप भले ही कहो, हमें तो बनानी है और आपको दिये बिना नहीं रहेगें। एक टुकड़ा तो आपको लेना ही होगा, थोड़ा तो आपको लेना ही पड़ेगा। हमारी भावना का तो आपको छ्याल रखना ही पड़ेगा।' ऐसा कहे, लो ठीक, 'हमें खिलाने की भावना है और आपको इसका ख्याल रखना पड़ेगा।' ऐसा कहे। लेकिन उसमें रस कितना लेना वह अपने हाथ की बात है। सामने वाले की बात अपने हाथ में नहीं है। सामने वाले के परिणाम, परमाणु की पर्याय, उसका कर्ता-हर्ता नहीं हो सकता। परिणाम का कर्ता-हर्ता स्वयं है। जो सँभालना है वह परिणाम में सँभाल रखनी है। संयोग तो, जिस काल में जो संयोग-

वियोग होने वाला है वह होगा, उसमें इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र किसी को फेरफार करने का अधिकार नहीं है। फिर अपना अधिकार तो कहाँ रहा? इन्द्र, जिनेन्द्र फेरफार नहीं कर सकते तो अपना अधिकार तो रहता ही कहाँ है? वह सवाल नहीं है।

फिर से, अनित्यादि भावना विशेष बलवान परिणाम से दृढ़ करता है उसका अर्थ यह है कि सत्पुरुष मिलने से पहले उसका जो संयोग में रस था, पंचविषयादि में रस था, खाने-पीने में रस था, वह रस उसके बाद नहीं रहता, उड़ जाता है। सत्पुरुष को पहचानने के बाद, देखने के बाद उड़ जाता है। क्यों उड़ जाता है? क्योंकि वह सत्पुरुष के नीरस परिणाम देखता है और उसको भी वैसा होना है। उसको ऐसी स्थिति प्राप्त करनी है, यह भावना उसे अंतर में से उग्र होती है उसके वशात् उसको ऐसे ही नीरस परिणाम होने लगते हैं।

सत्पुरुष मिलने से पहले और बाद में क्या फर्क है? उसने सत्पुरुष को पहचाना, सत्पुरुष को सत्पुरुष के रूप में उस नजर से देखा उसका अर्थ क्या है? कि उसका अर्थ यह है कि उसने सत्पुरुष के भी नीरस परिणाम देखे। अरे, इन्हें कुछ लेना-देना नहीं है। चाहे कोई भी प्रकार के, अनेक प्रकार के संयोग बनते हैं फिर भी इन्हें कोई लेना-देना नहीं है। वे नीरस हैं। (इसीलिये) जिसको वैसा होना है उसको वह प्रकार परिणाम में भावना के कारण उत्पन्न होता है।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष नया जन्म देने वाले हैं।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, नया जन्म ही देते हैं। वास्तव में नया जन्म देते हैं, और वे जो जन्म देते हैं वह भावमरण और भावजन्म, द्रव्यमरण और द्रव्यजन्म दोनों का नाश करने के लिये जन्म देते हैं। ऐसा जन्म देते हैं, सत्पुरुष ऐसा जन्म देते हैं! पूरा आत्मा बदल देते हैं। वर्तमान भव में सत्पुरुष को पहचाने और पहचानकर परिणाम पलटे तो एक भव में ही दूसरा भव शुरू हो जाता है। पहले वाला आत्मा अलग और बाद वाला आत्मा अलग है। अन्दर से बदल जाता है। ऐसा कोई चमत्कार सत्पुरुष के योग

में रहा हुआ है, ऐसा एक चमत्कार है, मानो पूरा जीव बदल गया। व्यक्ति ही पूरा बदल गया ऐसा लगता है, पहले उसकी जो बात थी वह अलग थी, अभी की बात कोई अलग है ऐसा लगता है, लगे बिना रहता नहीं।

मुमुक्षु:- सत्पुरुष को पहचाने तो होता है।

पूज्य भाईश्री:- पहचाने तो होता है, हुये बिना रहे नहीं। यह एक सत्पुरुष की पहचान का बहुत बड़ा प्रताप है, बहुत बड़ा प्रभाव है। यदि वैसा का वैसा रहा तो उसका अर्थ यह होता है कि उसको अभी सत्पुरुष मिले या नहीं मिले, सब बराबर ही है। वैसे तो अनन्तबार मिल चुके हैं। ऐसा ही इस बार भी हुआ है। इस प्रकार यह विषय जब सामने agenda पर आता है तब इस जीव को कम से कम जागृत होने जैसा है कि ऐसी भूल अब पुन:-पुन: करना नहीं है।

पहले (जैसा) पंचविषयादि में रक्त रहता था वैसा अब रक्त रहता नहीं। 'और अनुक्रम से वह रक्तभाव मंद हो जाये ऐसे वैराग्य में जीव आ जाता है।' (अर्थात्) उसका भाव मंद हो जाता है। भले ही एक साथ नहीं तो क्रमशः भी मंद हो जाये ऐसे वैराग्य में वह जीव आता है, वैराग्य कहो या नीरस परिणाम कहो (दोनों एकार्थ है)।

मुमुक्षु:- ये तो मीटर हो गया।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उसका नाप है, आपको सत्पुरुष मिले है या नहीं? आपके जीवन का विचार कर लेना कि कुछ फर्क पड़ा है कि नहीं? या (फिर) वैसे ही परिणाम, वही प्रकार रहा है और उसमें कोई फर्क नहीं पड़ा। बस, इतना विचार कर लेना, जाँच लेना। विचार कर देख लो उसका अर्थ आपके परिणाम को जाँच लेना।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- सत्पुरुष के समागम में आये उसको यह भी विचारणीय है कि मेरे दोष के कारण जिसके समीप मैं जाता हूँ, उनके सामने कोई ऊँगली उठाये ऐसा भी मेरे से कुछ नहीं होना चाहिये।

मुमुक्षु:- बड़ा अपराध है।

पूज्य भाईश्री:- बड़ा अपराध है यानि ये तो यहाँ आने की जिम्मेदारी ही बड़ी है। कहीं और भी चला जाये उसकी दिक्कत नहीं है परन्तु यहाँ आने वाले की जवाबदारी बड़ी है। लाभ भी बड़ा, नुकसान भी बड़ा। ये तो व्यापार ही कीमती चीज का है, सीधी बात है।

अब जो बात करते हैं वह बहुत अच्छी करते हैं। जीव को उत्साह आये ऐसी बात करते हैं और बहुत लाभ हो ऐसी बात करते हैं। 'अथवा...' कहकर अब एक दूसरा अर्थ करते हैं, विशेष अर्थ करते हैं कि 'सत्पुरुष का योग होने के पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं है।' क्या कहते हैं? अब इसका अर्थ क्या है? जो बात समझायी इसका अर्थ क्या है? कि अनादि दुर्लभ, अनंतकाल में प्राप्त नहीं हुआ ऐसा आत्मज्ञान जो दुर्लभ से दुर्लभ है, वह सत्पुरुष का योग होने के पश्चात् कुछ दुर्लभ नहीं है अर्थात् सुलभ है, ठीक। कितना बड़ा लाभ है!

अनंतकाल में जो आत्मज्ञान इस जीव ने प्राप्त किया नहीं, धर्म के नाम पर बहुत धमाल की है, शीर्षासन करके तपश्चर्या करी है, खाये-पीये बिना, वहाँ से लेकर कुछ बाकी नहीं रखा। जो-जो क्रिया का अनुराग था, वह सब क्रिया की है और ग्यारह अंग एवं नव पूर्व पर्यंत का शास्त्रज्ञान भी कर चुका है, आत्मज्ञान एक बार भी नहीं किया है। ऐसा दुर्लभ से दुर्लभ जो आत्मज्ञान वह सत्पुरुष के योग में सुलभ है। इसका क्या महत्व है, सत्पुरुष की विद्यमानता का महत्व क्या है? यह समझाते हैं। सहज ही (किसी को) अज्ञान भाव से उपेक्षा हो जाती है न? परन्तु उनकी विद्यमानता का बहुत महत्व है, इस पृथ्वी पर, इस धरातल पर उनकी विद्यमानता होना यह बहुत बड़ी बात है!

कोई छोटी-मोटी बात नहीं है। क्योंकि उनका योग होने के बाद आत्मज्ञान जीव को कुछ दुर्लभ नहीं है। परन्तु योग हुआ कब कहने में आता है, वह बात करते हैं कि पहचान हो तब उसे योग हुआ ऐसा कहने में आता है।

(आगे कहते हैं) 'तथापि सत्पुरुष में, उनके वचनों में, उन वचनों के आशय में, जब तक प्रीति भक्ति न हो तब तक जीव में आत्मविचार भी उदय होने योग्य नहीं है;..' क्या कहा? सत्पुरुष में अत्यंत प्रीति भक्ति हो, जिसको 'अभिन्नभाव' कहते हैं। सोभागभाई का विषय विचारने जैसा है। पत्र अंबालालभाई (पर लिखा है), उनके वचनों में प्रीति, भक्ति हो। सत्पुरुष के वचन के बारे में ऐसा विचार न आये कि ऐसा क्यों कहते हैं? ऐसा क्यों बोले? ऐसा नहीं बोलना चाहिये था, ऐसा बोलने में तो बराबर लगता नहीं है। स्वयं को अणगमा हो जाता है। अपने अभिप्राय से विरुद्ध कोई बात आये तो अणगमा हो जाता है कि ऐसा क्यों बोले? ये अभक्ति के परिणाम है। यह भक्ति तो नहीं है, अपितु ये अभक्ति के परिणाम है। उसको पूछो कि घर में दो साल का छोटा बालक तोतला बोलता हो तो तुझे कितनी प्रीति होती है? लो, कल तो एक ही अक्षर बोलता था, आज तो दो अक्षर बोलता है, क्या? 'बा..पा' ऐसा बोलता है, 'पा..पा..' ऐसा बोलता है, उतने में तो राज़ी-राज़ी हो जाता है। अभी तो बोलना भी नहीं आता है, कभी-कभी ही बोलता हो परन्तु एकदम अन्दर से हर्ष कहाँसे होता है? प्रीति है। तुझे उसकी इतनी तोतली बात पर भी इतनी प्रीति होती है तो सत्पुरुष के अपूर्व आत्महित के जो वचन है उनके प्रति तुझे क्यों अप्रीति होती है? अभक्ति क्यों होती है? यह विचार करने योग्य है। तुझे जितना संसार प्रिय लगता है उतना तुझे तेरा आत्महित प्रिय नहीं लगता है ऐसा कहना है। 'आत्मविचार' का अर्थ यह है। 'आत्मविचार' का अर्थ यह है कि उसे आत्मा का हित प्रिय नहीं हुआ है। आत्मा के हित का विचार ही उसे आया नहीं है। बीच में अध्याहार है-'हित' शब्द अध्याहार (गर्भित) है। 'आत्मविचार' यानि 'आत्महित का विचार' ऐसा कहना है।

मुमुक्षु:- गुरुदेवश्री की वाणी जहाँ-जहाँ पढ़ी जाती हो वहाँ प्रीति हो न?

पूज्य भाईश्री:- होनी चाहिये। गुरुदेव ऐसा कहते थे, गुरुदेव ऐसा कहते थे, उसको भाव आते है, भक्ति का भाव ही आता है।

(यहाँ कहते हैं) सत्पुरुष में, उनके वचन में, उस वचन में रहा आशय (अर्थात्) आत्मिहत का आशय है, सत्पुरुष को अन्य कोई लेना-देना नहीं है। 'उन वचनों के आशय में, जब तक प्रीति भक्ति न हो तब तक...' ऐसा समझने योग्य है कि उसे आत्मिहत का विचार उदय में भी नहीं आया है। उदयभाव से भी उदय नहीं आया है, ऐसा कहते हैं। अभी तो पहले वह उदयभाव रूप आता है न? तो कहते हैं कि अभी तो उसे उस प्रकार का उदयभाव भी नहीं आया है। अनउदयभाव तो दूर है, लेकिन उदयभाव भी नहीं आया।

'और जीव को सत्पुरुष का योग हुआ है,..' (अर्थात्) ऐसे जीव को सत्पुरुष मिले हैं ऐसा कहना 'ऐसा सचमुच उस जीव को भासित हुआ है, ऐसा कहना भी कठिन है।' उसे मिले हैं ऐसा कहना भी कठिन है और सत्पुरुष मिले हैं ऐसा उसे भासित हुआ है, उसे लगा है ऐसा कहना भी कठिन है। सचमुच उसे सत्पुरुष मिले नहीं है, ऐसा लगा ही नहीं है। उसे मालूम ही नहीं है। इस एक बात में बहुत गंभीर बात रख दी है कि 'सत्पुरुष का योग होने के पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं है।' यदि सत्पुरुष मिलने पर आत्मज्ञान सुलभ होता हो तो उस बात का मूल्य किसी भी तरह आँका न जा सके ऐसा है। उसका मूल्य किसी भी तरह आँक नहीं सकते।

मुमुक्षु:- चार पंक्ति में तो सब कह दिया।

पूज्य भाईश्री:- बहुत बातें कही है। सत्पुरुष के विषय में यह पत्र बहुत महत्व वाला है। पहचान से बात शुरू की है। पहली बात ही वह ली है कि 'जीव को ज्ञानीपुरुष की पहचान होने पर,..' ओघे-ओघे तो अनंतबार संयोग हो चुका है। पूजा-भक्ति की है, मान लिया कि मैंने भक्ति करी, प्रीति करी, उस बात का यहाँ स्वीकार नहीं किया है। पहचान हुयी या नहीं?

वहाँ उनके अनुयायीओं के बीच में कभी-कभी यह बात चलती है। उनको एक दूसरा प्रश्न करना हैं कि कृपालुदेव को पहचाना है ऐसा लगता है? तो कहते हैं, लगता तो है। कृपालुदेव को पहचाना है ऐसा लगता है। (मेरा) प्रश्न ऐसा है कि एक व्यक्ति को हीरा पहचानना आता हो तो कोई हीरे को ही पहचाने और कोई हीरे को नहीं पहचाने ऐसा बनता है? कभी काँच को हीरा मानेगा? नहीं मानेगा। कभी काँच को हीरे का टुकड़ा मानेगा? नहीं मानेगा। एक हीरे को पहचाने वह सब हीरे को पहचानेगा क्योंकि उसकी जाति उसने पहचानी है। जाति से परख आयी है। किससे परख आयी है? एक नग से परख नहीं आयी परन्तु उसकी जाति की उसे परख हुयी है। यह बात सुनते हैं तो (वह लोग) विचार में पड़ जाते हैं।

चलो, कोई विद्यमान सत्पुरुष को पहचान सकोगे या नहीं? है कुछ आत्मविश्वास जैसा? अन्दर ऐसा कोई तत्त्व है? ज्ञान में ऐसा कोई विश्वास आता है? आत्मविश्वास उत्पन्न हो ऐसा (भारोसा है)? स्वयं को पहचान सम्बन्धित भरोसा है? पहचान हो परख हो उसको तो विश्वास होता है कि लाईये, कोई भी चीज। खोटा हीरा रखो, सच्चा रखो, खोटा रखो, आपको जो रखना हो रखो। दोनों इकट्ठे करके-मिलावट करके रखो। आपको assorting करके देंगे कि इतने खोटे और इतने सच्चे। (ऐसा कहते हैं तो वो) विचार में पड़ जाते हैं। अतः बहुत भक्ति करते हैं, बहुत अर्पणता करते हैं इसीलिये हमें पहचान है, इस बात में कोई दम नहीं है। उस विषय में विचार नहीं किया है इसीलिये ओघे-ओघे मान लेते हैं कि 'पहचाने बिना हम इतनी अर्पणता करेंगे क्या?' (ऐसा जिसको लगता है) उसमें भी (उसको) अर्पणता की कीमत है, पहचान की नहीं (ऐसा निकलता है)। 'इतनी सब अर्पणता की' (ऐसा जो कहते हैं) उसमें अर्पणता की मुख्यता होती है। देखो, परिणाम में कितनी सूक्ष्मता है! बात कहाँ की कहाँ जाती है।

अब विशेष कहते हैं कि 'जीव को सत्पुरुष का योग होने पर तो ऐसी भावना होती है कि...' पहले नास्ति ली थी कि क्रोध, मान, माया शिथिल हो जाये। अब

भावना कैसी होती है यह कहते हैं, कि 'जीव को सत्पुरुष का योग होने पर तो ऐसी भावना होती है कि अब तक मेरे जो प्रयत्न कल्याण के लिये थे वे सब निष्फल थे,..' उसको यह ज्ञान हो जाता है। अब तक मैंने धर्म के नाम पर बहुत धमाल की। अनेक कारणों से मैंने धर्म को साधा ऐसा लगा लेकिन वह सब मेरा निष्फल था उसका ज्ञान उसे हो जाता है। अब तक जो किया वह सब निष्फल! मेरे आत्महित के लिये कुछ नहीं किया। या तो लोकसंज्ञा से किया है या तो ओघसंज्ञा से किया है। या तो लोगों के सामने देखकर किया है कि लोग मेरी गिनती कैसे करते हैं? और या तो ओघ-ओघ पहचाने बिना, समझे बिना करता रहा। इस बात का उसे ख्याल आ जाता है। जब सत्पुरुष का योग होता है और पहचान होती है तब उसे ख्याल आ जाता है कि अब तक का मेरा आत्मकल्याण के लिये जो प्रयत्न था वह सब झूठा था, निष्फल गया है।

'लक्ष्य बिना के बाण की भांति थे;...' अंधेरे में गोली चलाता ही रहे। सामने किस पर गोली चलानी है (यह मालूम नहीं)। लेकिन उसे अंधेरे में दिखे भी क्या? कुछ दिखता नहीं। मारते रहो, ऐसी बात है। वह 'लक्ष्य बिना के बाण की भांति थे परंतु अब सत्पुरुष का अपूर्व योग हुआ है,...' यह सब विचार अपने आत्मा की ओर देखकर करना है, अन्य कोई आत्मा के सामने देखकर नहीं करना है। इस जीव ने अभी तक ऐसा ही किया है, अपने जीव ने अभी तक ऐसा ही किया है। अब, स्वयं को फेरफार करना है। और अब तक ऐसा हुआ वह स्वाध्याय का विषय नहीं है, वह स्वाध्याय का सच्चा प्रकार नहीं है। वास्तव में तो वह स्वाध्याय का दोषित प्रकार है। क्योंकि स्वाध्याय तो स्वलक्ष से करने का है। परलक्ष मिटाने के लिये यहाँ आया है, उसके बजाय यहाँ भी परलक्ष को मुख्य करता रहे और स्वलक्ष चूक जाये तो वह स्वाध्याय करने नहीं आया है। वो दूसरे के सामने देखने आया है, वही बात पक्की करने आया है, अधिक दृढ़ करने आया है।

'परंतु अब सत्पुरुष का अपूर्व योग हुआ है, तो मेरे सब साधनों के सफल होने का हेतु है।' अब जो कुछ करुँगा उसमें मुझे लाभ होगा, आत्मलाभ होगा। उनकी

आज्ञा से करुँगा। समझकर करुँगा, कोई बात समझे बिना नहीं करुँगा। उसमें किस तरह आत्मलाभ है उसका ख्याल करूँगा और अब मेरे जितने भी साधन है वह सफल होने का उसमें निमित्तत्व आयेगा। बाह्य साधन तो निमित्त है परन्तु कब? कि अन्दर में यथार्थ समझ हो तब।

'लोकप्रसंग में रहकर जो निष्फल, निर्लक्ष्य साधन किये, उस प्रकार से अब सत्पुरुष के योग में न करते हुये, अवश्य अंतरात्मा में विचारकर दृढ़ परिणाम रखकर, जीव को इस योग में, वचन में जागृत होना योग्य है, जागृत रहना योग्य है और उस-उस प्रकार से भावना करके जीव को दृढ़ करना कि जिससे उसे प्राप्त हुआ योग 'अफल' न हो जाये और सब प्रकार से इसी बल को आत्मा में वर्धमान करना कि इस योग से जीव को अपूर्व फल होना योग्य है उसमें अंतराय करने वाला 'मैं जानता हूँ, यह मेरा अभिमान, कुलधर्म का और जिसे करते आये हैं उस क्रिया का त्याग कैसे किया जा सके ऐसा लोकभय, सत्पुरुष की भक्ति आदि में भी लौकिकभाव, और कदाचित् कोई पंचविषयाकार ऐसे कर्म को ज्ञानी के उदय में देखकर वैसे भाव का स्वयं आराधन करना इत्यादि है,' वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ है।' अनंतानुबंधी कषाय की पहचान करवायी है। देखो, जीव को कैसे परिणाम होते हैं!

फिर से, 'लोकप्रसंग में रहकर...' लोकप्रसंग में रहकर यानि क्या? कि हर जगह, जहाँ-जहाँ धर्म की क्रियायें होती है वहाँ एक से अधिक लोग इकट्ठे होते हैं। हम लोग यहाँ अपना विचार करे तो शास्त्रवांचन होता है तो पाँच-पच्चीस लोग इकट्ठे होते हैं न? पाँच-पच्चीस-पचास लोग इकट्ठे होते हैं तो उसमें अपनी कोई गिनती करनी कि इन सबसे मैं कुछ ज्यादा समझता हूँ। मैं कुछ ज्यादा जानता हूँ, मेरा अभ्यास ज्यादा है, मेरा क्षयोपशम ज्यादा है अथवा मेरी योग्यता भी दूसरे से ज्यादा है। ऐसा कुछ न कुछ दूसरे की बराबरी में जो कोई परिणाम हो उसे लोकप्रसंग कहने में आता है।

लोकप्रसंग यानि क्या? कि लोगों की तुलना में अपनी बात रखनी, स्वयं को रखना। फिर उसमें पहलू कोई भी हो। किसी को ऐसा होता है कि मैं दूसरों से ज्यादा

दान देता हूँ, तो किसी को ऐसा होता है कि मैं दूसरों से ज्यादा शास्त्र पढ़ता हूँ, तो किसी को ऐसा होता है कि मैं दूसरों से संयम ज्यादा पालता हूँ। मेरा त्याग बढ़ जाये ऐसा है। इस प्रकार दूसरे दूसरे की अपेक्षा मैं ऐसा, दूसरे की अपेक्षा मैं ऐसा, दूसरे की अपेक्षा मैं ऐसा. वह लोकप्रसंग है। यह दृष्टि छोड़ देने जैसी है, यह दृष्टि छोड़ देने योग्य है। दूसरे की बात छोड़ दे, तू तेरे आत्मा में देख। तेरे हित-अहित का विचार कर। दूसरे का विचार ही तू छोड़ दे। ऐसा यहाँ कहने का अभिप्राय है।

क्या कहते हैं? 'लोकप्रसंग में रहकर जो निष्फल, निर्लक्ष्य साधन किये,...' वह सब साधन निष्फल गये हैं और आत्मिहत के लक्ष्य बिना के है, लोक-लक्ष्य वाले हैं, आत्मिहत के लक्ष्य वाले नहीं है। इसीलिये (उसका लक्ष्य) रखकर 'जीव को इस योग में, वचन में जागृत होना योग्य है,...' इस योग में और वचन में (अर्थात्) सत्पुरुष के योग में, उनके वचन में जागृत होना योग्य है अथवा जागृत रहने योग्य है। 'और उस-उस प्रकार से भावना करके...' (यानि) जागृति का प्रकार भाकर 'जीव को दृढ़ करना कि जिससे उसे प्राप्त हुआ योग 'अफल' न हो जाये...' इस तरह उसे दृढ़ता रखनी कि अब यह योग मिला है वह मुझे निष्फल नहीं जाने देना है। अभी तक के मेरे सत्पुरुष के योग निष्फल गये। अब मुझे यह योग निष्फल नहीं जाने देना है। ऐसी उसे गाँठ मारनी चाहिये, अंतर में यह गाँठ मार देनी चाहिये कि अब इस योग को निष्फल नहीं जाने देना है।

'और सब प्रकार से इसी बल को आत्मा में वर्धमान करना...' और ऐसा बल वर्धमान करना, उसमें बलवान पना करना कि 'इस योग से जीव को अपूर्व फल होना योग्य है;..' (अर्थात्) यदि मैं समझूँ और यदि मेरा आत्महित का यथार्थ लक्ष्य हो तो मुझे कोई अपूर्व फल प्राप्त हो ऐसा है। अनन्तकाल में जो फल प्राप्त नहीं हुआ ऐसा फल प्राप्त हो ऐसा है। और उसमें अंतराय क्या है? 'मैं जानता हूँ...' मुझे भी खबर पड़ती है। यह 'मैं जानता हूँ' उसमें महादोष ऐसा जो स्वच्छंद है, उस स्वच्छंद का यह एक दूसरा रूप है। 'मैं जानता हूँ' यह स्वच्छंद का रूप है। यह बहुत बड़ा दोष है।

मुमुक्षु:- दूसरों को धर्मलाभ होगा।

पूज्य भाईश्री:- दूसरे को धर्मलाभ हो ऐसी भावना (और) मुझे (धर्म का लाभ) हो ऐसी अपनी भावना नहीं? मुझे धर्म का लाभ कैसे हो उस भावना को छोड़कर? जिसके पास धर्मरूपी संपत्ति न हो यानि जो धर्म में दिरद्र हो, भिखारी हो। भिखारी दान दे यह बात शक्य है? जो स्वयं ही भीख माँगता हो वह दूसरे को कैसे दान देगा? वह तो भीख माँगने वाला है। अथवा जो (स्वयं) धर्म से संसार को तिरता नहीं, इस संसार में जो डूब रहा है, वह डूबता हुआ दूसरे को कैसे बचायेगा? बचा सकेगा? वो स्वयं दूसरे को बचा सकेगा क्या? बचाने जायेगा तो उल्टा डूबायेगा। क्या होगा कहो? धर्मलाभ होगा या क्या होगा? ऐसा है। इसीलिये दूसरे को धर्म प्राप्त कराना तो एक ओर रहा परन्तु धर्म किससे प्राप्त करना यह भी बहुत विचार करने जैसा विषय है। जिससे धर्म माँगना वह धर्म प्राप्त है कि नहीं उसका पहले प्रमाण करना। वे तो बहुत बातें कर गये हैं।

पत्रांक ४६६, पृष्ठ-३८२। पहला वचन है, क्या लिखा है देखिये, 'जिससे धर्म माँगे, उसने धर्म प्राप्त किया है या नहीं उसकी पूर्ण चौकसी करे, इस वाक्य का स्थिर चित्त से विचार करे।' ऐसे ही अविचारीपना करने जैसा नहीं है कि जो सुनाने बैठे हो, अपने को तो सुनना है, जय नारायण, कहीं भी जाओ, बैठ जाओ। हमें धर्म सुनने बैठना है न, बात बहुत अच्छी करते हैं। इस प्रकार धर्म सुनने का नहीं होता। सोने का गहना लेने जाता है या हीरे का गहना लेने जाता है तो गाँव में तो सौ-दो सौ दुकान होती है, आँख मुंदकर कोई भी दुकान में चला जाता है कि हमें तो नगद देकर लेना है, कहीं से भी ले लो। कीमती चीज कोई भी दुकान से नहीं लेते हैं। लेकिन उसने board बहुत अच्छा लगाया हो और furniture भी बहुत अच्छा बनाया हो और गद्दी पर सुन्दर लड़का बैठा हो। इसकी दुकान अच्छी है इसीलिये वहाँ से लेते हैं, ऐसे लिया जाता है? कि उसकी दुकान अच्छी है, परन्तु उसका खर्च अपने ऊपर है। क्या विचार करेगा? कि इसका सब खर्च अपने ऊपर चढ़ेगा। कमाने बैठा है, हमें कुछ देने

नहीं बैठा है। विचार करता है कि नहीं? (दूसरे को) पूछता है कि भाई, हमें एक लाख, दो लाख, पाँच लाख, पच्चीस लाख के गहने खरीदने हैं। (घर में) प्रसंग है (तो) किसके यहाँ से लेंगे? घर के बाहर कदम रखने से पहले उसका निर्णय करेगा। बाजार में जाने से पहले, कदम उठाने से पहले वह निर्णय करेगा कि किसकी दुकान पर जाना है? हम बाजार में सब दुकान देखेंगे और उसमें अच्छी लगेगी उसमें से लेंगे, ऐसा नक्की करता है? नहीं, जिसकी दुकान में ठगना न हो, खोटा माल न हो, नकली माल न हो, भले ही हमें असल की परख करनी नहीं आती है, फिर भी कितना विचार करता है। कि भाई, पूछ लेते हैं कि इस बाजार में हमारे एक रिश्तेदार भी है, दलाल है अथवा valuer है कि कुछ है, उसको पूछते हैं कि भाई, इन सब व्यापारियों में से किसके यहाँ से माल लेना चाहिये? (कहीं भी) माल लेने जाता है? उससे भी यह चीज कीमती है। वह सोने और हीरे के गहनों से यह चीज ज्यादा कीमती है। वहाँ तो दस लाख का माल लेगा तो दो-पाँच लाख का नुकसान होगा, इसमें तो तेरे कितने भव का नुकसान होगा यह मालूम नहीं पड़ेगा। तहस-नहस हो जायेगा। कहीं भी गड़बड़ी हुयी तो तहस-नहस हो जायेगा, अनन्त जन्म-मरण और दुःख में से कोई छुड़ाने नहीं आयेगा।

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- अभी कच्ची भूमिका है। सबकी सुनेगा और मेरे अनुसार करूँगा (ऐसा करने जायेगा तो) कौन-सा विपरीत अभिप्राय घुस जायेगा तुझे मालूम नहीं पड़ेगा। तेरी श्रद्धा कच्ची-पक्की है। कौन-सी विपरीत श्रद्धा घुस जायेगी तुझे ही मालूम नहीं होगा, ऐसा होगा।

(यहाँ) क्या कहते हैं? (इस विषय में) कि जागृत रहना योग्य है। उसमें उस अपूर्व फल प्राप्त होने में अंतराय क्या होता है? 'मैं जानता हूँ' ऐसा जो अभिमान है वह अंतराय रूप होता है। उसे ऐसा नक्की करना चाहिये कि मैं कुछ जानता नहीं, मुझे कुछ मालूम नहीं पड़ता और 'मैं जानता हूँ' ऐसा बड़ा अंतराय अब मुझे बीच में नहीं

लाना है। ये तो नब्ज पकड़ी है। जीव कहाँ भूल करता है और कैसा-कैसा उसे रोग होता है जिस कारण से उसे नीरोगता नहीं आती, ये सब उन्होंने (कृपालुदेव ने) निदान किया है।

'मैं जानता हूँ, यह मेरा अभिमान, कुलधर्म का और जिसे करते आये हैं उस क्रिया का त्याग कैसे किया जा सके ऐसा लोकभय,..' लोगों का भय लगे कि लो, आप सोनगढ़ जाने लग गये? आप फलानी जगह जाने लग गये? और लोग कहने भी आये। लेकिन जो कोई कहने आता है, वह छुडाने नहीं आयेगा। इसीलिये मुमुक्षु को कम से कम परिणाम में इतना बल होना चाहिये कि लोग मेरी कुछ भी बातें करे, मुझे सत्य के साथ सम्बन्ध है, सत्य को अंगीकार करना है। मुझे मेरे आत्मा का हित कर लेना है, आयुष्य पूरा हो जाये उससे पहले मुझे दूसरा कुछ करना नहीं है। लोगों को जो कहना है कहे। मुझे किसी के सामने देखना नहीं है। संसार में भी कोई बात की ज़िद्द करे तो भी लोगों के सामने नहीं देखता। फलाने ऐसा कहेंगे, फलाने ऐसा कहेंगे, कुछ नहीं। मुझे तो यही करना है। वह तो सामान्य बात हो तो भी पकड़ करता है कि नहीं? तो फिर ये तो परम हित की बात है। आत्मा के परम हित की बात है। उसमें लोगों के साथ क्या सम्बन्ध? इस विषय की लोगों को समझ कितनी है? लोगों से तो यह चीज अनजानी है, मार्ग ही अनजान है, उनका certificate क्या काम आता है? उनकी बात क्या काम आती है? अतः उस समाज का भय छूट जाता है। क्या कहते हैं? जो समाज को मुख्य करता है, वह हमेशा आत्मा को और आत्मा के हित को गौण करता है। जो आत्मा के हित को मुख्य करता है वह समाज की परवाह करता नहीं। उसे समाज का भय नहीं लगता। यह आमने-सामने बात है। 'कुलधर्म का और जिसे करते आये हैं उस क्रिया का त्याग कैसे किया जा सके ऐसा लोकभय, सत्पुरुष की भक्ति आदि में भी लौकिकभाव,..' (अर्थात्) मेरी भक्ति ज्यादा है, मैं सबसे ज्यादा भक्ति करता हूँ, मेरी अर्पणता भी ज्यादा है-ऐसा जो लोगों के सामने किया जाने वाला भक्ति का प्रकार वह लौकिकभाव है।

'और कदाचित् कोई पंचविषयाकार ऐसे कर्म को ज्ञानी के उदय में देखकर...' पूर्वकर्म का कोई ज्ञानी को उदय हो, जिसके कारण उनको व्यापार हो, गृहस्थी हो या दूसरे ऐसे कोई वैभव के साधन-संपन्न हो, उस प्रकार का पुण्ययोग हो तो उनके पास कोई पंचविषयाकार साधन हो, घर में अनुकूलता के साधन हो, ऐसा देखकर 'वैसे भाव का स्वयं आराधन करना...' (अर्थात्) मुझे ऐसा हो तो बहुत अच्छा, ऐसी जो भावना होती है 'इत्यादि प्रकार है। वही अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ है।' इसमें से कोई एक परिणाम हो (अर्थात्) 'मैं जानता हूँ' वहाँ से लेकर, समाजभय से लेकर, भिक्त में लौकिकभाव से लेकर, ज्ञानी के कोई भी साधन देखकर उसकी भावना होना, ये सब अनंतानुबंधी का प्रकार है।

'यह प्रकार विशेष रूप से समझना योग्य है;..' और ऐसे सब प्रकार, उस सम्बन्धित चर्चा-विचारना करके, सत्संग में विशेष रूप से समझना योग्य है। उसे खोल-खोलकर, ढूँढ-ढूँढ कर उसके जो भी प्रकार अपने में होते हो, स्वयं को जानने में आये ऐसे दूसरे में होता हो, तो उस विषय की चर्चा-विचारना करके विशेष रूप से यह बात समझने योग्य है और इस बात में अपनी भूल न हो ऐसी जागृति आना योग्य है।

यह विशेष समझना योग्य होने पर भी 'अभी जितना हो सका उतना लिखा है।' इस पत्र में तो जितना हमारा विकल्प चला और प्रवृत्ति होने योग्य थी उतना लिखा है। परन्तु फिर भी हम कहते हैं कि यह विशेष-विशेष विचार करने योग्य है, ऐसी बात ली है।

इस तरह यह पत्र स्वाध्याय करने जैसा है। मुमुक्षु जीवों को बारंबार स्वाध्याय करने योग्य पच्चीस-पचास पत्र है उसमें यह पत्र भी बहुत महत्त्वपूर्ण पत्र है।



प्रवचन-17, पत्रांक-522 (2)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्रांक-५२२, पृष्ठ-४२६। कल चल गया उसमें से थोड़ा संक्षेप में वापस लेते हैं। वर्तमानकाल में ज्ञान प्राप्ति का निमित्त चार में से दो बचे हैं। एक सर्वज्ञ वीतराग जिनेन्द्रदेव, केवलज्ञानी परमात्मा इस काल में नहीं हैं। चौबीस तीर्थंकर हो गये और केवलज्ञान का समय भी समाप्त हो गया। भावलिंगी मुनि छठवें-सातवें गुणस्थान में क्षण-क्षण में स्वरूप में लीन होने वाले, उनकी भी वर्तमान में उपस्थिति देखने में नहीं आती। मुनि के, साधु के वेष में जो कोई मनुष्य है उसमें यह गुणस्थान देखने में नहीं आता। उनमें भी ज्ञान प्राप्ति का निमित्तत्व रहता नहीं है।

(अब) दो निमित्त हैं उसमें एक सत्शास्त्र है और एक ज्ञानी चतुर्थ गुणस्थानवर्ती सत्पुरुष है। सत्शास्त्रों का निमित्त, मात्र पूर्वभव के संस्कार लेकर आया हो उसको ही ज्ञान प्राप्ति होती है, तो वह मर्यादित है। इसीलिये मुमुक्षुओं को तो एक सत्पुरुष ही निमित्त के रूप में रहते हैं। और ऐसे सत्पुरुष-ज्ञानीपुरुष की भी वर्तमान काल में बहुत दुर्लभता देखने में आती है। अरबों में कोई एक, जो कोई सत्पुरुष है वह अरबों मनुष्यों में, करोड़ो नहीं परन्तु अरबों मनुष्यों में कोई एक देखने में आते हैं। इतनी जो दुर्लभता है उस पर से उनका महत्व कितना है कि यदि ऐसे कोई ज्ञानीपुरुष मिले तो उन ज्ञानीपुरुष की पहचान हो तो जीव का दर्शनमोह और अनंतानुबंधी का नाश होकर स्वयं को ज्ञानदशा की प्राप्ति होगी।

ज्ञानीपुरुष के विषय में ५११ (पत्र में) वह परिभाषा है, पृष्ठ-४११, पत्र-५११। 'आत्मार्थ के सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है...' पॉराग्राफ की तीसरी पंक्ति है। 'आत्मार्थ के सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है...' अर्थ यानि यहाँ प्रयोजन। एक अपना आत्मकल्याण साधने का ही जिसको प्रयोजन है, दूसरी कोई स्पृहा नहीं होती। कोई भी प्रकार की दूसरी स्पृहा हो तो वह ज्ञानीपुरुष नहीं है अथवा सत्पुरुष नहीं है।

'एक अपने आत्मार्थ सिवाय दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है और वह आत्मार्थ जिसने साधा है और पूर्वकर्म का प्रारब्ध भोगने हेतु जिसका देह है।' देह प्रारब्ध को भोगता है, आत्मा प्रारब्ध को भोगता नहीं। फर्क है, प्रारब्ध भोगने में आत्मा प्रारब्ध को नहीं भोगता, देह प्रारब्ध को भोगता है।

ऐसे ज्ञानीपुरुष 'सन्मुख जीव को केवल आत्मार्थ में ही प्रेरित करते हैं;...' इसके सिवाय दूसरा काम नहीं करते। उसका आत्मकल्याण हो इतना लक्ष्य रखकर जो कुछ उनको प्रेरणा देनी हो वह देते हैं, इसके सिवाय दूसरी बात में पड़ते नहीं। ऐसे जो ज्ञानीपुरुष उनकी आज्ञा में यदि कोई मुमुक्षु जीव रहे तो वह अवश्य तिर जायेगा। वह अनेक प्रकार की भूल-भूलैया वाला जो ये प्रकार है, बाह्य संयोग का, प्रसंग का, पूर्वकर्म के उदय का, उसमें से बच जाता है। डूबने से बचता है, संसार में डूबने से वह बच जाता है।

ऐसे ज्ञानीपुरुष है, (कि जिन्हें) आत्मार्थ के सिवाय कोई प्रयोजन नहीं है। वह आत्मार्थ जिसने साध लिया है फिर भी जो यहाँ रहे हैं वह तो पूर्वकर्म के प्रारब्ध के कारण रहे है और सन्मुख हुये जीव को वे मात्र आत्मार्थ में ही प्रेरित करते हैं। बाह्य प्रवृत्ति में (कोई) हेतु हो तो सामने वाले जीव के आत्मार्थ का, अंतर प्रवृत्ति में हेतु हो तो अपना आत्मार्थ साधने का। इसके सिवाय उनके जीवन में दूसरी कोई बात नहीं है वे सत्पुरुष है। ऐसे सत्पुरुष की यदि पहचान हो तो जिसे पहचान होती है उसे अवश्य अनंतानुबंधी और दर्शनमोह का नाश होता है।

इसीलिये ऐसा कहा कि ऐसे सत्पुरुष का योग हो तो क्यों अनंतानुबंधी और दर्शनमोह का नाश होता है? कि उसको दुराग्रह मिटेगा, मताग्रह मिटगा, कदाग्रह मिटेगा, कुल-संप्रदाय का सब आग्रह मिटेगा और विकथा आदि अपने संयोगो में सभी जगह से नीरसता प्राप्त होगी, नीरस हो जायेगा। ऐसे सत्पुरुष का योग होने के पश्चात् आत्मज्ञान कुछ दुर्लभ नहीं है। यदि योग हो और स्वयं की पात्रता हो तो। योग हो और पात्रता न हो तो भी आत्मज्ञान होने की संभावना नहीं है। इसीलिये (सत्पुरुष प्रवचन-17,

का योग होने के पश्चात्) आत्मज्ञान कोई दुर्लभ नहीं है। परन्तु जब पहचान होती है तब उस सत्पुरुष में, उनके वचन के विषय में, उनके वचन में रहा हुआ जो आत्मार्थ ऐसे आशय में जीव को-मुमुक्षु जीव को अत्यंत भक्ति और प्रीति होती है और ऐसा न हो तो उसको ऐसा जानना चाहिये कि अभी उसको आत्महित का विचार उत्पन्न नहीं हुआ है। यह एक प्रमाण रख दिया है। मुमुक्षु जीव का यह एक प्रमाण रख दिया है।

मुमुक्षु:- मुमुक्षु जीव की यह निशानी-कदाग्रह, मताग्रह, दुराग्रह नहीं होते।

पूज्य भाईश्री:- उसको मताग्रह, दुराग्रह नहीं होता। सत्पुरुष में, उनके वचन में, उनके आशय में अत्यंत प्रीति-भक्ति होती है। पुनः उसको पूर्व का विचार आये तब ऐसा विचार आता है कि अब तक जो मैंने किया वह सब लक्ष्य बिना के बाण की भाँति मेरा निष्फल है। अभी तक मैंने किया उसमें मेरा कुछ आत्मकल्याण किया नहीं है। यह भी उसे ख्याल में आता है इसीलिये अपना साधन है उसकी भूल है उसको वह सुधार लेता है। ऐसा कहना है। साधन की जो भूल है, उससे साध्य में भूल है वह सुधारता है।

बात वहाँ तक ली कि कोई भी प्रकार से 'मैं जानता हूँ' ऐसे अभिमान में न आये, स्वच्छंद में न आये। कोई भी साधन करते हुये लौकिकभाव में न आये। यानि लोगों में, जो साधन करते हुये मेरी धार्मिक प्रतिष्ठा बढ़े उस प्रकार की अपेक्षा बुद्धि में न आये और कुलधर्म की क्रिया का त्याग करने में उसे कोई संकोच नहीं होता। अब तक कुलधर्म की क्रिया करते आये हैं, अब कैसे छोड़े? अब तक प्रतिक्रमण किये, सामायिक की, फलाना किया, ढ़िकना किया, ये किया, पूजा-भक्ति हमारे तरीके से की। उन सबमें जो उसे भूल दिखी उसमें वह सुधार कर लेता है। और ज्ञानी का कोई पुण्योदय देखे तो उस प्रकार की अपेक्षा स्वयं में नहीं रखता। इत्यादि विषय यहाँ संक्षेप में कहा है। अब नीचे तीसरे पॉराग्राफ से शुरू होता है।

'उपशम, क्षयोपशम और क्षायिक सम्यक्त्व के लिये संक्षेप में व्याख्या कही थी,..' उपशम सम्यक्त्व कैसा होता है? क्षयोपशम सम्यक्त्व कैसा होता है? क्षायिक सम्यक्त्व कैसा होता है? उसकी व्याख्या संक्षेप में कही थी। 'तहुसारी व्याख्या त्रिभोवन के स्मरण में है।' अंबालालभाई ने लिखा है (और) खंभात के दूसरे भाई का उल्लेख किया है।

'जहाँ-जहाँ इस जीव ने जन्म लिया हैं,..' अब तक क्या किया? कि 'जहाँ-जहाँ इस जीव ने जन्म लिया हैं, भव के प्रकार धारण किये हैं, वहाँ-वहाँ तथाप्रकार के अभिमान रूप से बरताव किया है;..' अभिमान रूप से यानि 'ऐसा मैं' (माना है)। मनुष्य हुआ, फलाना-फलाना मैं मनुष्य ऐसा उसे अहंपना वर्तता रहा। स्वयं एक आत्मा है उस प्रकार से वर्तता नहीं है, परन्तु स्वयं एक मनुष्य है ऐसा बरताव किया। तिर्यंच में गया तो स्वयं तिर्यंच हुआ है ऐसा मान लिया। चारों गति में जहाँ-जहाँ जिस-जिस प्रकार से उसने भव धारण किये हैं, वहाँ-वहाँ उस भव रूप स्वयं ने स्वयं को स्वीकार कर लिया है। 'जिस अभिमान को निवृत्त किये बिना...' उसे पर्याय बुद्धि कहते हैं। जिस भव की पर्याय रूप उत्पन्न हुआ उस पर्याय रूप बुद्धि, स्वयं ऐसा ही है ऐसा मानकर वर्तता है। उस प्रकार की बुद्धि निवृत्त किये बिना, उस प्रकार का अहंपना छोड़े बिना 'उस-उस देह का और देह के संबंध में आने वाले पदार्थों का इस जीव ने त्याग किया है,..' अनंतबार जो-जो देह प्राप्त किया उस देह को भी उसने छोड़ा है और देह के संयोगी पदार्थ, सगे-सम्बन्धी, कुटुंब, मकान उन सब को भी उसने छोड़ा है। छोड़ा है यानि आयुष्य पूर्ण होने पर उसको छोड़ना ही पड़ता है। परन्तु उस वक्त उसने पर्याय बुद्धि का त्याग नहीं किया। देह छोड़ा तब पर्याय बुद्धि रखकर देह छोड़ा। 'मैं फलाना हूँ और अब मैं मर जाऊँगा' ऐसा उसने माना है। 'अभी मैं फलाने मनुष्य के रूप में जीवित हूँ, भविष्य में फलाना मनुष्य के रूप में मर जाऊँगा' अर्थात् जिस पर्याय रूप उत्पन्न हुआ है उसकी अहंबुद्धि रखकर देह छोड़ा है। संयोग छोड़े हैं तो अहंबुद्धि रखकर छोड़े हैं। दान दिया तो मैंने इतना दान दिया, उसमें अहंपना रखकर दान दिया। वैसे ही त्याग किया तो मैंने इतना त्याग किया, मेरा कुटुम्ब मैंने छोड़ा, मेरे

संयोग मैंने छोड़े, इस तरह अपनत्व रखकर त्याग किया है। मृत्यु होती है तब त्याग किया है या हाज़िर हो तब त्याग किया है, परन्तु अपनत्व रखकर त्याग किया है। अब, त्याग का हेतु तो अपनत्व छुड़ाने का था, उसके बदले पहले ममत्व रखकर बाद में त्याग किया है। ममत्व ज्यों का त्यों रह गया। इस प्रकार पूर्व में त्याग किया है।

'अर्थात् अभी तक उस भाव को ज्ञान विचार द्वारा क्षीण नहीं किया है,..' ऐसा जो अहंपना का भाव, उसको ज्ञान विचार द्वारा अर्थात् मैं एक ज्ञानमात्र आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, मैं तो चैतन्य स्वरूपी आत्मा हूँ ऐसे ज्ञान विचार द्वारा-ज्ञानभाव द्वारा ऐसा अहंपना का भाव, ममत्व का भाव, अपनत्व का भाव क्षीण नहीं किया है। क्षीण कर देना चाहिये। वस्तु के स्वरूप ज्ञान का अनुसरण करके, स्वरूप ज्ञानपूर्वक उस अहंपने का भाव क्षीण करना चाहिये। जैसे मनुष्य का शरीर कृष हो जाता है, गल जाता है, ऐसे यहाँ कहते हैं कि ऐसा अहंपना का जो अनादि का अनंतानुबंधी का कषाय है और दर्शनमोह है उस मोह को क्षीण कर देना चाहिये। उसे क्षीण नहीं किया है।

दूसरे अर्थ में बात करे तो मुमुक्षु की भूमिका यानि अनंतानुबंधी और दर्शनमोह को क्षीण करने का पुरुषार्थ करने वाला मुमुक्षु। यदि मुमुक्षुता में अनंतानुबंधी और दर्शनमोह क्षीण न हो तो मुमुक्षुता में उसने जो कुछ किया वह सब निष्फल किया है, अफल किया है, उसकी कुछ भी सफलता नहीं है। यह स्पष्ट बात है।

'उस भाव को ज्ञान विचार द्वारा क्षीण नहीं किया है, और वे-वे पूर्वसंज्ञाएँ अभी जैसी की तैसी इस जीव के अभिमान में चली आती है,..' पूर्वसंज्ञाएँ यानि पूर्व के संस्कार। मिथ्या संस्कार, विपरीत संस्कार अनेक भव में आत्मा में ठूँस ठूँसकर भरे हैं, वह अभी ज्यों के त्यों चले आ रहे हैं, क्षीण नहीं किये हैं। ज्ञान विचार द्वारा उसको क्षीण नहीं किया है। 'यही सारे लोक की अधिकरण क्रिया का हेतु कहा है,..' सारे लोक का आधार लेकर फिरता है। पूरी सृष्टि का आधार। वेदांत में यह विषय ज्यादा चलता है-अधिकरण का विषय। २५ वें वर्ष में एक पत्र आ गया है कि अधिकरण

यानि क्या? आधार लेना। आत्मा स्वयं अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप का-शुद्धात्म स्वरूप का आधार लेने के बदले जब राग का, देह का और पर्याय का आधार लेता है तब वह पूरे जगत के भव धारण करता है। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव पाँचों परावर्तन में पूरे लोक में भिन्न-भिन्न पर्याय में जन्म-मरण करता है उसका कारण क्या? कि उसने आधार लिया है लोक का। जगत का आधार लिया है इसीलिये जगत में परिभ्रमण करता है।

मुमुक्षु:- ८८८ पृष्ठ पर अधिकरण क्रिया का अर्थ दिया है। 'तलवार आदि हिंसक साधनों के आरंभ-समारंभ के निमित्त से होने वाला कर्मबंधन। पत्रांक-५२२.'

पूज्य भाईश्री:- हाँ, वह शब्द का अर्थ किया है। अर्थात् उसके अभिप्राय में पूरे जगत का कार्य करने का, आरंभ-समारंभ करने की वृत्ति खड़ी है। वर्तमान में तो जितना उदय हो उतना ही आरंभ-समारंभ कर सकता है परन्तु अभिप्राय कितना है? कि पूरे जगत का काम करने का अभिप्राय है।

मुमक्षु:- हाथ में तलवार लेकर कोई आये तो चला दूँ ऐसा अभिप्राय पड़ा है?

पूज्य भाईश्री:- राजीव गांधी pilot थे उसमें से Prime minister हुये तो पूरे हिन्दुस्तान की व्यवस्था करने लगे कि नहीं? वह संज्ञा सब जीव में पड़ी है। कल xyz किसी को भी Prime minister बनाने में आये तो पूरे हिन्दुस्तान की व्यवस्था करे और दुनिया का पदाधिकारी बनाये तो पूरी दुनिया की व्यवस्था करे। वह भाव तो जीव में पड़े ही है। क्या? वह कुछ उसे नया सीखना नहीं पड़ता। चार संज्ञा है उस संज्ञा के कोई परिणाम उसे-जीव को सीखाने नहीं पड़ते। बिना सीखे ही उसमें वह संस्कार (पड़े ही है)। वह पूर्वसंज्ञा ली न? पूर्वसंज्ञा जैसी की तैसी चली आती है और 'वही सारे लोक की अधिकरण क्रिया का हेतु कहा है,..' सारे लोक की क्रिया करनी हो तो उसका आधार स्वयं हो जायेगा। मेरे आधार से यह सब चलता है, मैं प्रबंध करता हूँ तो ये सब चल रहा है।

मुमुक्षु:- कल कसाईखाना चलायेगा?

पूज्य भाईश्री:- सब करेगा। जितना उसको लाभ दिखेगा उतना सब करता रहेगा। जहाँ उसने जिस-जिस संयोग में लाभ माना है, वह कुछ किये बिना रहेगा नहीं, ऐसा कहना है।

'जिसे भी विशेष रूप से यहाँ लिखा नहीं जा सका है।' उसका विस्तार नहीं किया है। 'पत्रादि की नियमितता के लिये विचार करुँगा।' ऐसा कहते हैं कि आपके पत्र निमयित रूप से मिलते रहे तो अच्छा। वे स्वयं अनियमित है इसीलिये विचार करते हैं कि मैं अवश्य लिखने का प्रयत्न करुँगा।

यह ५२२ (पत्र पूरा हुआ)



प्रवचन-18, पत्रांक-467 (1)

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत, पत्र-४६७, पृष्ठ-३८९। खंभात के त्रिभोवन भाई ऊपर का पत्र का अनुमान है। पत्र अपूर्ण रहा है, पत्र का विषय है-ज्ञानीपुरुष की पहचान का विषय है। ज्ञानीपुरुष की पहचान करने में भूल हुयी है। अनादि से भूल हुयी है। किस कारण से भूल हुयी है और कैसे पहचान हो, ऐसा महत्व का विषय इस पत्र में है।

'अनादिकाल से विपर्यय बुद्धि होने से, और ज्ञानीपुरुष की कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देने से ज्ञानीपुरुष के विषय में विभ्रम बुद्धि हो जाती है, अथवा जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति उस-उस चेष्टा का विकल्प आया करता है।' क्या कहते हैं? कि एक तो इस जीव को अनादिकाल से ज्ञान में विपर्यास है। विपर्ययबुद्धि यानि ज्ञान में विपर्यास। ज्ञान में विपर्यास यानि ज्ञेय को जैसा है वैसा यथार्थ रूप से जानने के बदले अन्यथा जानना अथवा विपरीत रूप से जानना ऐसा प्रकार जिस ज्ञान में उत्पन्न होता है। उसे ज्ञान का विपर्यास कहते हैं अथवा ज्ञान की विपर्ययबुद्धि कहने में आता है। ऐसी स्थित इस जीव की अनादि से है। पहले कभी नहीं थी और नयी हुयी है ऐसा नहीं है और अनादि से है वह कभी मिटी हो, ऐसा भी नहीं है।

इसीलिये यह बात कहते हैं कि भले बुद्धि का क्षयोपशम चाहे जितना हो, चाहे जितने शास्त्र पढ़े हो तो भी बुद्धि का विपर्यास क्या है यह समझना महत्वपूर्ण है कि विपरीतता क्या होती है? खास करके प्रयोजनभूत विषय में, जो बुद्धि कुछ प्रयोजन सिद्ध न हो उस प्रकार से प्रवर्तती है, प्रयोजनभूत विषय में प्रयोजन की सिद्धि होने के बदले प्रयोजन सिद्ध न हो उस तरह जो मित काम करती है, वह भी बुद्धि का विपर्यास ही है। इस प्रकार बुद्धि के विपर्यास में विषय थोड़ा गहरा भी है और विशाल भी है। और यह प्रकार अनादि से जीव को चलता आया है।

यहाँ विषय लेना है-ज्ञानीपुरुष की पहचान के विषय में बुद्धि विपर्यास के कारण क्या होता है? अथवा अनन्तबार ज्ञानी मिलने पर भी इस बुद्धि विपर्यास के कारण स्वयं ज्ञानी को समझ नहीं सका है, पहचान नहीं सका है और इसी कारण से स्वयं को स्वयं का जो आत्मकल्याण होना चाहिये, अपूर्व कल्याण होना चाहिये उस विषय में यही विपर्यास बाधक साबित हुआ है।

मुमुक्षु:- ज्ञानी के श्रीमुख से सुने और उस प्रकार से निर्णय करे, फिर भी विपर्यास रहे?

पूज्य भाईश्री:- विपर्यास रहता है यानि जो ९९ बात में हाँ कहने के बाद, एक बात में ना कह देता है। यह एक विचारणीय विषय है। पुनः पुनः विचार करने योग्य विषय है कि ज्ञानीपुरुष को ज्ञानीपुरुष के रूप में बुद्धिगम्य रीति से संमत करने के बाद, क्या? किसी के कहने से नहीं, परन्तु स्वयं को बुद्धि में बात बैठती हो कि ऐसी बात तो ज्ञानी ही कर सकते हैं, अन्य नहीं कर सकते। आत्मा की ऐसी बात, अनुभव की ऐसी बात तो अनुभवी पुरुष के सिवाय कोई कर नहीं सकते। ऐसा लगने के बाद, ऐसा समझ में आने के बाद उनकी सौ बात में से एक बात बराबर नहीं है, ऐसा कब लगता है? ऐसा होने का कारण क्या? यह विचार करने जैसा विषय है। कि ऐसा होने का कारण कि जो माना है उसमें अभी विपर्यास खड़ा है। यह जो विपरीत अभिनिवेश कहो, विपरीत अभिप्राय कहो या विपर्यास कहो, वह कभी-कभी बाहर आता है। जैसे रोग कभी-कभी बाहर दिखता है, अन्दर व्याप्त हो, परन्त् गाँठ हो तब मालूम पड़ता है कि इसमें कुछ दूसरा लगता है। बेचैनी रहा करती थी परन्तु मालूम नहीं पड़ता था, लेकिन ये गाँठ निकली तब मालूम पड़ा कि रोग कुछ बाहर आया। वह उसके जैसी बात है कि अन्दर में रोग पूरा-पूरा भरा है, एक विपर्यास बाहर दिखता है उस पर से उसका रोग कितना है यह समझ में आ सकता है, नाप सकते हैं। ऐसी बात है। वह एक ९९ को धो डालता है। एक ९९ को नहीं, वह एक ९९९ को धो डालता है।

एक दूसरा दृष्टान्त लेते हैं। एक व्यक्ति रोज जिन मन्दिर में आकर पूजा करता है। (और कहता है कि) हे प्रभु, तू ही एक सच्चा देव है। इस जगत में तू ही एक सच्चा देव है। दूसरा कोई मुझे सच्चा देव नहीं दिखता है। फिर कभी वह कुदेव के मन्दिर में दर्शन-पूजा करने जाता है तो (जिन मन्दिर में) एक हजार बार गया था, वह सब कहाँ गया? कि उस हजारों बार में एक विपर्यास खड़ा था। वो विपर्यास बाहर दिखाई दिया, जब वहाँ गया। यह बताता है कि पहले से भी अन्दर की जो बात है वह मूल में से साफ हुयी नहीं है, ऊपर-ऊपर से चला है। 'हाँ' भी ऊपर-ऊपर से भरी है। पहचान करके हाँ नहीं भरी है। इसीलिये तो यह प्रश्न की चर्चा किये थे कि व्यक्ति पैसे देकर लाखों रुपयों का गहना खरीदता है इसीलिये उसको सोने की या हीरे परख होती है, यह कुछ मानने जैसा नहीं है, यह मान सके ऐसी बात नहीं है। और भले खरीद न सके तो भी जो पहचानता है, वह पहचानता है। उसके पास पहचान है लेकिन खरीदने के पैसे नहीं है, इसीलिये नहीं पहचानता है ऐसा कुछ नहीं है। पैसा देकर माल लेता है इसीलिये पहचानकर लेता है ऐसा भी नहीं है। यह समझ में आये ऐसी बात है। ऐसा ही बना है।

मुमुक्षु:- श्रीगुरु के साथ रहने पर भी ऐसी मति?

पूज्य भाईश्री:- नजर के सामने है कि नहीं? नजर के सामने देखने मिले ऐसी बात है। कोई कल्पना करने की बात नहीं है, इसमें वास्तिवकता है कि एक जीव ज्ञानी को संमत करता है वही जीव कभी ऐसा कहता है कि नहीं, ज्ञानी कि यह बात बराबर नहीं है, यह बराबर नहीं है। ऐसा कब लगता है? कि उसने ज्ञानीपुरुष को पहचाना नहीं है। वह किस विधि से ज्ञानी हुये हैं? कैसे ज्ञानी हुये हैं? क्या करते हुये ज्ञानी हुये हैं? उनका उपयोग कितना सूक्ष्म हुआ कि तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वभाव को उन्होंने ग्रहण किया। उसमें स्थूलता का कितने पैमाने में अभाव हुआ है, नाश किया है? और उस प्रकार का जो पारमार्थिक विवेक है, वह पारमार्थिक विवेक का ज्ञान में स्वरूप क्या

है? यह बात समझ में आयी हो और पहचान में आयी हो तो उसे कहीं भी ऐसा क्यों किया? ज्ञानी ऐसा क्यों कहते हैं? उस बात में शंका होती नहीं।

मुमुक्षु:- ऐसा विकल्प आ जाये, फिर भी दूसरा कोई भाव न हो परन्तु मेरी कुछ भूल है ऐसा विचार करे तो?

पूज्य भाईश्री:- उसको ऐसा ही विचार करना चाहिये कि मुझे विकल्प उठा उतनी अभी मेरी कचास है, क्या? अभी भी मेरी कहीं पर भूल हो रही है लगता है, क्या? और यह भूल मुझे समझ में नहीं आयेगी तब तक मुझे ज्ञानीपुरुष की भक्ति होने के बजाय अभक्ति हुये बिना रहेगी नहीं। भक्ति से दर्शनमोह मंद होता है, अत्यंत भक्ति हो, कैसी? अपूर्व पुरुष में अपूर्व भक्ति ऐसा लिया है, क्या? अपूर्व विचार से-अपूर्व आत्मकल्याण के विचार से, ऐसी स्थिति में आता है। भगवान में किसीको भूल दिखती है? सर्वज्ञ परमात्मा में भूल लगती है? नहीं लगती न? तो सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से क्या अंतर है ये तो कहो?

गुरुदेव ऐसा कहते थे कि एक तिर्यंच का सम्यग्दर्शन और एक सिद्ध परमात्मा का सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से विचार करने में आये तो दोनों समान है। क्या कहते थे? दोनों का सम्यग्दर्शन समान है ऐसा नहीं बोलते थे, क्या? सम्यग्दर्शन की अपेक्षा से देखा जाये तो दोनों समान है, ऐसा कहते थे। सम्यग्दर्शन कैसे होता है? सम्यग्ज्ञान कैसे होता है? यह विषय बहुत महत्व का है और उसी का महत्व, बहुत शास्त्र पढ़ने और समझने के बाद यही बात रह गयी है। जो कुछ रह गया है वह ये रह गया है, बाकी सब समझ में आता है। सम्यग्दर्शन की व्याख्या करता है, सम्यग्ज्ञान की व्याख्या करता है, चौदह गुणस्थान की व्याख्या करता है लेकिन ज्ञानीपुरुष सामने आये तो पहचाने कि नहीं, यह बात रह गयी है। ऐसी क्षमता, इस प्रकार की योग्यता, इस प्रकार की पात्रता... वह तो परसों लिया था कि ज्ञानीपुरुष ने परमार्थ की बात चाहे जितनी स्पष्ट कही हो या लिखी हो तो भी आज्ञांकितपने ज्ञानीपुरुष के चरण में रहे बिना उसको वह बात समझ में आती नहीं है। ५११ (पत्र) में से ली थी। उसका

अर्थ यह है कि अभी उसने ऐसा रखा है कि मेरे में अभी कुछ ऐसी विशेषता है कि ज्ञानीपुरुष से भी मैं कुछ ज्यादा समझता हूँ। इसीलिये उनकी समझ की अपेक्षा इस जगह मेरी समझ आगे है। इसके बिना ऐसा होता नहीं। ऐसी भूल इसके बिना होती नहीं। यह सीधी सादी बात है। और यही उनकी अभिक्त है। वह ज्ञानीपुरुष की अभिक्त नहीं है परन्तु वह आत्मस्वभाव की अभिक्त है और वह स्वभाव की अभिक्त का फल भी बड़ा है। जैसे स्वभाव की भिक्त का फल बड़ा है, बहुत अच्छा पत्र है यह।

'ज्ञानीपुरुष की कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देने से...' बातचीत में, बोलने में, चलने में, खाने में, पीने में, निद्रा में चलने-फिरने में, गृहस्थी आदि का व्यवहार करने में, व्यवसाय करने में जैसी सामान्य मनुष्य प्रवृत्ति करता है, ऐसे ही सामान्य मनुष्य की भाँति ज्ञानी प्रवृत्ति करते हुये दिखते हैं। एक कारण तो यह है कि उनका जो बाह्य दिखाव है, वह दिखाव और उनकी जो अंतरंग दशा है, इन दोनों के बीच बहुत बड़ा अंतर है। बहुत बड़ा अंतर है इसीलिये उनका जो अंतरंग है वह बाहर में दिखायी नहीं देता, उसका दिखाव बाहर में दिखायी नहीं देता।

'ज्ञानीपुरुष की कितनी ही चेष्टाएँ अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देने से ज्ञानीपुरुष के विषय में विभ्रम बुद्धि हो जाती है,..' ज्ञानी ऐसे होते हैं क्या? ऐसी बात करते हैं तो ज्ञानी ऐसे होते होंगे क्या? इस प्रकार उसे कहीं न कहीं लगता है। वहाँ उसे ऐसा लगता है कि वह बात करते हैं उसकी अपेक्षा उस विषय में मैं उनसे ज्यादा जानता हूँ अथवा समझता हूँ। ऐसा उसका अर्थ अपने आप हो जाता है। 'अथवा जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति उस चेष्टा का विकल्प आया करता है।' ऐसा क्यों बोले होंगे? ऐसा बरताव क्यों किया होगा?

मुमुक्षु:- (भरतजी ने) भाई पर चक्र क्यों चलाया होगा?

पूज्य भाईश्री:- भाई पर चक्र क्यों चलाया होगा? अथवा (रामचंद्रजी) भाई के वियोग में इतने दुःखी क्यों हुये होंगे? एक ज्ञानी ने-क्षायिक सम्यग्दृष्टि ने भाई पर चक्र

चलाया, तो दूसरे क्षायिक सम्यग्दृष्टि ने भाई के पीछे विलाप करने में कुछ बाकी नहीं रखा। इतना विलाप किया है उन्होंने। शास्त्र में ऐसा वर्णन आता है कि उनका विलाप देखे तो पेड़-पौधों को भी आँसू आ जाये, क्या? मनुष्य को तो आँसू आ जाये परन्तु पेड़-पौधों को भी आँसू आ जाये, क्या? पत्थर पिघलने लगे ऐसा कहे। ऐसी कोई चेष्टा देखकर विकल्प आया करे कि ज्ञानी ऐसे होते हैं क्या? रोने लगते हैं? सामान्य मनुष्य भी रिश्तेदार को कुछ हो तो रोता है, ये भी रोते है, इसमें अंतर क्या है? उसको विकल्प रह जाता है कि ऐसा क्यों हुआ? मैंने ऐसा क्यों देखा?

'यदि दूसरी दृष्टियों से ज्ञानीपुरुष का यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्प को उत्पन्न करने वाली ऐसी ज्ञानी की उन्मत्तादि भाव वाली चेष्टा...' कैसी? उन्मत्ता एक वक्त ऐसा लगे कि ये ज्ञानी नहीं है, कोई पागल लगते है। रामचंद्रजी का तो प्रसिद्ध दृष्टान्त है। लक्ष्मणजी को खिलाने-पीलाने की चेष्टा करते है वह उन्मत्त चेष्टा लगे। मुर्दे को कंधे पर लेकर घूमते हैं। (ऐसी) 'उन्मत्तादि भाव वाली चेष्टा प्रत्यक्ष देखने में आये तो भी दूसरी दृष्टि के निश्चय के बल के कारण वह चेष्टा अविकल्प रूप होती है;..' विकल्प आने के बाद उपशम करे ऐसा नहीं, वह चेष्टा अविकल्प रूप होती है।

फिर से, 'दूसरी दृष्टियों से ज्ञानीपुरुष का यथार्थ निश्चय हुआ हो तो...' कैसा निश्चय? यथार्थ निश्चय। बहुत लोग ऐसा कहते हैं कि हमें पक्का निश्चय है, हमें दृढ़ निश्चय है। परन्तु उस दृढ़ता का आधार क्या है? उसकी निःसंदेहता का आधार क्या है? उसके बल का आधार क्या है? यह समझने जैसा विषय है, क्या? यदि उसे यथातथ्य ज्ञानी के स्वरूप की पहचान हुयी हो तो यथार्थता आती है। 'दूसरी दृष्टियों से ज्ञानीपुरुष का यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्प को उत्पन्न करने वाली ऐसी उन्मत्तादि भाव वाली चेष्टा...' उन्मत्तादि भाव वाली कि जो विकल्प उत्पन्न कर दे। ऐसी चेष्टा प्रत्यक्ष देखने में आये। किसी ने कहा और सुना ऐसा नहीं। किसी का सुना हुआ मैं नहीं मानता, मैंने तो कभी ऐसा देखा नहीं। उसने प्रत्यक्ष देखा। ऐसी चेष्टा देखने में आये तो भी दूसरी दृष्टि के बल के कारण। उसको जो यथार्थ निश्चय से बल

उत्पन्न हुआ है, उस बल के कारण वह चेष्टा अविकल्प रूप होती है। इसीलिये उसको विकल्प आता नहीं।

'अथवा...' अब, दूसरी ओर से वही बात करते हैं। तो विकल्प किसको आता है? कि 'ज्ञानीपुरुष की चेष्टा की कोई अगम्यता ही ऐसी है कि...' यह विषय गहन है, गहरा है। सीधा बुद्धि के उघाड़ से गम्य हो ऐसा नहीं है परन्तु पात्रता से गम्य हो ऐसा है। उघाड़ से गम्य हो ऐसा नहीं है। 'ज्ञानीपुरुष की चेष्टा की कोई अगम्यता ही ऐसी है कि अधूरी अवस्था से अथवा अधूरे निश्चय से जीव के लिये विभ्रम और विकल्प का कारण होती है।' अधूरी अवस्था से यानि अपिरपक्व अवस्था से। योग्यता की पिरपक्वता नहीं है, उस प्रकार की क्षमता की पिरपक्वता नहीं है। यानि क्या है कि बुद्धिगम्य है वह अभी अधूरा है, ऐसा कहना है। बुद्धिगम्य रूप से माना हो तो भी वह अधूरा है। वह अधूरा निश्चय है कि जिससे जीव को विभ्रम तथा विकल्प का कारण होती है। उसे कुछ विकल्प रह जाता है, भीतर में उसको शल्य रह जाता है, कुछ शंका रह जाती है, और वह शंका और शल्य कभी-कभी बाहर दिखने में आता है।

'परंतु वास्तिवक रूप में तथा पूरा निश्चय होने पर...' वास्तिवक पहचान हुयी हो, यथार्थ-पक्का पूरा निश्चय हुआ हो तो 'वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं है;...' भले वह ज्ञानी को किसी भी अवस्था में देखे तो भी उसको वह विकल्प अथवा विभ्रम होता नहीं। 'इसीलिये इस जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति अधूरा निश्चय है, वही इस जीव का दोष है।' देखो, इस जीव का दोष किस प्रकार लिया है। उसने भूल निकाली वह दोष तो बाद की बात है, वह तो ख्याल में आ जाये ऐसी बात है कि इसने ज्ञानीपुरुष की यह भूल देखी अथवा ज्ञानीपुरुष को संमत नहीं किया अथवा ज्ञानीपुरुष की अवगणना करी। तो वह तो बाद की बात है। पहली बात यह है कि उसको पहचान हुयी नहीं है। और उसका जो उस विषय का, संमत किया था तो भी वह उसका अधूरा और अपरिपक्व निश्चय था, यही इस जीव का बड़ा दोष है। अनन्तकाल से ऐसा दोष इस जीव में रह गया है। इसीलिये उसने ज्ञानी को ऊपर-ऊपर

से बुद्धि लगा कर संमत किया है, परन्तु यथार्थ रूप से स्वीकार नहीं किया है। यथार्थ रूप से संमत नहीं किया होने से उसका अधूरा निश्चय है, अधूरी अवस्था है। वह भी जीव का एक दोष है ऐसा कहते हैं। अर्थात् ऐसी यथार्थता में, ऐसी पात्रता में मुमुक्षुजीव को आना चाहिये कि जिससे इस प्रकार का दोष निर्मूल हो अथवा नाश हो जाये। नहीं तो इस जीव का दोष है।

अब, थोड़ी और विशेष बात भी करते हैं कि यदि सूक्ष्मता से देखने में आये तो इतनी बात यहाँ अध्याहार है। अथवा विशेष परिचय से अवलोकन करने में आये तो 'ज्ञानीपुरुष सभी प्रकार से चेष्टा रूप से अज्ञानीपुरुष के समान नहीं होते,..' क्या? कुछ फर्क तो पड़ ही जाता है। वह जो कुछ फर्क पड़ जाता है, वह देखने की नजर होनी चाहिये, ऐसा कहना है। इसीलिये ऐसा कहते हैं कि भले ही ऊपर-ऊपर से ऐसा दिखे कि ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष का बरताव (वर्तन) एक समान लगता है। फिर भी 'ज्ञानीपुरुष सभी प्रकार से चेष्टा रूप से अज्ञानीपुरुष के समान नहीं होते,..' ऐसा हो नहीं सकता 'और यदि हो तो ज्ञानी नहीं है ऐसा निश्चय करना यह यथार्थ कारण है;..'

पहले ऐसा कहा कि उसके जैसी चेष्टा दिखती है इसीलिये भूल होती है। तो कहते हैं हाँ, कितनी ही चेष्टाएँ दिखती है। वहाँ ऐसा लिखा कि 'कितनी ही चेष्टाएँ' ऐसी है। 'कितनी ही' (कुछ) शब्द प्रयोग किया है। पूरी-पूरी वहाँ भी नहीं लिखा है। कितनी ही चेष्टाएँ ऐसी है। वह कितनी ही, उसको 'सब' लगती है। उसमें उसको भ्रम होता है। और यहाँ ऐसा कहते हैं कि सब होती नहीं। कितनी ही होती है इसका अर्थ यह है कि सब नहीं होती और यदि हो तो ज्ञानी और अज्ञानी में क्या अंतर होगा? उसमें कोई अंतर होने का कारण रहता नहीं।

'तथापि ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष में ऐसे विलक्षण कारणों का भेद है,..' बस, यह शब्द उन्होंने लिखा है। 'विलक्षण' यानि विशेष प्रकार के लक्षण। सामान्य जो लक्षण होते हैं उससे विशिष्ट प्रकार के लक्षण को यहाँ विलक्षण कहने में आता है। वह कोई एक लक्षण नहीं है। जैसे सोना यानि सोना है। पीला उतना सोना नहीं होता,

वजनदार उतना सोना नहीं होता, चिकना उतना सोना नहीं होता, सोना है वह सोना है, क्या? और चमके उतना भी सोना नहीं होता। वह तो दूसरी धातु, खोटी धातु भी चमकती है। सोना है वह सोना है। ऐसे सोने को पहचानने के लिये उसकी अनेक विलक्षणताओं को पहचानना पडता है। वैसे यहाँ भी उसके अनेक कारण है। इसीलिये 'विलक्षण कारणों' बहुवचन लिया है। 'ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष में किन्हीं ऐसे विलक्षण कारणों का भेद है,..' कोई ऐसे विशिष्ट कारणों का भेद है कि जिसके लक्षण अलग पड़ जाते हैं 'कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानी का किसी प्रकार से एक रूप नहीं होता।' किसी प्रकार से नहीं हो सकता। इतने ऐसे विलक्षण कारण हैं कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानी एक नहीं रहते, एक नहीं होते।

अब एक दूसरा पहलू लेते हैं। 'अज्ञानी होने पर भी जो जीव अपने को ज्ञानी स्वरूप मनवाता हो,..' अपने में (मनवाता हो)। स्वयं को आत्मज्ञान-सम्यग्ज्ञान उत्पन्न नहीं हुआ हो, उस मार्ग से स्वयं अनजान हो फिर भी उस विषय का ज्ञान उसने शास्त्र आदि से या किसी के पास सुनकर, उस विषय का ज्ञान उसको हो सकता है। क्या? 'अज्ञानी होने पर भी जो जीव अपने को ज्ञानी स्वरूप मनवाता हो, वह उस विलक्षणता के द्वारा निश्चय में आता है।' ऐसी विलक्षणता यदि कोई जानता हो तो उसको ख्याल आ जाता है कि ये ज्ञानी नहीं है, परन्तु ज्ञानी रूप में मनवाता है। वह उसको विलक्षण कारण से समझ में आ जाता है।

'इसीलिये ज्ञानीपुरुष की जो विलक्षणता है, उसका निश्चय प्रथम विचारणीय है;..' यह सिद्धांत है। कि कौन से विलक्षण कारणों से ज्ञानी का ज्ञानीपना सिद्ध होता है? कौन से विलक्षण कारणों से ज्ञानी का ज्ञानीपना समझ में आता है, पहचान में आता है? कि ज्ञानी ऐसे ही होते हैं और ऐसा न हो वह ज्ञानी नहीं होते। भले ही वह अपने को ज्ञानी के रूप में मनवाता हो या ज्ञानी जैसी बात करता हो, या वर्तन करता हो। चेष्टा करे, ज्ञानी जैसी नकल करे, कोई बात करे, कुछ भी करे, फिर भी वह ज्ञानी नहीं है। वह कौन से कारणों से ज्ञात हो, उस बात का निश्चय विचारणीय है। क्या

विलक्षणता है यह प्रथम निश्चय विचारणीय है। वह निर्णय कैसा होता है यह प्रथम विचारणीय है। यह पत्र अधूरा रह गया है। बहुत अच्छा पत्र है, परन्तु यही पत्र अधूरा रह गया है। फिर भी कितनी ही महत्वपूर्ण बात इस तीन पॉराग्राफ में आ जाती है, क्या?

'और यदि वैसे विलक्षण कारण का स्वरूप जानकर ज्ञानी का निश्चय होता है 'तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो-जो चेष्टा ज्ञानीपुरुष की देखने में आती है, उसके विषय में निर्विकल्पता प्राप्त होती है,...' भले अज्ञानी जैसी चेष्टा देखे तो भी उसको विकल्प नहीं होता कि ऐसा क्यों? यह विकल्प उसे नहीं आता। वह निर्विकल्प हो गया। एक बार उसने विलक्षण कारणों से ज्ञानी का स्वरूप पहचाना और निश्चय किया, फिर उसको ज्ञानी के विषय में विकल्प ही उत्पन्न नहीं होता, निर्विकल्प हो जाता है। जागृत अवस्था में तो नहीं, परन्तु स्वप्न में भी नहीं होता। ऐसा निर्विकल्प हो जाता है। यह ज्ञानी ही है-यह सत्पुरुष ही है, उस विषय में वह निर्विकल्प हो जाता है।

ज्ञानी अन्याय करे तो? स्वयं को अन्याय करे तो? दूसरे को नहीं, दूसरे को करे उसमें स्वयं को कुछ लेना-देना नहीं है। अन्याय तो ठीक, वह तो सामान्य बात है। परन्तु उसको स्वयं को अन्याय करे तब थोड़ा परीक्षा का काल कठिन हो जाता है। मुझे ऐसा कह दिया? मेरी भूल नहीं थी और मेरा दोष नहीं था और मैं तो निर्दोष था और मुझे दोषित गिना? ज्ञानी के ज्ञान में ऐसी भूल होती है क्या? संसार में तो पूर्वकर्म के कारण अनेक प्रकार के प्रसंग उत्पन्न होते हैं। उसको निर्विकल्पता रहती है कि शंका उत्पन्न होती है? इस पर उसकी समझ की, उसकी पात्रता की, यथार्थता निर्भर करती है।

मुमुक्षु:- विलक्षणता यानि क्या?

पूज्य भाईश्री:- वह विषय थोड़ा ऐसा है, बहुत विशाल विषय है, गहरा भी उतना ही है। हम स्वाध्याय के बाद बैठते हैं उसमें से यह बात उठानी है। उनकी जो अंतरंग दशा और उस अंतरंग दशा के कारण अंतर-बाह्य दशा में जो विलक्षणता है, वह विलक्षणता कैसी-कैसी है, यह समझने-समझाने के लिये वह तैयारी चल रही है। क्योंक उन्होंने अपनी दशा की बहुत बातें की है। जैसे सोने को ऐसे नहीं समझाया जा सकता कि इसको आप सोना कहना, क्या? वह तो कसौटी ऊपर घिस-घिसकर देखने की practice करे।

जौहरी-बाजार के हमारे एक रिश्तेदार ऐसा कहते हैं कि बाजार में बड़ी रकम का कोई माल-पुराने गहने बेचने के लिये आये। एक श्रीमंत व्यक्ति है उसको जरूरत पड़ी है और आज दो-पाँच लाख के गहने बाजार में बेचने को आया है। वह स्वयं जानकार हो (तो उसको) कसकर बारह वान (ताव), तेरह वान, चौदह वान, पंद्रह वान कितना है यह नक्की करने के बाद स्वयं ठगा न जाये इसीलिये दूसरे सराफ को बुलाता है कि यह (गहना) खरीदना है, अपना margin रखकर खरीदना है, क्या? इसका बाजारभाव यह होता है, लेकिन हमें खरीद भाव इतना कम देना है। लेकिन इतना कस आपको बैठता है? तो हम लोग हिस्सेदारी में खरीदते हैं। क्या कहे? आज भी यह धंधा इस रीति से चलता है। दो लोग, तीन लोग इकट्ठे होकर और उसका बराबर मूल्यांकन करते है। उसमें अल्प भी ऊपर-ऊपर से मूल्यांकन नहीं करते। देखो, पूरी जिन्दगी कसौटी पर सोना घिसते आये हैं तो भी दो-तीन लोग मिलकर नक्की करते हैं। मुझे इतना कस बैठता है, आपको कितना बैठता हाँ? क्योंकि सोने पर नहीं लिखा है कि कितना वान है। वह तो मात्र परख का विषय है। और परख में भूल करे तो लेने के देने पड़ जाये, दूसरा कुछ न हो। कम टाँके वाला है, ज्यादा टाँके की गढ़ाई वाला है, यह सब हिसाब रखता है। चारों ओर के पहलू से उसकी कीमत करता है कि इतना कस बैठता है। फिर भी टाँके का कीमत रखकर इतना कस कम करो। इस प्रकार एक लौकिक व्यवहार में भी कीमती वस्तु में इतनी बारीक परख होती है, क्या? तो ये तो अनादि से पता नहीं लगा ऐसी चीज है। और पता लगे तो परिभ्रमण बंद हो जाये ऐसी

चीज है, क्या? शाश्वत आत्मिहत हो ऐसा गंभीर विषय है, क्या? इस विषय को पहचानने के लिये उसके जो विलक्षण कारण है उसे समझना चाहिये और वह समझने के लिये कुछ पात्रता भी आनी चाहिये। मात्र बुद्धि होनी चाहिये इतना ही नहीं, बुद्धि तो सबको है, पात्रता आनी चाहिये। इन दोनों बात का मेल हो और स्वयं का पहचानने का प्रयत्न हो, पहचानने की स्वयं की जिज्ञासा हो, जिज्ञासा ही नहीं, तीव्र जिज्ञासा हो तो पहचान सकता है। इतनी शर्त के बाद यह पहचानने की बात है। ऐसे ही कोई स्पष्ट रूप से कह दे कि बता दे, या बोल दे इसीलिये समझ में आ जाता है ऐसी यह चीज नहीं है, क्या?

स्वाध्याय में भी कितनी ही भावना का विषय कभी-कभी आता है उसका यह कारण है कि ऐसी भावना, आत्महित की भावना ज्ञानीयों और परम ज्ञानियों की भिक्तभाव की-बहुमान की भावना इत्यादि जो प्रकार आते हैं, वह पात्रता को विकसित करने के प्रकार है। ऐसा होते-होते यदि पात्रता विकसित हो जाये तो यह विलक्षणता क्या है उस पर नजर पड़ती है। ये नजर का विषय है, सुनने का विषय नहीं है, समझने का विषय नहीं है, वह नजर का विषय है। इसीलिये स्वयं को उस नजर को विकसित करना है। जब तक नजर विकसित नहीं होती तब तक उस वस्तु पर ध्यान जाता नहीं है। ध्यान अनादि से नहीं गया है, अभी भी यदि वैसी ही स्थिति रहे तो फिर जो कुछ परिभ्रमण की परिस्थिति है उसमें से एक चक्कर भी छूटे ऐसा नहीं है। एक चक्कर भी मिटे ऐसा नहीं है। उतने ही चक्कर बाकी है, अनन्ता-अनन्त। उसका तो विचार करना है, बहुत-बहुत बातें आयेगी। इस पत्र के बाद अब ऐसी कोई बात आयेगी तो हम ध्यान देंगे, दिलवायेंगे कि इसमें विलक्षणता क्या है? इसमें विलक्षणता क्या है? ऐसा, क्या? कभी-कभी बात हुयी है। विलक्षणता की बात कभी-कभी आयी है, परन्तु उस वक्त ख्याल नहीं गया है, तो हम लोग ज्यादा लेंगे।

इसीलिये यहाँ ऐसा कहते हैं कि 'वैसे विलक्षण कारण का स्वरूप जानकर ज्ञानी का निश्चय होता है तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो-जो चेष्टा ज्ञानीपुरुष की प्रवचन-18, पत्रांक-467 (1)

देखने में आती है, उसके विषय में निर्विकल्पता प्राप्त होती है, अर्थात् विकल्प नहीं होता; प्रत्युत ज्ञानीपुरुष की वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेह का कारण होती है।' यानि क्या होता है? निर्विकल्पता होती है, क्या? इतना ही नहीं, प्रत्युत यानि इतना ही नहीं। 'ज्ञानीपुरुष की वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेह का कारण होती है।' कैसे? कि चारित्रमोह का ऐसा तूफान आने पर भी जिसका सम्यग्दर्शन रूपी मूल धर्म, 'दंसण मूलो धम्मो', जिसका सम्यग्दर्शन रूपी मूल धर्म का मूल इतना मजबूत था कि वह चारित्रमोह के और दूसरे भी उदय का तूफान आने के बावजूद मूल में से वृक्ष उखड़ा नहीं, ज्यों का त्यों टिका रहा। जिसका मूल मजबूत रहे वह वृक्ष गिरता नहीं। बाकी के बड़े-बड़े वृक्ष भी गिर जाते हैं और छोटे वृक्ष नहीं गिरते उसका कारण कि उसके प्रमाण में उसके मूल की मजबूती पर उसके टिकने और नहीं टिकने का आधार है। बवंडर आते है कि नहीं? वैसे ज्ञानी के जीवन में भी बवंडर आते है, क्या? और उस बवंडर में स्वयं अपने मूल धर्म से कदापि विचलित होते नहीं हैं। वह बात ली न? कदापि विचलित होते नहीं। मूल का नाश नहीं होता। इसमें आ गया न? ४६५ पत्र में बड़ा पॉराग्राफ-दूसरा पॉराग्राफ है न? इसमें नीचे से पाँचवी line है-'सम्यक्त्व में अर्थात् बोध में भ्रांति प्रायः नहीं होती, परंतु बोध के विशेष परिणाम का अनवकाश होता है, ऐसा तो स्पष्ट दिखायी देता है।' ऐसा बवंडर आये उस वक्त टिकने में पूरी शक्ति का उपयोग करना पड़ता है, आगे नहीं बढ़ सकते हैं, परन्तु उसमें टिके रहना, मार्ग में टिके रहना, मार्ग से विचलित नहीं होना, चलित नहीं होना उसमें उनकी शक्ति का-पुरुषार्थ का उपयोग होता है। वे ऐसी स्थिति में टिक सकते हैं। उस वक्त यदि उनके उस पुरुषार्थ का दर्शन हो, ऐसे बवंडर के कारण भी वे पुरुषार्थ में टिके रहे हैं, यदि उनके ऐसे पुरुषार्थ का दर्शन हो तो उनके प्रति विशेष भक्ति और बहुमान का कारण होता है। स्नेह यानि अनुराग बढ़ जाता है। उस पुरुष के प्रति उसका अनुराग बढ़ जाता है। ओहो, क्या उनका पुरुषार्थ है! ऐसे-ऐसे प्रसंग होने पर भी स्वयं अपने मार्ग से विचलित हुये नहीं है, तो उनके प्रति भक्ति एवं बहुमान बढ़ जाता है, स्नेह बढ़ जाता है, प्रेम बढ़ जाता है। ऐसा कारण बनता है। अयथार्थता के कारण जो चेष्टा

उसको विचलित होने का कारण हो, वही चेष्टा उसको यथार्थता के कारण उसको अधिक बहुमान और भक्ति का कारण होती है, ऐसा है। आधार स्वयं के उपादान पर है। निमित्त वही का वही है, ऐसा।

'प्रत्येक जीव अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी यदि सभी अवस्थाओं में सरीखे ही हों तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है; परंतु वैसा होना योग्य नहीं है।' पुनः कहते हैं कि सभी अवस्थाओं में यदि ज्ञानी और अज्ञानी सरीखे ही हो तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है। जैसे किसी का नाम रखे, लक्ष्मीचंद। भले ही फिर वह निर्धन हो, क्या? वह तो नाम मात्र हुआ। ज्ञानी ऐसा नाम रखा, परन्तु ज्ञानी न हो और अज्ञानी हो तो वह तो नाम मात्र हुआ कि इसका नाम ज्ञानचंद। इसका नाम क्या है? कि ज्ञानचंदजी। ज्ञान तो कुछ है नहीं, वह तो नाम मात्र हुआ। ऐसा कुछ इसमें नहीं है, ऐसा कहना है। 'परन्तु वैसा होना योग्य नहीं है।'

'ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष में अवश्य विलक्षणता होना योग्य है।' अवश्य होती ही है। उनकी भिन्नता-विशिष्टता-विशिष्ट लक्षण होना योग्य ही है। 'जो विलक्षणता यथार्थ निश्चय होने पर जीव को समझने में आती है,..' क्या? वह विलक्षणता कब समझ में आती है? यथार्थ निश्चय होने पर जीव को समझ में आती है। जब तक उसका अधूरा निश्चय हो, अधूरी विचार दशा हो, समझन की अधूरी परिपक्वता हो, अधूरी परिपक्वता न हो तब तक उसको यह बात समझ में आती नहीं है।

मुमुक्षु:- ज्ञानी की जो विलक्षणता है उसको पहचाने तो निश्चय हो।

पूज्य भाईश्री:- तो निर्णय हो। वह विलक्षणता उसको यथार्थ रूप से समझ में आये तो उसको बराबर निश्चय होता है और निश्चय होता है तब से उसको निर्विकल्पता होती है। उसको कोई प्रसंग में, कोई कारण से शंका होती नहीं। 'समझ में आती है।'

'जिसका कुछ स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है।' इस विलक्षणता का थोड़ा स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है इसीलिये कहते हैं। ऐसा कहना है। 'मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष की विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की दशा द्वारा समझ में आती है।' अब, समझ में आने का सामने ज्ञेय क्या है? समझने का उपादान स्वयं का, योग्यता-पात्रता इत्यादि। उसके सामने क्या चीज है? कि ज्ञानीपुरुष की दशा। एक ही माध्यम है। ज्ञानी को पहचानने के लिये ज्ञानीपुरुष की दशा वह ज्ञानी को पहचानने का एक साधन है और उस दशा में रही हुयी जो विलक्षणता है, वह ज्ञानी को अज्ञानी से अलग करती है। इतनी बात है। बहुत व्यवस्थित विचार किया है। (यद्यपि) विचार यहाँ अधूरा रह गया है परन्तु विचार बहुत व्यवस्थित किया है।

'मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष की विलक्षणता...' मुमुक्षुजीव को हाँ, दूसरों को नहीं। मुमुक्षुता के अलावा अन्य किसी की बात तो है ही नहीं। क्या? 'उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की दशा द्वारा समझ में आती है। उस दशा की विलक्षणता जिस प्रकार से होती है, वह बताने योग्य है।' वह विलक्षणता किस प्रकार से होती है वह कहने योग्य है, वह बताने योग्य है। 'एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा, ऐसे दो भाव जीव की दशा के हो सकते हैं।' यहाँ से बात अधूरी रह गयी है। १९४९ का भादों (महिना) है, क्या?

हम लोग ईडर में नोंध करते थे, कोई-कोई पत्र देखना। कोई पत्र प्रसिद्ध नहीं हुये हो ऐसे कोई पत्र देखने की सूची में १९४९ का भादों सुदी ६ के बाद का पत्र देखना। उसके पहले वाला पत्र सुदी ६ का है। उसके बाद का कोई पत्र मिल जाये। अपना उनके स्थान में तो आना-जाना होता है। खंभात से लिखा गया पत्र है, परन्तु उसका दूसरा भाग बाकी रह गया हो। इसमें क्या हो सकता है? एक पन्ना है उस पर पूरी लिखावट आयी होगी। फिर पत्र का-पन्ने का अंतिम छोर आ गया हो, दूसरा पन्ना लिखने को हाथ में लिया हो। यह पहला पृष्ठ मिला है, दूसरा पृष्ठ नहीं मिला होगा।

अपूर्ण हाथ लगने का यह कारण है। जितनी लिखावट है यह देखते हुये पन्ने का एक भाग भर गया है, दूसरा पन्ना हाथ में लिया होगा वह पन्ना घूम गया है। वह पन्ना हाथ में नहीं आया है। ऐसा हुआ है। त्रिभोवन माणेकचंद पर लिखा गया पत्र है।

यह विषय उन्होंने ४७२ पत्र में थोड़ा खोला है, ३९३ पृष्ठ। इसमें भले ही विषय अधूरा रहा है। यहाँ हम अपनी योग्यता अनुसार थोड़ा विचार करते है। एक तो मूलदशा है ऐसा कहा और एक उत्तरदशा है ऐसा कहा। 'ऐसे दो भाव जीव की दशा के हो सकते हैं।'

मूलदशा यानि यहाँ परिणित लेनी है। जो ज्ञानी की मूलदशा, ज्ञानमय दशा है। आत्मज्ञानमय दशा है, जो शुद्ध जीव की परिणित है। उसमें द्रव्य शुद्धत्वरूप परिणमता है। उत्तरदशा यानि उदयाधीन जो परिणाम वर्तते हैं। फिर वह पुरुषार्थ का हो, चारित्र का-राग का हो और सुख (गुण में) दुःख का, आकुलता का हो, इत्यादि परिणाम (होते हैं)। सम्यग्दर्शन तो पूरा हो गया है, उसमें दो भाग पड़ते नहीं, परन्तु ज्ञान में, चारित्र में (पूर्णता नहीं हुयी है)। ज्ञान में उपयोग बाहर जाता है। चारित्र में राग होता है। पुरुषार्थ में उस ओर की चेष्टा और प्रयत्न दिखता है, और सुख की जगह दुःख भी देखने में आता है। इस प्रकार पाँच में से चार मुख्य गुणों की अन्य दशा भी ज्ञानी की दिखने में आती है कि जो ज्ञानी को ज्ञानी रूप में संमत करने न दे। जो ज्ञानी के विषय में शंका को उत्पन्न करे।

सम्यग्दर्शन है वह तो समझना ही मुश्किल है। वह तो ऐसा एक सूक्ष्म परिणमन का प्रकार है कि ज्ञानी के सिवाय ज्ञान में आना मुश्किल है। अज्ञानी को तो इस ज्ञान में आना ही मुश्किल है। इसीलिये उसको कहने और सुनने में कोई समर्थ नहीं है। सम्यग्दर्शन वह इतना सूक्ष्म गुण है, उसका परिणमन इतना सूक्ष्म है कि जिसे कहने, सुनने को कोई समर्थ नहीं है। ऐसी एक गाथा पंचाध्यायी में है। लेकिन वह ज्ञान में आ सकता है। परन्तु वह किसके ज्ञान में आता है? कि उस प्रकार के अनुभवी पुरुष के

ज्ञान में आता है, सर्वज्ञ के ज्ञान में आता है और छद्मस्थ (जीवो में) भी जो साधक आत्माएँ हैं उनके ज्ञान में आता है।

अब, पाँच मुख्य गुणों में जो बाकी के चार गुण है उसकी मूलदशा भी होती है और उत्तरदशा भी होती है। मूलदशा है वह शुद्ध है, उत्तरदशा है वह अशुद्ध है अथवा उसमें विकार है, विकृति है। जैसा स्वरूप है वैसा नहीं है, परन्तु उसका दिखाव उल्टा है, विपरीत दिखाव है। इस बात समझ में आती है। वह बात की अनुभूति है, परिचित है, ख्याल में आये ऐसी है। इसीलिये वह (अज्ञानी) ज्ञानी को ऐसे देखता है कि अरे, ज्ञानी ऐसे कैसे हो सकते हैं? ऐसा तो सबको होता है। इसीलिये उसको ज्ञानी की पहचान नहीं होने का ऐसा एक अटपटा कारण बीच में खड़ा है। उसके ऊपर थोड़ा विशेष विचार किया है वह इस जगह किया है।

३८६ पृष्ठ पर दूसरे पॉराग्राफ की प्रथम पंक्ति है। 'लक्षण से, गुण से, और वेदन से जिसे आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है,..' तीन प्रकार लिये। ज्ञानलक्षण से जिसने ज्ञानमय आत्मा को जाना। मात्र एक ज्ञानगुण वाला नहीं, परन्तु उसके अनन्त स्वभाव है। उसके स्वभाव वाला यानि गुण से अर्थात् स्वभाव से जाना। और मात्र लक्षण से और गुण से समझ में आया इतना ही नहीं परन्तु वेदन से अनुभवगोचर किया। जानने में तीन प्रकार लिया। 'लक्षण से, गुण से और वेदन से जिसे आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है, उसके लिये ध्यान का वह एक उपाय है कि जिससे आत्मप्रदेश की स्थिरता होती है, और पिरणाम भी स्थिर होता है।' आगे, 'लक्षण से, गुण से और वेदन से जिसने आत्मस्वरूप नहीं जाना, ऐसे मुमुक्षु को यदि यह ज्ञानीपुरुष का बताया हुआ ज्ञान हो तो उसे अनुक्रम से लक्षणादि का बोध सुगमता से होता है।' अब क्या है कि ज्ञानी तो ज्ञानी को पहचानते हैं, लेकिन मुमुक्षु कैसे पहचाने? कि मुमुक्षु को जो ज्ञानीपुरुषों ने यदि यह ज्ञान लक्षण से, गुण से और वेदन से-इस प्रकार तीनों बात ली है, क्या? यदि उसे बताया हो तो उसे अनुक्रम से यानि तुरन्त उसी क्षण नहीं, परन्तु कोई विशेष विचार करने पर। अंतर में विशेष मिलान करने पर, उस विषय की गहराई में जाने पर

उसको भावभासन होता है और तब उसको उनका बोध सुगम रूप से होता है। यह पत्र है वह मुमुक्षु के लिये स्वरूप निश्चय का है। उसको यहाँ मुखरस अथवा सुधारस उन्होंने कहा है और उस विषय में थोड़ा विशेष प्रकाश ४७२ नंबर के पत्र में किया है। वह पत्र तो जब आयेगा तब वह विषय लेंगे। परन्तु यहाँ कहने का मतलब इतना है कि जो विलक्षणता कहना चाहते हैं उसके अनेक प्रकार के लक्षण है और कितने ही लक्षण तो बहुत सूक्ष्म है, तो भी उन्होंने जो कुछ प्रसिद्ध बात की है अथवा मुख्य बात की है और जो कुछ समझ में आये ऐसी बात है।

लक्षण से, गुण से और वेदन से आत्मस्वरूप ज्ञात हुआ है ऐसा देखना है। ज्ञानी की मूलदशा में वह बात है कि नहीं? लक्षण का फर्क पड़ता है? स्वभाव का फर्क पड़ता है? या वेदन का फर्क पड़ता है? यदि फर्क पड़ता हो तो वहाँ ज्ञानीपना संभवित नहीं है। यह विषय थोड़ा विशाल है। क्योंकि लक्षण के विषय में दो प्रकार उत्पन्न होते है-एक 'सत्लक्षणम् द्रव्यम्' (अर्थात्) द्रव्य का लक्षण है वह सत् है अर्थात् अस्तित्व है और एक-'उपयोगलक्षणम् जीवो' जीव है वह उपयोग लक्षण वाला है। जीव को पहचानने के लिये सत् लक्षण नहीं है। द्रव्य को पहचानने के लिये सत् लक्षण है और द्रव्य तो छः जाति के हैं। इसीलिये इन छः द्रव्य का सामान्य लक्षण है कि जो हय्याती रखे वह द्रव्य। लेकिन जीव (कैसा)? तो कहते हैं कि जीव हय्याती रखता है ऐसा नहीं, उपयोग में हय्याती आ ही जाती है। क्योंकि हय्याती के बिना उपयोग हो नहीं सकता। 'उपयोग लक्षणम् जीवो' ज्ञानलक्षण द्वारा जिसने आत्मा को पहचाना है, जाना है, और पहचानने और जानने के बाद उसको ज्ञान से वेदन में लिया है और जिसको स्वभाव का वेदन हुआ है। उस विषय की गहराई क्या है, यह प्रकार जब मुमुक्ष अपने में कुछ मिलान करके समझता है, तब वह सामने भी मिलान कर सकता है अथवा सामने कोई उस विषय को कहने वाले अथवा समझाने वाले हो तब वह अपने में अंतर-मिलान करके उस विषय को नक्की करता है-निर्णय करता है कि यह बात बराबर लगती है। अब ज्ञानी होने का संभव है, अन्यथा अनुभव के बिना यह बात हो सकती नहीं।

ऐसा मुमुक्षुजीव कुछ हद तक पात्रता विशेष हो तो ज्ञानी को पहचान सकता है और यदि एक बार पहचान सके तो उसका छुटकारा हुये बिना नहीं रहेगा। वह छूट जाता है। नहीं छूटा है उसका यह एक ही कारण है कि उसने ज्ञानी को माना है लेकिन पहचाना नहीं है। पहचाना नहीं है इसीलिये वह मानना, नहीं मानने के बराबर है। उसमें दूसरा कोई फर्क नहीं है। यह परिस्थित रही है। उस विषय में थोड़ा आगे के पत्र में विशेष लेंगे और हमने तो यह विषय हाथ में लिया ही है, उसमें से तो वह बात उभरकर आ जायेगी। (समय हुआ है)।



प्रवचन-19,

प्रवचन-19, पत्रांक-467 (2)

'विलक्षण कारण का स्वरूप जानकर ज्ञानी का निश्चय होता है...' यदि ऐसे विलक्षण कारण स्वयं को समझ में आते हैं, उन कारणपूर्वक ज्ञानी का निश्चय होता है 'तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो-जो चेष्टा ज्ञानीपुरुष की देखने में आती है,..' उसके जैसी, हाँ, दिखाव ऐसा है। ऐसी जो चेष्टा देखने में आती है 'उसके विषय में निर्विकल्पता प्राप्त होती है,..' शंका होती नहीं, निर्विकल्प हो जाता है कि कुछ भी हो, विचार करने का सवाल रहता नहीं। शंका करने का सवाल नहीं है, विकल्प करने का कोई सवाल नहीं है।

'प्रत्यक्ष ज्ञानीपुरुष की वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेह का कारण होती है।' और निर्विकल्पता प्राप्त होती है उतना ही नहीं, 'प्रत्युत...' यानि उतना ही नहीं, उल्टा ऐसी परिस्थित में, ऐसी विचित्र चेष्टा की परिस्थित में वह चेष्टा उसको विशेष भक्ति और प्रेम का, स्नेह का कारण होती है। बहुमान का कारण होती है कि ओहो, ऐसी विचित्र परिस्थित में भी ज्ञानी ने अपने श्रद्धा-ज्ञान में निज सिद्धपद धारण कर रखा है! सिर पर से धड अलग हो जाये ऐसी स्थित में भी, क्या? अपने मार्ग से चिलत नहीं हुये हैं, अविचिलत रूप से अपने स्वरूप में रहते हैं, ऐसा जो उनका सम्यग्दर्शन का दर्शनबल है, ऐसा जो उनका ज्ञान का स्वसंवेदन बल है वह नमस्कार करने योग्य है। उसको इस तरह बहुमान आता है। उल्टा बहुमान बढ़ जाता है। वह विशेष भक्ति और स्नेह का कारण होती है।

'प्रत्येक जीव अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी यदि सभी अवस्थाओं में सरीखे ही हों तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है;..' वह तो नामनिक्षेप किया कि गुण न हो लेकिन नाम रखना, उसके जैसी बात हो गयी। ज्ञानी नहीं है फिर भी उसका नाम ज्ञानचंदजी रख दिया। भले उसे आत्मज्ञान नहीं है और नाम रखा ज्ञानचंदजी। तो

प्रवचन-19, पत्रांक-467 (2)

उसको बुलाये, ए.. ज्ञानीभाई, थोड़ा इस ओर आना। क्या कहना पडे उसको? नाम से बुलाना पडे। पूरा नाम नहीं बोले तो आधा बोले, क्या? तो उससे कहीं वह ज्ञानी नहीं हो जाता, वह तो नाम मात्र है, नामनिक्षेप है। 'परंतु वैसा होना योग्य नहीं है।' (अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी की) सभी अवस्था सरीखी हो ऐसा होना योग्य नहीं है।

'ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष में अवश्य विलक्षणता होना योग्य है।' यह तो तीनों काल का अफर सिद्धांत है कि ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष के विषय में अवश्य विलक्षणता होना योग्य है जुदाई होती ही है। ज्ञानी के विशिष्ट लक्षण होते, होते और होते ही हैं। 'जो विलक्षणता यथार्थ निश्चय होने पर जीव को समझने में आती है,..' ज्ञानीपुरुष का ज्ञानीरूप में यथार्थ निश्चय होता है, तब ऐसी विलक्षणता के कारण निर्णय हुआ है, निश्चय हुआ है। वह विलक्षणता उसे समझ में आयी होती है। जिसका स्वरूप 'जिसका कुछ स्वरूप...' सर्वथा तो कहा नहीं जा सकता, क्या? देखो! एक-एक शब्द कितने स्वाभाविक रूप से तौल-तौलकर आये हैं! कि 'जिसका कुछ स्वरूप...' (अर्थात्) उस विलक्षणता का थोड़ा स्वरूप। सर्वथा तो वचनगोचर है नहीं क्योंकि वह परिणमन अतीन्द्रिय है। यदि सर्वथा अवक्तव्य हो तो उतना भी न कह सकते कि विलक्षणता है। 'विलक्षणता है' उतना जो कहते हैं उतना भी वक्तव्य तो है कि नहीं? इसीलिये उसका कुछ वक्तव्यपना है। क्या? ऐसा 'कुछ स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है।' यहाँ यानि इस जगह, इस पत्र में।

'मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष की विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की दशा द्वारा समझ में आती है।' वाणी द्वारा समझ में आता है उसके बदले दशा द्वारा समझ में आती है ऐसा कहा। देखा, वाणी में भी उस दशा का प्रतिबिंब झलकता है। थोड़ा फर्क पड़ता है, लेकिन यहाँ वाणी नहीं ली। वाणी की चर्चा ६७९ पत्र में की है कि ज्ञानी की वाणी में ऐसा अंतर होता है। अज्ञानी की वाणी में ऐसा नहीं होता, क्या? वह बात ली है और वह बात भी यथार्थ है। परन्तु यहाँ उस वाणी की बात नहीं ली, उनकी दशा की बात ली है। क्योंकि यहाँ दूसरी चेष्टा के साथ

प्रवचन-19,

बात का विचार करना है कि ज्ञानी की चेष्टा भी ऐसी है, अज्ञानी की भी ऐसी है। अब कैसे पहचानोगे? तो कहते हैं कि उनकी दशा तक नजर जाती है? यदि उनकी दशा पहचान में आये तो ज्ञानी की पहचान हो। ज्ञानी, ज्ञानी की दशा के कारण ज्ञानी है, वाणी के कारण ज्ञानी है ऐसा नहीं है। कोई ज्ञानी ऐसे हो कि जिनको वाणी का योग ही न हो। तिर्यंच को कहाँ वाणी होती है? वाणी का योग ही नहीं होता है। मनुष्य को भी (ऐसा संभवित है), बहुत कम बोलते है, कुछ समझा न सके और कोई बहुत बोलते है, बहुत समझा सकते है (इसीलिये) वाणी पर नहीं गये।

'मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष की विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष की दशा द्वारा समझ में आती है। उस दशा की विलक्षणता जिस प्रकार से होती है, वह बताने योग्य है।' उस दशा में कैसी-कैसी विलक्षणता होती है वह बताने योग्य है अथवा कहने योग्य है, वह प्रदर्शित करने योग्य है कि जिस कारण से ज्ञानी की पहचान होती है। उस दशा पर बात आते ही उनका इस पत्र में एक वचन रह गया है कि 'एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा,..' एक तो जिसे ज्ञानीपना कहते है ऐसी एक ज्ञानी की मूल ज्ञानदशा और दूसरी उत्तरदशा यानि उसके सिवाय बाहर में जिसे मन-वचन-काया की चेष्टा के साथ निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है ऐसी एक उत्तरदशा। उसमें खाना-पीना, बोलना-चलना-फिरना ऐसी अनेक प्रकार से जो औदियक भाव की क्रियायें होती है। वह औदियक भाव उनकी उत्तरदशा है और अनऔदियक परिणाम है वह उनकी, ज्ञानी की मूलदशा है।

अब, उत्तरदशा है वह थोड़े-बहुत अंश में समझ में आती है, पूरी-पूरी समझ में नहीं आती है, परन्तु थोड़े-बहुत अंश में समझ में आती है, क्योंकि उसका परिचय है। वैसा भाव स्वयं को भी अनुभव में आता है। स्वयं क्रोधित होता है तो अपने को कैसे होता है। दूसरे को जब क्रोध आता है तो कैसे होता है। तो ज्ञानी को गुस्सा आया तब कैसा होता है, वह उसको समझ में आता है। इसीलिये इस प्रकार से उसको राग, द्वेष, प्रवचन-19, पत्रांक-467 (2)

मोह, अनेक प्रकार के चारित्रमोह के कषाय के परिणाम उत्तरदशा द्वारा समझ में आते हैं।

उनकी जो मूलदशा है वह दर्शन, ज्ञान, चारित्र की दशा है। वह पुरुषार्थ की दशा है और आत्मिक शांति की दशा है। यह जो मूलदशा है, उनकी परिणति तक कोई जीव पहुँच सके तो उसको ख्याल आता है और ख्याल आता है तब वह ज्ञानी के विषय में निर्विकल्प हो जाता है। उसको शंका होती नहीं, विकल्प उत्पन्न होता नहीं। इतना यहाँ कहना चाहते हैं।

यद्यपि उन्होंने तो स्वयं की मूलदशा और स्वयं की उत्तरदशा सम्बन्धित बहुत उल्लेख अनेक विविध पत्रों में किया है। उस पर से उनकी मूलदशा की पहचान हो सकती है। भले ज्ञानी भूतकाल में हो गये हो तो भी, यदि उनकी दशा सम्बन्धित वचन व्यक्त हो तो, क्योंकि दशा तो अभी यहाँ प्रत्यक्ष रही नहीं, मौजूद नहीं रही, विद्यमान नहीं रही, खुद के सामने तो यदि उनकी उस दशा को व्यक्त करते हुये जो कुछ वचन रह जाते हैं तो उस वचन पर से भी ज्ञानी की पहचान हो सकती है। यह उन्होंने ६७९ पत्र में लिया है।

मुमुक्षु:- सोभागभाई के पत्रों में आता है।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, बहुत बातें आती है, व्यक्त होती है।

पृष्ठ-४०६, पत्र-६७९। 'पूर्वकाल में ज्ञानी हो गये हों,..' नीचे से तीसरा पॉराग्राफ, ४०६ पृष्ठ पर। 'पूर्वकाल में ज्ञानी हो गये हों, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो...' यानि वाणी रह गयी हो। मुखवाणी का अर्थ क्या है? कि उन्होंने जो कहा वही। किसी को उन्होंने कहा उस पर से लिख लिया वह नहीं। उसको मुखवाणी कहते हैं। या तो उनके हस्ताक्षर रह गये हो तो बराबर है कि यह तो उनकी ही बात है, दूसरे की बात नहीं है और या मुखवाणी यानि जो उनके मुख से कहा गया हो उतनी ही

प्रवचन-19, पत्रांक-467 (2)

बात। वही tone, वही शब्द, वही शैली, वही प्रकार। जैसे इसमें रह जाता है tape के अन्दर रह जाता है exact.

मुमुक्षु:- उपदेश नोंध में ऐसा नहीं।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, ऐसा नहीं, उस तरह नहीं। और गुरुदेव का प्रवचन सुनकर बाद में लिखने में आता है। कोई विद्वान हो वह लिख ले और प्रकाशित करने में आये, ऐसे भी नहीं। अथवा जो संकलन किया जाता है ऐसे भी नहीं। क्योंकि उसमें भी शैली बदल जाती है। लिखने की शैली अलग होती है, बोलने की शैली अलग होती है तो उसमें भी tone बदल जाता है, ऐसे भी नहीं। वाणी रह गयी हो, ऐसा नहीं लिखा है, मुखवाणी रह गयी हो। कितनी सावधानी रखी है उन्होंने!

'पूर्वकाल में ज्ञानी हो गये हों, और मात्र उनकी मुखवाणी रही हो तो भी वर्तमानकाल में ज्ञानीपुरुष यह जान सकते हैं कि यह वाणी ज्ञानीपुरुष की है क्योंकि रात्रि-दिन के भेद की तरह अज्ञानी-ज्ञानी की वाणी के विषय में आशय-भेद होता है,..' जो आशय है, ज्ञानी की वाणी में जो आशय है वह आशय अज्ञानी की वाणी में आ सकता नहीं।

अब, एक चर्चा हम करें कि समयसार की ११वीं गाथा है। एक दृष्टान्त लेते हैं। 'भूदत्थमस्सिदो खलु सम्मादिट्ठी हवदि जीवो'। भूतार्थ के आश्रित है वह सम्यग्दृष्टि होता है। 'ववहारोऽभूयत्थो भूयत्थो देसिदो दु सुद्धणओ।' (अर्थात्) सब व्यवहार अभूतार्थ है। एक शुद्धनय भूतार्थ है। जो भूतार्थ के आश्रित होता है वही सम्यग्दृष्टि होता है। (वहाँ) आचार्यदेव का आशय यह है कि सम्यग्दर्शन तो भूतार्थ ऐसे निश्चय आत्मस्वरूप के आश्रय से ही प्रगट होता है। गाथा का आशय यह है। और अज्ञानी भी ऐसा कहे कि यही गाथा का आशय है। तो दोनों में आशय सरीखा हुआ कि नहीं? नहीं। जिसने शुद्धनयपूर्वक आश्रय किया है और उसकी वाणी में आश्रय करने का जो आशय आता है और जो व्यवहारनय के विषयभूत वर्तमान पर्याय का आश्रय करता

है, क्या करता है? दोनों के आश्रय में उल्टा-सुलटा फर्क है। जो व्यवहारनय का विषयभूत ऐसी जो वर्तमान अवस्था यानि उस व्यवहार का जो आश्रय करता है, उसे निश्चय के आश्रय का रस और आश्रय उसकी वाणी में आ सकता नहीं। यह फर्क पड़ता है। वह जोर कहाँ से आयेगा? उसका जोर तो यहाँ जाता है। उसका जोर पर्याय ऊपर जाता है। वह सम्यग्दर्शन की बात करेगा तो भी सम्यग्दर्शन की पर्याय के ऊपर उसका जोर जायेगा। और ज्ञानी सम्यग्दर्शन की बात करेंगे तो सम्यग्दर्शन के विषयभूत ऐसे तत्त्व ऊपर जोर जायेगा। आश्रयभूत तत्त्व पर जोर जायेगा। दोनों के बीच बहुत अंतर है। कितना अंतर है? कि 'रात्रि-दिन के भेद की तरह...' क्या? उसके अन्दर रात्रि-दिन जितना अंतर है, थोड़ा अंतर नहीं है ऐसा कहते हैं। अंधेरे और उजाले जितना फर्क है।

यह अंतर है। यह अंतर तो उतना बड़ा है परन्तु उस विषय की सूक्ष्मता बहुत है। क्या? सूक्ष्मता में यह बात है कि ज्ञानी की वाणी में किस विधि से स्वरूप सन्मुख, अंतर्मुख हुआ जाता है और अंतर्मुख होता है तब जो अनन्त प्रत्यक्ष ऐसा जो आत्मा सामने प्रत्यक्षीभूत होता है, यह जो प्रकार है यह प्रकार, जो अंतर्मुख हुआ नहीं है और जिसको वस्तु प्रत्यक्ष नहीं है, वह कोई परोक्ष चीज को कल्पना में लेकर जिसका विचार करता है, क्या? जिसका उसने मात्र विचार किया है। वस्तु प्रत्यक्ष करी नहीं है, परन्तु मात्र उसका विचार किया है। तो वह विचारमात्र किया है और वस्तु प्रत्यक्ष नहीं हुयी ऐसा प्रकार जो वाणी में आये और वस्तु प्रत्यक्ष होकर जो प्रकार वाणी में आये, उसमें एक में विधि समाविष्ट होती है, एक में विधि आती नहीं है। यहाँ किसका अंतर पड़ता है? जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषय है, pinpoint बात है वह इस जगह है। इस जगह विलक्षणता है।

कल प्रश्न आया था न कि विलक्षणता कैसी होती है? है तो अनेक प्रकार से, परन्तु मूल में इस जगह है कि जो विधि का विषय, जो विधि सहित परिणमन है-जिसका परिणमन विधि सहित है और विधि को स्पर्श करके, विधि में खड़े रहकर जो

विधि का प्रकाश करते हैं, वह विधि से अनजान ऐसा पुरुष उस विधि का प्रकाश नहीं कर सकता। अतः उस विषय का उसने मात्र विचार किया है, इसने (ज्ञानी ने) प्रत्यक्ष किया है। प्रत्यक्ष किया है इतना ही नहीं, प्रत्यक्ष वर्तता है और कहते हैं, उसको बिल्कुल अज्ञान वर्तता है। इसीलिये उसकी वाणी में विधि का विषय आ ही नहीं सकता। कहना हो तो भी कह सकता नहीं, ऐसा वह विषय सूक्ष्म है कि जो उसे ज्ञात हुआ नहीं है, समझ में आया नहीं है, ज्ञान में आया नहीं है, कहेगा कैसे? कहने का संभव नहीं है। कोई परिस्थित है ही नहीं। वह रात्रि-दिन जितना उसके अन्दर अंतर है।

अब, जो मुमुक्षुजीव इस विधि की खोज में है, विधि यानि मार्ग की खोज में है, उसके सामने कोई मार्गप्रकाशक मिलते हैं तो सीधा अनुसंधान होता है और उसको अंतर दिखता है। वह अंतर रात्रि-दिन के अंतर जितना दिखने में आता है, उसमें यह फर्क है। ऐसी एक विलक्षणता है, यह विलक्षणता ज्ञानी, अज्ञानी को किसी भी जगह एकरूप करने देता नहीं।

मुमुक्षु:- इस विषय में अधिक स्पष्टता कीजिये।

पूज्य भाईश्री:- ...हाँ, लेते हैं द्रव्यदृष्टि प्रकाश में से दो-तीन बात विचारणीय है। हिन्दी नहीं है? हिन्दी में आता है ऐसा तो गुजराती में नहीं आता। एक ४४७ नंबर का बोल है। बात तो थोड़ी रुचि की करी है परन्तु उस पर से उन्होंने रुचिवान जीव किस तरह आत्मप्राप्ति करता है, उसका एक असाधारण विषय यहाँ व्यक्त हो गया है।

'रुचि तो उसको कहते हैं कि जिस विषय की रुचि हो उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सके।' उस रुचि को जरूरत के साथ सीधा सम्बन्ध है। जैसे पानी की तृषा लगी हो और अब एक क्षण भी पानी के बिना चले ऐसा नहीं हो, मुत्यु होगी। तो आत्मरुचि किसको कहे? उसका नाम है। हम तो पहले तत्त्व के विषय में रस नहीं लेता था और अब रस लेने लगा है, पढ़ने लगा, सुनने लगा, चर्चा करने लगा, तो

कहेंगे कि उसको रुचि हुयी है ऐसा कहते हैं। कहते हैं कि वह रुचि, उसको यहाँ रुचि नहीं कहते हैं। आत्मरुचि उसे कहे कि 'जिस विषय की रुचि हो उसके बिना एक क्षण भी नहीं चल सके। जैसे पतंगा दीपक को देखते ही चोंट (झपट) जाता है,..' उसको दीपक की रुचि है (इसीलिये) देखा कि उस पर झपट मारता है। इतना विचार नहीं करता है कि मैं उस पर झपट मारुँगा तो मैं ही स्वाहा हो जाऊँगा। उतना भी विचार करने को रुकता नहीं।

'ऐसे ही,..' अब उस पर से बात करते हैं 'विचार... विचार करते रहने से क्या?' विचार, विचार करते रहने से क्या? ऐसा कहते हैं। आत्मा का विचार करता है न? मुमुक्षु जीव आत्मा का विचार करता है कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा आनंदस्वरूप है, आत्मा ध्रुवस्वरूप है, आत्मा अपरिणामी है, अनन्त-अनन्त गुण का निधान है। ऐसा 'विचार... विचार करते रहने से क्या?' जिसको विचार नहीं आता है उसकी चर्चा नहीं करना है, उसका तो इसमें काम ही नहीं है। ये तो जो आत्मा का विचार करता है, उतना ही नहीं, बहुत विचार करता है। बारी-बारी से विचार करता है, रात्रि-दिवस विचार करता है, बारंबार विचार करता है, ग्रंथ के आश्रय से विचार करता है उसको अब एक दूसरी चुटकी भरते है कि विचार...विचार... विचार...आत्मा का विचार करने से क्या?

'वस्तु को ही चोंट जाओ।' विचार मत करो। 'पूरी की पूरी वस्तु में व्याप्त होकर (उसे) ग्रस लो!' यह बात पढ़ते समय दूसरा एक विचार आता है कि वस्तु त्रिकाली और पर्याय एक समय की। यह एक समय की पर्याय त्रिकाली वस्तु का निवाला कर ले, तो वस्तु बड़ी की पर्याय बड़ी! यह कहो। क्या कहना है? निवाला कर लेना वाला बड़ा या निवाला हो जाने वाला बड़ा? अब यह नक्की करो। कि इस जगह पर्याय बड़ी है। वस्तु भले त्रिकाली है और पर्याय भले ही एक समय की है, परन्तु वह एक समय

की पर्याय वस्तु का निवाला कर लेती, पूरी वस्तु का निवाला कर लेती है। शैली कैसी आयी है देखो।

अन्दर व्याप्य-व्यापक भाव से प्रसरकर इस तरह वस्तु का ग्रहण करो कि वस्तु का ग्रास हो जाये, निवाला हो जाये! विचार क्या करते रहते हो? विचार कर-करके क्या करोगे? विचार कर-करके क्या करेगा? ऐसा कहते हैं। क्या करोगे विचार कर-करके?

अब, आगे (४५१ नंबर के वचनामृत में) ऐसा कहते हैं कि ऐसा जो विचार है न? जिसमें आत्मा का विचार करने में आता है, वह जो विचार है न? वह विचार अथवा उस सम्बन्धित जो धारणा है, एक वस्तु नक्की की है कि मेरा आत्मा ऐसा है। ज्ञानस्वरूप है, अनन्त गुणस्वरूप है, अभेद एकरूप वस्तु है। क्या? उस 'विचार और धारणा में वस्तु को पकड़ने की सामर्थ्य नहीं है।' क्या? कैसी बात ली है! जो धारणा करके आत्मा का विचार करता है, उस विचार और धारणा मे वस्तु को ग्रहण करने की, पकड़ने की सामर्थ्य ही नहीं है। इसीलिये अज्ञानी को वस्तु पकड़ में नहीं आती है। 'विचार में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है।' क्या? विचार में वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है। क्या? विचार में वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है। उसमें से अनर्पित यह निकलता है कि जो वस्तु को ग्रहण करता है वह वस्तु को ग्रत्यक्ष करके ग्रहण करता है।

अनुभव प्रकाश में यह शैली है। प्रतीति को प्रत्यक्ष कर-करके स्वभाव का आविर्भाव करता है। अनुभव प्रकाश में से ईडर में थोड़ा विषय लिया था। वह इसमें से निकलता है कि विचार में तो वस्तु परोक्ष और दूर रह जाती है और ज्ञान में सीधी प्रत्यक्ष वस्तु अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान में ग्रहण हो जाती है। उसमें वस्तु दूर नहीं रहती, परन्तु वस्तु स्वयं ही है। स्वयं के रूप में ग्रहण होती है और वह प्रत्यक्ष वस्तु है और उसका प्रत्यक्ष ग्रहण है। यह परिस्थिति वैचारिक भूमिका में नहीं होती।

बाद में ४५४ नंबर के वचनामृत में ऐसा कहते हैं 'सोचते रहने से तो जागृति नहीं होती।' ऐसा कहते हैं, देखो, कितना प्रकाश डाला है! आत्मविचार, आत्मचिंतन पर कितना प्रकाश डाला है कि 'सोचते रहने से तो जागृति नहीं होती। ग्रहण करने से ही जागृति होती है।' अब, यह ग्रहण करना यानि क्या? वह जो कल हम लोगों ने ४७२ पत्र में से एक पंक्ति ली थी कि 'लक्षण से, गुण से और वेदन से...' वस्तु वेदन से ग्रहण होती है। उस वेदन से उसकी चैतन्यमय, ज्ञानमय ऐसी हय्याती, जो अस्तित्व है वह ग्रहण होता है और वह ग्रहण करने में जागृति है, ग्रहण करने से जागृति है, विचार में जागृति नहीं है। यह जागृति अलग चीज है।

'मैं हूँ' ऐसी जो अपनी हाजरी की, मौजूदगी की जागृति वेदन से और लक्षण से जिसे ग्रहण होती है वह बराबर है। 'सोचने में तो वस्तु परोक्ष रह जाती है और ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है।' यहाँ यह बात रखी है 'ग्रहण करने में वस्तु प्रत्यक्ष होती है। सुनते रहने...' से, सुनता ही रहे 'और सोचते रहने से तो वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।' उनका तो इस विषय में इतना निषेध है कि तुझे सुनने का या विचार करने का विकल्प नाम राग उत्पन्न हो वह एक बात है, परन्तु देखना भूल मत करना कि ऐसा करते-करते मुझे लाभ हो जायेगा। साधन मत मानना, ऐसा उसका अर्थ है। उसको विधि के खाते में मत डालना। अन्यथा तेरी साधन की भूल वह तेरी साध्य की भूल हो जायेगी। सीधा गृहीत में आ जायेगा। इसीलिये ऐसा कहते हैं कि 'सुनते रहने से और सोचते रहने से तो वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। (स्वरूप) ग्रहण करने का (अपने स्वरूप को रुचिपूर्वक वेदन करने का) ही अभ्यास शुरू होना चाहिये।' (अर्थात्) लक्षण से, गुण से और वेदन से ग्रहण करने का बारंबर प्रयत्न चालू होना चाहिये। जागृत होकर, जागृति में आकर अपने अस्तित्व को ग्रहण करने का प्रयत्न चालू रहना चाहिये। वह प्रयत्न है वह अनुभव का प्रयत्न है, अनुभवपद्धति से वह प्रयत्न होता है, और उसका फल अनुभव है। पढ़ना, विचार करना, सुनना उसका फल भी अनुभव नहीं है और वह अनुभव की विधि भी नहीं है, वह अनुभव का साधन भी नहीं है। ऐसा है।

यहाँ तो दो घंटा, चार घंटा वांचन करे तो गिनती करे कि आज तो चार घंटा वांचन किया। चार घंटा वांचन किया वह साधन ही नहीं है, ऐसा नक्की कर। एक राग आता है, विकल्प आता है वह दूसरी बात है। बाकी बिल्कुल साधन नहीं है। साधन कोई दूसरी चीज है। दो-तीन बोल में ४४७, ४५१, ४५४ में विषय बहुत खुला है। इस बार इस चर्चा के स्पष्टीकरण के साथ चर्चा छपेगी। थोड़ा स्पष्टीकरण, विशेषार्थ लेने का विचार किया है। वहाँ ईडर में थोड़ी चर्चा चली। (सोगानी के पुत्र ने) तो बहुत बार पढ़ा है, वे कहते थे कि इतनी बार वांचन करने के बाद इस बात का ख्याल तो आता नहीं है। इसका स्पष्टीकरण नहीं आयेगा तो कुछ ख्याल में ही नहीं आयेगा। इसीलिये स्पष्टीकरण करना है।



प्रवचन-20, परमागमसार-756

परमागमसार, ७५६ (वचनामृत) चल रहा है। फिर से शुरूआत से लेते हैं। 'सम्यग्दृष्टि जीव निज शुद्ध भाव द्वारा शुद्ध जीव को निश्चय से जानता है।' सम्यग्दृष्टि जीव का परिणमन कैसा होता है यह बात की है। मात्र पूजा, भिक्त आदि क्रियाएँ करते है इसीलिये धर्मी है या सम्यग्दृष्टि है ऐसी व्याख्या यहाँ नहीं की है। अपने शुद्ध भाव द्वारा शुद्ध जीव को जानने का जो कार्य है अर्थात् शुद्ध भाव से-निर्मल परिणाम से (जानने का कार्य है)। शुद्ध भाव का अर्थ यह है। कषाय रहित निर्मल परिणाम से निज परमात्मपद का अनुभव करना, यह सम्यग्दृष्टि जीव का कार्य है। सम्यग्दृष्टि जीव निरंतर ऐसा कार्य करते है अथवा ऐसा कार्य करते है वह सम्यग्दृष्टि जीव है।

धर्मी जीव किसको कहना? कि निर्मल परिणाम द्वारा-अकषाय परिणाम द्वारा स्वयं का अनुभव करना, जानने का अर्थ यहाँ ऐसा है। स्वयं का अनुभव करना यह सम्यग्दृष्टि का कार्य है। उसमें राग नहीं है। राग से जानता नहीं है और राग से वेदता भी नहीं है, राग से अनुभव भी नहीं करता है। परिणाम में रागांश होने पर भी उसे गौण करके, उसका निषेध करके, उसको एक ओर रखकर। विकल्प तो आत्मा का है तो भी परमात्मा का विकल्प हो, देव-गुरु-शास्त्र का विकल्प हो, शुद्धात्मा का विकल्प हो तो भी उसका निषेध करके, उसकी उपेक्षा करके, उसको गौण करके यानि उसको दबाकर, सीधा ज्ञान से ज्ञान को मुख्य करके, राग की आड़ बिना का ज्ञान आत्मा को जानता है ऐसा कहना है।

राग से कभी आत्मा का अनुभव किया नहीं जा सकता। भले ही वह किसी भी कक्षा का शुभराग हो, ऊँची से ऊँची कक्षा का शुभराग हो तो भी उसके द्वारा आत्मा का स्वानुभव करना शक्य नहीं है। राग आत्मा का अनुभव करने में समर्थ नहीं है, असमर्थ है, वास्तव में तो। राग विरोधी भाव होने से, वीतराग स्वभाव से विरोधी भाव

होने से वह आत्मा के समीप जा नहीं सकता। समीप कौन रहता है? और दूर कौन रहता है? विरोधी है वह दूर रहता है, वह समीप नहीं आ सकता। इसीलिये कहा कि पर से या राग से वह नहीं जानता, परन्तु ज्ञान से जानता है। क्योंकि राग में तो शुद्ध स्वभाव को जानने का सामर्थ्य ही नहीं है। स्वयं मिलन होने से, रागभाव स्वयं मिलन भाव होने से परिपूर्ण पवित्र आत्मतत्व को वह स्पर्श नहीं कर सकता। उसको उसकी स्पर्शना हो नहीं सकती। ऐसा स्वयं का स्वरूप, शुद्ध स्वरूप जिसे भान में है।

'ऐसे भान वाला आत्मा, पर से अस्पर्शित आत्मा-निज भान किये पश्चात् सर्वसंग से विमुक्त होता है।' ऐसे भानपूर्वक विमुक्त होता है। जो कोई आत्मा सिद्धि को प्राप्त हुये, जो कोई आत्मा निर्वाण को प्राप्त हुये, सिद्धपद को प्राप्त हुये वे सर्वसंग विमुक्त हुये। उनको कोई संग नहीं रहा। पहले उनको असंगतत्व का भान हुआ था, उसमें से उन्हें यह दशा प्रगट हुयी हैं। फिर बाहर से फेरफार मुनिदशा में होता है, तब दूसरे मनुष्य का संग भी वह छोड़ता है। कुटुम्ब-परिवार का संग छोड़ता है, मित्रों का संग छोड़ता है, समाज का संग छोड़ता है, सर्व जीवों का संग छोड़ता है। उसको असंगदशा कहते हैं, मुनि की असंगदशा है। फिर शरीर का भी संग छूटता है। कोई जड़ का भी संग नहीं रहता। ऐसा सर्वसंग विमुक्त जो आत्मपद है उसे ध्याते है और ऐसी दशा को महात्मा प्राप्त करते हैं। अपने ही ऐसे स्वरूप का ध्यान करते हैं और उस ध्यान से उनकी सर्वसंग विमुक्त दशा प्रगट होती है। मुक्त दशा प्रगट होने का यह एक ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है।

क्या कहते हैं? कि स्वयं पर से रहित है, रागादि से रहित है। परपदार्थ मुझे स्पर्श नहीं करते। मैं अस्पर्शी आत्मा हूँ। राग का और राग के विषय का स्पर्श इस आत्मा को नहीं है, केवल ज्ञानमय यह आत्मतत्व है। ऐसा स्वयं का भान होने के बाद ऐसी दशा प्रगट होती है। जैसा स्वरूप है वैसी ही दशा प्रगट होने के लिये पहले सम्यग्दर्शन में ऐसा भान उत्पन्न होता है। भान इसीलिये कहा कि भान सदा रहता है। उपयोग भले सदा न रहे, परन्तु भान सदा रहता है।

सम्यग्दृष्टि जीव के परिणाम पर (कृपालुदेव के) एक-दो पत्र बहुत अच्छे है। ज्ञानीपुरुष की, सत्पुरुष की बाह्य प्रवृत्ति शंका का कारण बनती है। सम्यग्दृष्टि कैसे हो सकते हैं? ऐसा होता है न? जैसे सम्यग्दृष्टि दवाई लेते हैं। सम्यग्दृष्टि को जो कुछ पूर्वकर्म का उदय है उस अनुसार उनकी प्रवृत्ति है। इसीलिये निःसंदेह रूप से वह सम्यग्दृष्टि ही है ऐसे वर्तना मुश्किल पड़ता है। निःशंकरूप से! २७२ पत्र था न? निःसंदेह रूप से वर्तन न किया जाये ऐसी स्थिति हो जाये तो मुमुक्षु कैसी दृष्टि रखे? ऐसा एक प्रश्न २७२ में उठाया है। (एक मुमुक्षु) आये थे उनके साथ थोड़ी चर्चा हुयी कि 'जिस महतपुरुष का चाहे जैसा आचरण भी वंदनीय ही है;...' देखो, अंतिम शब्द कौन-सा लिखा है? 'ऐसे महात्मा के प्राप्त होने पर....' मुमुक्षु को निःसंदेहपना न आता हो तो उसे कैसी दृष्टि रखना चाहिये? यह बात समझने जैसी है, विचार करने जैसी है। ऐसा कहकर वह पत्र तो यहाँ समाप्त किया है यह पत्र २४वें वर्ष का है। उसका अनुसंधान ४६७ पत्र में है बहुत अच्छा पत्र है।

'अनादिकाल से विपर्यास बुद्धि होने से और ज्ञानीपुरुष की कितनी ही चेष्टायें अज्ञानीपुरुष जैसी दिखायी देने से...' ऐसा। कितनी ही बाह्य क्रिया ऐसी है कि जैसी ज्ञानी को हो, वैसी ही अज्ञानी को हो। (इसीलिये) 'ज्ञानीपुरुष के विषय में विभ्रम बुद्धि हो जाती है, अथवा जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति उस-उस चेष्टा का विकल्प आया करता है। यदि दूसरी दृष्टियों से ज्ञानीपुरुष का यथार्थ निश्चय हुआ हो तो किसी विकल्प को उत्पन्न करने वाली ऐसी ज्ञानी की उन्मत्तादि भाव वाली चेष्टा प्रत्यक्ष देखने में आये तो भी दूसरी दृष्टि के निश्चय के बल के कारण वह चेष्टा अविकल्प रूप होती है;...' क्या कहते हैं? 'ज्ञानी की उन्मत्तादि भाव वाली चेष्टा...' (अर्थात्) शारीरिक अवस्था की ऐसी अस्वस्थता हो कि जिसमें उन्मत्त जैसा लगे ठीक, इतनी हद ली है। अन्दर में भान वाला है कि चलता कषाय का अंश, रागांश शुभ या अशुभ की स्पर्शना नहीं है। शुद्ध ज्ञानमय आत्मा को यानि मुझे उसकी स्पर्शना नहीं है। शरीर की स्पर्शना नहीं है और बाहर में ऐसी दशा हो जाती है। ऐसा 'प्रत्यक्ष देखने में आये...' प्रत्यक्ष देखने में आये तो भी जो मुमुक्षु को दूसरी ओर के निश्चय के बल से 'वह चेष्टा

अविकल्प रूप होती है;..' (अर्थात्) उसको शंका नहीं होती। ठीक, यह मुश्किल परिस्थिति है।

'अथवा ज्ञानीपुरुष की चेष्टा की कोई अगम्यता ही ऐसी है कि अधूरी अवस्था से अथवा अधूरे निश्चय से जीव के लिये विभ्रम और विकल्प का कारण होती है।' यदि मुमुक्षु को विकल्प का कारण हो तो वह निश्चय अधूरा है, और कोई अपिरपक्व अवस्था में वह निर्णय किया है। 'परंतु वास्तविक रूप में तथा पूरा निश्चय होने पर वह विभ्रम और विकल्प उत्पन्न होने योग्य नहीं है, इसीलिये इस जीव को ज्ञानीपुरुष के प्रति अधूरा निश्चय है, यही इस जीव का दोष है।' ठीक, जो जीव ज्ञानी को पहचानता नहीं है, और ये ज्ञानी है ऐसा निश्चय नहीं कर सकता है, वह तो दोष है, अनादि से उस दोष के कारण ही पिरभ्रमण किया है। परन्तु अधूरा निश्चय किया वह उसका दोष है। शंका हुयी, ऐसी बात ली है।

'ज्ञानीपुरुष सभी प्रकार से चेष्टा रूप से अज्ञानीपुरुष के समान नहीं होते,..' सब समान नहीं होता 'और यदि हो तो फिर ज्ञानी नहीं है ऐसा निश्चय करना यह यथार्थ कारण है;..' यदि दोनों एक समान हो तो फिर कोई प्रश्न नहीं रहता। 'तथापि ज्ञानी और अज्ञानी पुरुष में किन्हीं ऐसे विलक्षण कारणों का भेद है, कि जिससे ज्ञानी और अज्ञानी का किसी प्रकार से एक रूप नहीं होता।' ऐसी कोई विलक्षणता होती, होती और होती ही है।

'अज्ञानी होने पर भी जो जीव अपने को ज्ञानीस्वरूप मनवाता हो, वह उस विलक्षणता के द्वारा निश्चय में आता है।' अब कहाँ भ्रम होता है? कि किसी को ऐसा ज्ञान है कि जिसमें 'यह भी ज्ञानी है' ऐसा भ्रम होता है। तो वह विलक्षणता है उसके द्वारा वह भिन्न पड़ता है। विलक्षणता यानि एक विशिष्ट प्रकार का लक्षण, उसको विलक्षणता कहते हैं। वह दूसरे एक पत्र में विलक्षणता का विषय खोलेंगे। यहाँ तो शब्द ही लिया है। 'इसीलिये ज्ञानीपुरुष की जो विलक्षणता है, उसका निश्चय प्रथम विचारणीय है;..' कि कैसी विलक्षणता हो तो वह ज्ञानी होते है, यह प्रथम विचारणीय

है। बहुत महत्व का यह विषय है। अनादि से जो भूल हुयी है (वह इस जगह हुयी है)। (जीव ने धर्म के नाम पर) बहुत किया है (परन्तु) ज्ञानी को जिस रीति से पहचानना चाहिये उस रीति से उसने पहचान नहीं की है।

'और यदि वैसे विलक्षण कारण का स्वरूप जानकर...' वह विलक्षणता पहचानकर 'ज्ञानी का निश्चय होता है तो फिर अज्ञानी जैसी क्वचित् जो-जो चेष्टा ज्ञानीपुरुष की देखने में आती है, उसके विषय में निर्विकल्पता प्राप्त होती है,..' उसे शंका का विकल्प, संदेह का विकल्प उत्पन्न होता नहीं है। 'प्रत्युत ज्ञानीपुरुष की वह चेष्टा उसके लिये विशेष भक्ति और स्नेह का कारण होती है।' उल्टा ऐसे लिया कि उसको निर्विकल्पता प्राप्त होती है, उतना ही नहीं इसके उपरांत उसको वह चेष्टा विशेष भक्ति का कारण होती है कि ऐसी स्थिति में भी अन्दर भिन्न रहते हैं। दशा को कितनी विकसित करी है कि ऐसी स्थिति में भी अन्दर में भिन्न रहते हैं, आत्मा के भान में रहते हैं! वह चेष्टा उसको भक्ति का कारण होती है। ऐसा लिया है।

'प्रत्येक जीव अर्थात् ज्ञानी, अज्ञानी यदि सभी अवस्थाओं में सरीखे हो तो फिर ज्ञानी और अज्ञानी यह नाम मात्र होता है; परंतु वैसा होना योग्य नहीं है। ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष के विषय में अवश्य विलक्षणता होना योग्य है। जो विलक्षणता यथार्थ निश्चय होने पर जीव को समझ में आती है, जिसका कुछ स्वरूप यहाँ बता देना योग्य है।' वह विलक्षणता कैसी होती है, वह स्वरूप बताना योग्य है यानि मुमुक्षु को जानने योग्य भी है। 'मुमुक्षुजीव को ज्ञानीपुरुष और अज्ञानीपुरुष की विलक्षणता उनकी अर्थात् ज्ञानी और अज्ञानीपुरुष की दशा द्वारा समझ में आती है।' अब, उसको अभ्यास होना चाहिये। दोनों की दशा का उसे अभ्यास होना चाहिये, सूक्ष्म अवलोकन होना चाहिये। अज्ञानता और ज्ञानपना के भावों का उसे परिचय करना चाहिये। ये तो पहचानने का विषय है न। 'उस दशा की विलक्षणता जिस प्रकार से होती है, वह बताने योग्य है।' फिर से लिया है।

'एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा,..' अब यहाँ क्या कहते है? यह पत्र दुर्भाग्य से अपूर्ण छूट गया है। इन लोगों को पूरा पत्र हाथ नहीं लगा है, परन्तु फिर भी यह एक अंतिम पंक्ति लिखी है। उसके अनुसंधान में फिर दूसरी जगह से यह विषय मिलता है कि 'एक तो मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा,..' अब जो ज्ञानी की मूलदशा है और उनकी जो दूसरी उत्तरदशा है, ये दो भेद उसको समझना चाहिये।

मूलदशा में वह शुद्धभाव से शुद्ध आत्मा को जानते है। यह जो अपना बोल चल रहा है न? उसके अनुसंधान में मूलदशा से देखने में आये तो ज्ञानी शुद्धभाव से, शुद्ध जीव को अपने शुद्ध स्वरूप को शुद्ध भाव से, स्वसंवेदन से, वेदन से अनुभवते हैं, जानते हैं। यह उनकी मूलदशा है। उत्तरदशा है वह पूर्वकर्म के उदय के साथ जुड़ा हुआ दशा का एक भाग है। दशा दो भाग में विभाजित हो गयी ऐसा कहते हैं। एक मूलदशा और दूसरी उत्तरदशा। 'ऐसे दो भाग जीव की दशा के हो सकते हैं।' यहाँ से यह पत्र अपूर्ण रह गया है। दो विभाग तो किये न? एक भाग मूलदशा का है और एक भाग उनकी उत्तरदशा का है। दूसरा पत्र है ४८७।

'बुधवार को एक पत्र लिखेंगे, नहीं तो रिववार को सिवस्तार पत्र लिखेंगे, ऐसा लिखा था। उसे लिखते समय चित्त में ऐसा था कि आप मुमुक्षुओं को कुछ नियम जैसी स्वस्थता होना योग्य है, और उस विषय में कुछ लिखना सूझे तो लिखूँ, ऐसा चित्त में आया था। लिखते हुये ऐसा हुआ कि जो कुछ लिखने में आता है उसे सत्संगप्रसंग में विस्तार से कहना योग्य है, और वह कुछ फलरूप होने योग्य है। जितना सिवस्तार लिखने से आप समझ सके उतना लिखना अभी हो सके ऐसा यह व्यवसाय नहीं है।' यहाँ से यह विषय शुरू किया है, व्यवसाय से वह विषय शुरू किया है। 'ऐसा यह व्यवसाय नहीं है।' ऐसा। 'जितना सिवस्तार लिखने से आप समझ सके...' यानि लिखने का जितना विस्तार करे और आप समझ सको 'उतना लिखना अभी हो सके ऐसा यह व्यवसाय नहीं है, और जो व्यवसाय है वह प्रारब्ध रूप होने से तदनुसार प्रवृत्ति होती है, अर्थात् उसमें विशेष बलपूर्वक लिख सकना मुश्किल है।' देखो,

कितने सहज परिणाम में और कितनी सहज प्रवृत्ति में हैं! 'इसीलिये उसे क्रम से लिखने का चित्त रहता है।' अब स्वयं विषय पर आते हैं। इतनी भूमिका का, स्वयं की वर्तमान परिस्थिति का उल्लेख करने के बाद अब लिखते हैं। जो विषय है वह यहाँ से चलता है।

'इतनी बात का निश्चय रखना योग्य है कि ज्ञानीपुरुष को भी प्रारब्ध कर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते, और बिना भोगे निवृत्त होने की ज्ञानी को कोई इच्छा नहीं होती।' ठीका अज्ञानी ऐसा विचार करता है कि पूर्व में भले ही चाहे जैसे अच्छे-बुरे बाँधे हो, उदय में न आये तो अच्छा। उसके पहले जल जाये तो अच्छा। क्या विचार करता है? कि अभी ये सब अनुकूलता है, पुनः ऐसे कोई कर्म उदय में आये और प्रतिकूलता उत्पन्न हो, अनचाही प्रतिकूलता उत्पन्न होती है न? वह नहीं आये तो अच्छा। और ज्ञानी किसे कहते हैं? कि उनको तो यह निश्चय है कि 'प्रारब्ध कर्म भोगे बिना निवृत्ति नहीं होते, और बिना भोगे...' (यानि) भोगे बिना 'निवृत्त होने की ज्ञानी को कोई इच्छा नहीं होती।' ऐसा है। वे तो चाहते हैं कि वह उदय में आये और मेरा पुरुषार्थ बढ़ाकर मैं मेरी साधना में आगे बढूँ। विशेष ज्ञातादृष्टा रहने का जोर करते हैं।

लोग ऐसा देखते हैं कि अरे..रे, बेचारे को प्रतिकूलता आयी। क्या देखते हैं? तीव्र कर्म का उदय आया। तो (ज्ञानी) ऐसा समझते हैं कि मेरे पुरुषार्थ का काल आया! और प्रतिकूलता में भी पुरुषार्थ विशेष हुआ, उसके जैसा दूसरा गौरव कौन-सा हो सकता है? प्रतिकूलता में हारने के बदले, हताश होने के बदले प्रतिकूलता में भी जिसका मस्तक प्रतिकूलताओं के सामने झुकता नहीं, वह तो उसके लिये गौरव का विषय है।

'ज्ञानी के सिवाय दूसरे जीवों को भी कितने ही कर्म है कि जो भोगने पर ही निवृत्त होते हैं, अर्थात् वे प्रारब्ध जैसे होते हैं। तथापि भेद इतना है कि ज्ञानी की प्रवृत्ति मात्र पूर्वोपार्जित कारण से होती है, और दूसरों की प्रवृत्ति में भावी संसार का हेतु है, इसीलिये ज्ञानी का प्रारब्ध भिन्न होता है।' देखो, यह विलक्षणता की जो बात आगे

कही थी उसको अब यहाँ स्पष्ट करते हैं, फिर से। भेद इतना है कि कर्म तो दोनों भोगते हैं। ज्ञानी भी भोगते हैं और अज्ञानी भी भोगते हुये देखने में आते हैं। दोनों जीव कर्म भोगते हुये देखने में आते हैं, तो भी उसमें भेद है, अंतर है ऐसा कहते हैं। कि 'ज्ञानी की प्रवृत्ति पूर्वोपार्जित कारण से होती है,..' वे जो भोगने की प्रवृत्ति में है उसमें मात्र पूर्वकर्म उपार्जित किया है उसका हिसाब (चुकता करते हैं)। लेने वाला आया है उसको हिसाब करके दे देना है। खाता बराबर कर, भाई। हमें लेना-देना नहीं रखना है, अलग हो जाना है। उतना ही उनका हिसाब है, उससे ज्यादा उनको उसके साथ रस नहीं है।

'और दूसरों की प्रवृत्ति में भावी संसार का हेतु है;...' दूसरा जीव प्रवृत्ति करता है उसमें इतने चिकने परिणाम से वह उस प्रवृत्ति में जुड़ता है कि उसको उसमें से नया भविष्य का, नया संसार फलता है। अतः दोनों प्रकार के भोगने वाले जीवों में 'ज्ञानी का प्रारब्ध भिन्न होता है।' उनका भविष्य का कर्मबंधन, अज्ञानी की अपेक्षा से अलग होता है। 'इस प्रारब्ध का ऐसा निर्धार नहीं है कि वह निवृत्ति रूप से ही उदय में आये।' पूर्व में बाँधे हुये कर्म के लिये ऐसा कोई निश्चय नहीं है, ऐसा सिद्धांत नहीं है, नियम नहीं है कि वह निवृत्ति रूप ही उदय में आये। अर्थात् ज्ञानी हो वह सब निवृत्त ही होते हैं, ऐसा कोई नियम नहीं है। ऐसा कहते हैं।

'जैसे श्री कृष्णादिक ज्ञानीपुरुष...' यहाँ श्रीकृष्ण का दृष्टान्त लिया है। 'कि जिन्हें प्रवृत्ति रूप प्रारब्ध होने पर भी ज्ञानदशा थी, जैसे गृहस्थावस्था में तीर्थंकर।' दो दृष्टान्त लिये हैं। किसके ऊपर पत्र लिखा है? ४८७ है। ...अंबालाल लालचंद (पर लिखा गया पत्र है)।

'इस प्रारब्ध का निवृत्त होना केवल भोगने से ही संभव है।' फिर तीर्थंकर का द्रव्य हो, नारायण हो, कोई भी हो। 'कितनी ही प्रारब्ध स्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुष के विषय में उनके स्वरूप के लिये जीवों को संदेह का हेतु हो;..' शंका का कारण हो। वह प्रारब्ध स्थिति के कारण से है। 'और इसीलिये ज्ञानीपुरुष प्रायः जड़मौन दशा

रखकर अपने ज्ञानित्व को अस्पष्ट रखते हैं।' ठीक, 'तथापि प्रारब्धवशात् वह दशा किसी के स्पष्ट जानने में आये, तो फिर उसे उन ज्ञानीपुरुष का विचित्र प्रारब्ध संदेह का कारण नहीं होता।' ऐसा कहकर पत्र समाप्त किया है।

मुमुक्षु:- संदेह यानि क्या?

पूज्य भाईश्री:- संदेह यानि शंका। शंका हो कि अरे, ये ज्ञानी होंगे कि नहीं? ज्ञानी ऐसे होते हैं? ये तो तबीयत बिगड़ती है तब दवाई खाते हैं। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य से भिन्न है, रागादि से भी आत्मा भिन्न है, अस्पर्शी है फिर भी दवाई लेते है, दवाई असर करती होगी न? दवाई असर न करती हो तो बेचारे दवाई वाले का व्यापार बंद हो जायेगा, ऐसा कुछ नहीं है। जगत में अनन्त जीवों की मान्यता बदलने वाली ही नहीं है। दवाई से लाभ होता है, ऐसी मान्यता अनन्त जीवों की बदलने वाली ही नहीं है, रहने वाली ही है। फिर भी वस्तुस्थिति कुछ बदलने वाली नहीं है। वस्तुस्थिति जो है सो है।

एक बहुत विशेष बात यह लिखी है-जैसे निवृत्ति रूप ही उदय आये ऐसा कहीं बनता नहीं। तीर्थंकर अवस्था में गृहस्थ है, तीन ज्ञान लेकर तो जन्म हुआ है। सम्यक् मितज्ञान, सम्यक् श्रुतज्ञान और सम्यक् अवधिज्ञान-सुअवधिज्ञान है। तत्पश्चात् करोड़ों पूर्व पर्यंत राजपाट में होते हैं। चौरासी लाख पूर्व का आदिनाथ भगवान का आयुष्य था। ८३ लाख पूर्व गृहस्थ अवस्था में रहे हैं और फिर एक लाख पूर्व में मुनिपना धारण करके केवलज्ञान की प्राप्ति करी। ८३ लाख पूर्व गृहस्थ अवस्था में रहे। कितना लंबा! जैसे अन्य राजा राज करते है वैसे ही उन्होंने राज किया। चेष्टा में तो दूसरा कोई फर्क नहीं पड़ता। ऐसा ही कोई प्रारब्ध लेकर आये हैं, ऐसी ही प्रवृत्ति में होते हैं। फिर भी अन्दर में, अन्दर की मूलदशा अलग है और उत्तरदशा अलग है।

'कितनी ही प्रारब्ध स्थिति ऐसी है कि जो ज्ञानीपुरुष के विषय में उनके स्वरूप के लिये जीवों को संदेह का हेत् हो;..' ऐसी ही कोई प्रवृत्ति होती है कि दूसरे जीवों

को शंका का कारण होती है। ज्ञानी को उसमें आश्चर्य नहीं होता है कि ये दूसरे जीव मुझे क्यों नहीं समझते है? अथवा क्यों विरोध करते हैं? मेरे से विपरीत चलते हैं? ऐसा उनको आश्चर्य होता नहीं है। क्योंकि ऐसी जो ज्ञानी की दशा वह तो ज्ञानी का अंतरंग है। अंतरंग को तो कोई ही महाभाग्य जीव समझ सकता है। जो बहुत पात्रता वाला जीव होता है ऐसा कोई महाभाग्य जीव होता है वही उनके अंतरंग को समझता है। इसीलिये दूसरे क्यों नहीं समझते हैं, यह प्रश्न उनको नहीं रहता।

स्वयं ऋषभदेव भगवान तीर्थंकर अवस्था में विराजमान हैं तो भी मरीचि उनका विरोध करता है! और उनकी तो प्रगट अवस्था ऐसी थी कि उनकी दशा के विषय में कोई शंका का स्थान न रहे कि ये परमात्मा है कि नहीं? सर्वज्ञ है कि नहीं? ऐसे ३४ प्रकार के अतिशय तो प्रगट होते हैं। तो कहते हैं, मायाजाल है, यह तो मायावी है, लोगों को भ्रमित करने के लिये सब माया की है। वह सब उनकी जादुगरी मैं जानता हूँ, ठीक। ऐसा कहे, कहीं से भी उल्टा चलना हो तो जीव को कोई रोक सकता है?

मुमुक्षु:- ...

पूज्य भाईश्री:- नहीं, वह तो समवसरण के बाहर विरोध करते थे। तीर्थंकर का विरोध समवसरण के अन्दर कोई नहीं कर सकता। उतना पुण्य होता है कि अन्दर बारह योजन में तो विरोध नहीं कर सकता। लेकिन बाहर जाकर विरोध करते थे। उस वक्त विरोधी नेता बन गये थे। वह तो समाधान का विषय है कि यदि तीर्थंकर, तीर्थंकर पद में विराजमान हो तो भी उनका विरोध संभवित है। देखो, पुण्यप्रकृति वहाँ पूर्ण नहीं है। क्या है? पुण्यप्रकृति अधूरी है, उतनी पूर्ण नहीं है। अन्यथा तीर्थंकर के पुण्य यानि उत्कृष्ट है। चक्रवर्ती और इन्द्र तो उनको नमन करते हैं। अतः उनके पुण्य में कोई कमी नहीं है। फिर भी पुण्य किसी को पूरा नहीं होता। आगे एक बोल आ गया न? पुण्य किसी को पूरा नहीं होता। आगे एक बोल आ गया न? पुण्य किसी को पूरा नहीं होता। ज्ञान पूर्ण हो सकता है, पुण्य पूर्ण नहीं हो सकता। तीर्थंकर का-पूर्ण परमात्मा का विरोध होता हो तो छद्मस्थ का विरोध हो उसमें क्या नवीनता है? कि उसमें कुछ भी नवीनता नहीं है।

(जीवों को) 'शंका का हेतु हो; और इसीलिये ज्ञानीपुरुष प्रायः जड़मौन दशा रखकर...' कुछ भी स्पष्टीकरण नहीं करके 'अपने ज्ञानित्व को अस्पष्ट रखते हैं।' स्पष्ट नहीं करते। उसे ऐसा नहीं कहते हैं कि मैं ज्ञानी हूँ और तू मुझे क्यों स्वीकार नहीं करता है? क्यों मेरी अवज्ञा करता है? अवगणना करता है? ऐसा ज्ञानी कभी नहीं कहते। उसके लिये अस्पष्टता रखते हैं। ठीक, फिर भी 'प्रारब्धवशात्...' यानि कोई महापात्र जीव को। प्रारब्ध का अर्थ यहाँ पात्रता लेना। 'वह दशा किसी को स्पष्ट जानने में आये, तो फिर उसे, उन ज्ञानीपुरुष का...' किसी भी प्रकार का 'विचित्र प्रारब्ध संदेह का कारण नहीं होता।' इस प्रकार, उसको यदि उनका मूल स्वरूप-मूलदशा जो जानने में आये तो उनकी उत्तरदशा उसको शंका का कारण नहीं होती, ऐसा है। ज्ञानी की मूलदशा से उनकी पहचान करने का विषय हुआ। दोनों पत्र बहुत अच्छे हैं।

उनके पत्रों की कितनी ही बातें ऐसी है कि अन्य कहीं देखने न मिले। साहित्य में ढूँढने जाओ तो इस प्रकार से, इस दृष्टिकोण को-जो खास पहलू को खोला है, उसका पहलू खोला है वह देखने मिलना मुश्किल है। ऐसे कितने ही पहलू है। स्वयं के निर्मल श्रुतज्ञान से उन्होंने खोला है। जैसे कि अस्तित्व का ग्रहण लिया है वह ऐसी बात ली है कि ऐसे आँगन में आकर घर में आता है। आँगन में आता नहीं, उसको घर में आने का प्रश्न नहीं रहता। यह तो ऐसा आँगन है कि आँगन में आये वह घर में आये ही आये। ऐसा करके अस्तित्व ग्रहण की बात ली है।

मुमुक्षु:- ज्ञानी की मूलदशा तो बहुत स्पष्ट नहीं हुयी।

पूज्य भाईश्री:- यह तो विषय ही बहुत अभ्यास का है। उनकी जो अन्दर की परिणित चलती है वह उनकी मूलदशा है। तीन-चार दिन पहले यहाँ थोड़ी चर्चा हुयी थी कि यह विषय अभी इतना ही अनजाना है जो अध्यात्म का पेट है-अध्यात्म का हृदय है। क्योंकि उपयोग है उस अनुसार प्रवृत्ति होती है। और उपयोग और उपयोग अनुसारिणी प्रवृत्ति जीव को बुद्धिगोचर है। क्योंकि स्वयं का उपयोग चलता है तो उसे समझ में आता है कि मुझे यह विचार आया, मुझे यह विचार आया, मुझे यह विचार

आया। अभी मेरा उपयोग शास्त्रवांचन में चलता है। तो स्वयं के उपयोग को स्वयं समझ सकता है। उस उपयोग अनुसारिणी वचन की, काया की प्रवृत्ति को भी स्वयं समझ सकता है। इसीलिये उपयोग का विषय बुद्धिगोचर पूर्वक अनुभवगोचर है। जबिक परिणित का विषय अनुभवगोचर होने पर भी बुद्धिगोचर नहीं है। यह तकलीफ है, क्या?

जैसे कि स्वयं की ही परिणित। जो परिणित ऐसी है कि जिसमें विरुद्ध निश्चय पड़ा है। जो परिणित में, राग में अस्तित्व ग्रहण हो गया है। (ज्ञानी को) जो परिणित में स्वरूप में अस्तित्व ग्रहण हो गया है, उस परिणित को कभी पकडा? क्योंकि उसे बुद्धिगोचर करने के लिये उस विषय में कभी भी वह गहराई में नहीं गया है। जैसे अज्ञानी की उस परिणित के विषय में गहराई में नहीं गया है, तो ज्ञानी की परिणित तो उससे भी सूक्ष्म है कि जो सूक्ष्मातिसूक्ष्म स्वभाव को ग्रहण करके प्रवर्तती है। इसीलिये अध्यात्म का विषय इतना ज्यादा स्पष्ट होने के बाद भी यह विषय तो उतना ही अस्पष्ट रहता है कि जो वास्तव में ज्ञानी की अध्यात्मदशा का मूल है, वास्तव में तो वह उनकी मूलदशा है। बाकी तो उत्तरदशा है। श्रीमद्जी की भाषा में कहें तो ज्ञानी शास्त्र पढ़े या ज्ञानी पूजा-भक्ति करे या कोई भी शुभ प्रक्रिया करे वह तो उनकी उत्तरदशा है। अशुभ या शुभ, दोनों उनकी उत्तरदशा है, वह उनकी मूलदशा नहीं है। ऐसी दशा तो अज्ञानी की भी देखने में आती है। इसीलिये उस विषय को समझने के लिये उसमें गहराई में उतरने का प्रयत्न और अभ्यास चाहिये। तो कहीं यह तत्व पकड़ में आये ऐसा है। अन्यथा उपयोग की बातों में तो उत्तरदशा होने के कारण कुछ हाथ लगने वाला नहीं है।

मुमुक्षु:- इसका अर्थ यह हुआ कि पहले उसे अपनी परिणति को जाँचना चाहिये।

पूज्य भाईश्री:- हाँ, उसको स्वयं को अभ्यास तो करना चाहिये न। अपने चलते परिणमन का अभ्यास तो करना चाहिये न। नहीं तो अनुभव का विषय (पकड़ में नहीं

आयेगा)। क्योंकि वह तो केवल अनुभव का विषय है। परिणित है वह बुद्धि का विषय नहीं है परन्तु अनुभव का विषय है। तो उसे बुद्धिगम्य करने के लिये तो अनुभव को जाँचना ही पड़ेगा। अनुभव को जाँचे तो उसमें से जो कुछ बुद्धिगोचर अंश है वह बुद्धिगोचर होता है। पूर्ण रूप से तो बुद्धिगोचर नहीं होता, परन्तु बुद्धिगोचर अंश है वह बुद्धिगोचर हो ऐसा विषय है। इसीलिये उसमें जो बुद्धिगोचर अंश है वह वेदन का विषय है। ये वेदन पकड़ में नहीं आता है न? वेदन है वह बुद्धिगोचर अंश है। अतः ज्ञानी को ज्ञानदशा में उनकी परिणित में जो वेदन है वह उनको बुद्धिगोचर है। अनुभवगोचर भी है और बुद्धिगोचर भी है कि जिससे वह बुद्धिपूर्वक रागादि का निषेध करते हैं। विषय इतना सूक्ष्म पड़ता है कि वह सूक्ष्म विषय होने के कारण चर्चा में लाना मुश्किल पड़ता है।

यहाँ कहते हैं कि जो अंतर में सर्वसंग से विमुक्त आत्मा का भान करता है, वह भान करके ऐसे सर्वसंग विमुक्त आत्मा को ध्याता है वह क्रमशः अल्पकाल में सर्वसंग विमुक्त होता है। उसकी दशा निर्वाण के पात्र होती है। ''मैं सर्व संग से विमुक्त हूँ', प्रथम ऐसी दृष्टि होने पर ही पर्याय में सर्वसंग, विमुक्त होता है।' लेकिन अभी जो राग और राग के विषय की पकड़ करे अथवा जिसका लक्ष्य पर से हट नहीं सकता, उसका लक्ष्य राग से हटने का तो प्रश्न नहीं रहता। जिसका लक्ष्य राग के विषय रूप जो परद्रव्य है उस पर से हट नहीं सकता, उसका लक्ष्य राग से हटने ही नहीं सकता।

बंध अधिकार में विषय चला है। कुन्दकुन्दाचार्यदेव को न्याय तो यहाँ वह देना है कि यह जीव रागादि का अकर्ता है उसका एक सबूत है कि भगवान सर्वज्ञ तीर्थंकरदेव की वाणी में प्रतिक्रमण और पच्चखाण का उपदेश आया है। क्या? कि परद्रव्य त्याग करने योग्य है और उसका प्रतिक्रमण और पच्चखाण द्रव्य से और भाव से करना योग्य है। तो भाव तो रागादि भाव वह भाव है और द्रव्य है वह उसका विषय है। और द्रव्य से पच्चखाण किये बिना भाव से पच्चखाण नहीं होगा। ऐसा वहाँ न्याय दिया है। कोई ऐसा कहे कि इसीलिये तो हम पहले त्याग करते हैं। बाद में हमारा भाव

मुड़ जायेगा। परन्तु गुरुदेव ने अर्थ किया है, यह वे ही कर सके ऐसा अर्थ है, कि परद्रव्य पर के लक्ष्य का त्याग होने से रागादि का त्याग होगा। ऐसा कहना है। अब, यह लक्ष्य है वह परिणित का विषय है। देखो, यह ध्यान खींचने जैसा विषय है। अब, जहाँ-जहाँ यह विषय आयेगा वहाँ हम चर्चा करेंगे। परिणित का विषय जिस-जिस जगह आयेगा वह (चर्चा में लेंगे)।

ये लक्ष्य है न? परपदार्थ ऊपर जो लक्ष्य रहा करता है वह जीव की परिणित है। मिथ्यादृष्टि जीव की भी वह परिणित है। फिर उपयोग तो क्वचित् कभी कोई द्रव्य का, तो कभी क्वचित् कोई द्रव्य का, कभी कोई द्रव्य का होता है। परन्तु उसका लक्ष्य सदा परद्रव्य के ऊपर है, वह उसकी परिणित है।

मुमुक्षु:- यहाँ शास्त्र वाचन में बैठे हों तब भी?

पूज्य भाईश्री:- तो भी उसका लक्ष्य परद्रव्य पर है। शास्त्र वाँचन में बैठा हो तब तो ठीक, परन्तु आत्मा का ध्यान करने बैठा हो तब भी। आत्मा का चिंतवन करता हो ध्यान में बैठकर 'मैं एक, शुद्ध, सदा अरूपी, ज्ञानदृग हूँ यथार्थ से।' उसको पूछते हैं कि तेरा लक्ष्य कहाँ है? ऐसा है। नहीं तो उपयोग हो जाये। लक्ष्य वाले को ध्यान जमता है-आत्मलक्ष वाले को ध्यान जमता है उसका कारण क्या है? कि उनको उपयोग होने में देर नहीं लगती, उसके पीछे परिणित है। परिणित है, उस परिणित में निवृत्ति के काल में, स्वरूप चिंतवन के काल में ज्ञान में स्वरूप का ग्रहण उग्र होने पर, परिणित उग्र होने पर उपयोग भी स्वाकार दशा रूप परिणमता है। स्वरूपाकार उपयोग होता है परन्तु परिणित है इसीलिये होता है। परिणित न हो और किसी को उपयोग हो जाये, ऐसा किसी को नहीं होता।

थोड़े दिन पहले कुछ भाईओं के साथ चर्चा हुयी थी। वहाँ ऑफिस में बैठे थे न? कि इस तत्त्वज्ञान की विचारधारा में आने वाले जीव भी ऐसा विचार करते हैं कि हमारा उपयोग निर्विकल्प हो तो अच्छा। सम्यग्दर्शन के काल में उपयोग निर्विकल्प

होता है न? इसीलिये सहज ही ऐसी इच्छा रहती है कि अपना उपयोग निर्विकल्प हो जाये तो सम्यग्दर्शन हो जाये। परन्तु उपयोग निर्विकल्प कहाँ से होगा? परिणित में आये बिना उपयोग निर्विकल्प होने का प्रश्न रहता नहीं। उस परिणित के विषय से तो बिल्कुल अनजान है। वह विषय तो आज भी अपने यहाँ चर्चा में नहीं आता। विद्वानों में, मुमुक्षुओं में वह विषय अभी चर्चित नहीं होता कि यह परिणित क्या चीज है? क्योंकि वह जितना अनुभवगोचर है उतना बुद्धिगोचर जीवों को नहीं होता।

मुमुक्षु:- बिना भावना कैसे होगा?

पूज्य भाईश्री:- भावना की तो क्षित है ही, परन्तु उसका अन्वेषण जो है, जिसे अंतरखोज कहें, उसका वह पहले विषय होता है। बिना भावना के तो अंतरखोज होती नहीं। भावना में तो ठगाता भी है कि भावना है इसीलिये तो इतना-इतना करते हैं। इतना-इतना करते हैं वह क्या बिना भावना के किया? मुमुक्षु होकर कुछ तो करता है कि नहीं? तो बिना भावना के? नहीं, नहीं, अपनी भावना तो है। परन्तु उस भावनापूर्वक उसकी अंतरखोज चलनी चाहिये। यहाँ से उस विषय की सूक्ष्मता में और विषय की गहराई में जाना चाहिये। ७५६ (समाप्त) हुआ।

